चित्‌शक्ति विलास

स्वामी मुक्तानन्द

चित्शक्ति विलास

चित्‌शक्ति विलास

स्वामी मुक्तानन्द परमहंस

गुरुदेव सिद्धपीठ
गणेशपुरी

© १९७० गुरुदेव सिद्धपीठ, गणेशपुरी
सर्वाधिकार सुरक्षित

मुखपृष्ठ और सज्जा :
फेअरडील पब्लिसिटी
१०४, अपोलो स्ट्रीट,
बम्बई ४०० ००१

मुद्रक :
प्र० पु० भागवत
मौज प्रिंटिंग ब्यूरो
खटाववाडी, बम्बई ४०० ००४

प्रकाशक :
गुरुदेव सिद्धपीठ
गाँवदेवी–गणेशपुरी ४०१ २०६
पोस्ट : गणेशपुरी
जि० थाना (महाराष्ट्र)

प्रथम संस्करण :
वैशाखी पूर्णिमा
मई १९७०

द्वितीय संस्करण :
अप्रैल १९७२

तृतीय संस्करण :
नवम्बर १९७७

पुनर्मुद्रण :
अप्रैल १९८१

मूल्य :
पन्द्रह रुपया

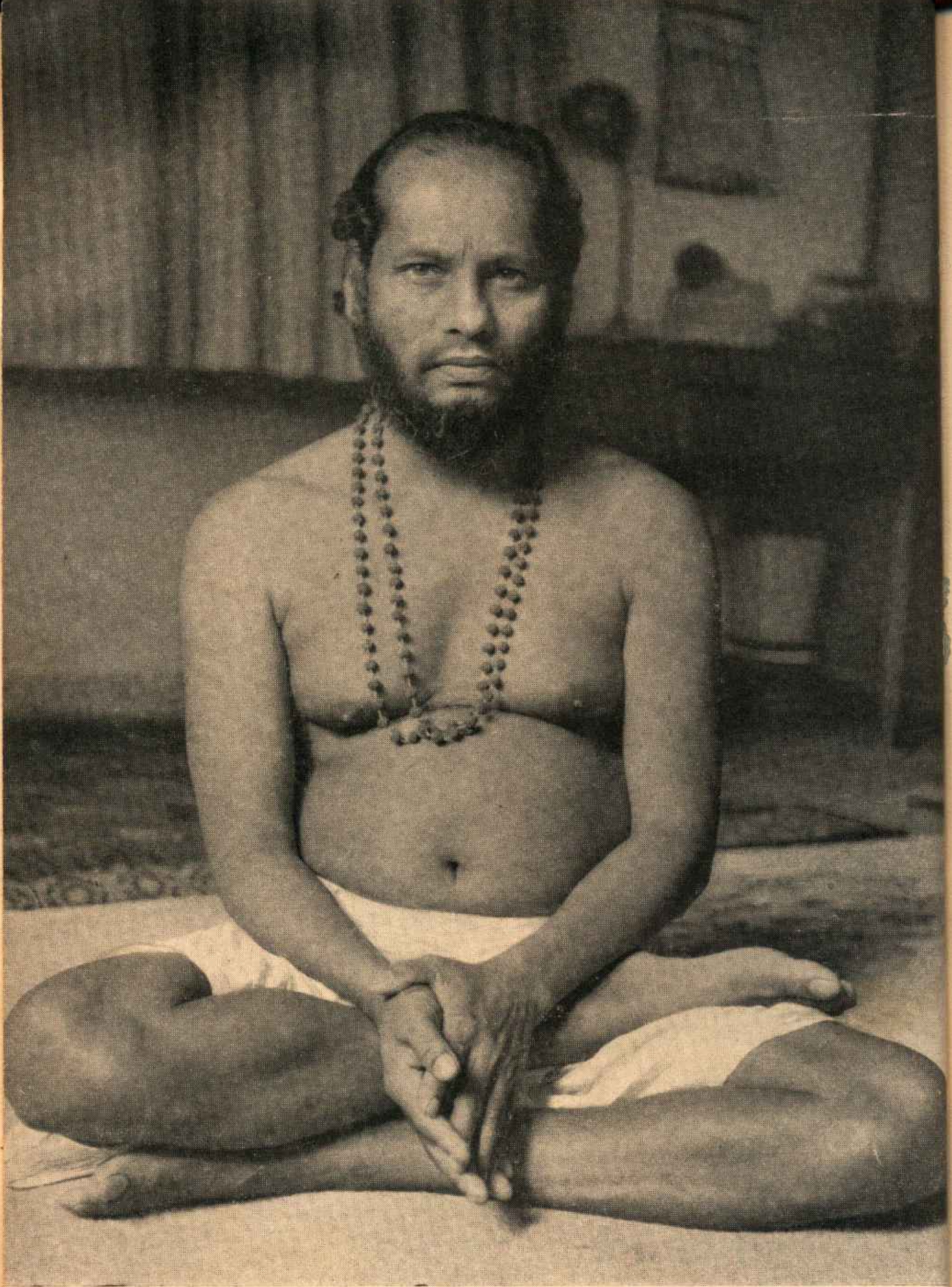

स्वामी मुक्तानन्द परमहंस

प्रस्तावना

पिछले साल गर्मी के दिनों में पूज्य गुरुदेव मुक्तानन्द बाबा के साथ मनोरम पर्वतमाला से घिरे हुए श्रीक्षेत्र महाबलेश्वर जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जाते समय गुरुदेव ने कहा, "अम्मा, कुछ कोरे कागज़ साथ में ले लेना, 'मुक्तेश्वरी' का दूसरा भाग वहाँ पूर्ण कर देंगे।" महाबलेश्वर पहुँचते ही तीसरे दिन बम्बई से हमारे आश्रम के सेक्रेटरी श्री केशव देसाई जी का संदेशा आया कि 'दीपलक्ष्मी' मासिक पत्रिका के 'स्वामी मुक्तानन्द परमहंस विशेषांक' के लिये गुरुदेव से कुछ लिखने की प्रार्थना करना। हमारे आग्रहवश गुरुदेव कुछ लिखने बैठे। परिणामस्वरूप 'मुक्तेश्वरी' के लिये लाये गये कागज़ पर इस अप्रतिम ग्रन्थ का निर्माण हुआ। प्रथम एक छोटे लेख के रूप में आरंभ होते हुए उसने एक ग्रन्थ का रूप धारण कर लिया। भगवान शिवजी का उल्लासमय क्षेत्र, वातावरण शांत, हवा ठंडी, भक्तों की भीड़ नहीं, आश्रम की देखभाल की चिंता नहीं—यह सुयोग मिलते ही श्रीगुरुदेव की लेखनी ने गति पकड़ ली और बाईस दिनों में ही यह अद्वितीय ग्रन्थ पूर्ण हुआ। गुरुदेव के बारे में ऐसा ही है, एक बार अन्तःस्फूर्ति आयी कि उसका वेग रुके नहीं तब तक कार्य चालू रहेगा।

सुबह सूर्य उदित होने से पहले, पक्षीगणों का गान सुनते ही गुरुदेव एक घण्टे के लिये जंगल की ठंडी हवा में घूमने निकल जाते थे। बादलों के बीच कुछ समय बैठके नयी अन्तःप्रेरणा लेकर वापस आकर लिखने बैठ जाते थे। दर्शनार्थियों को शाम को आधा घण्टा सत्संग के लिये देते थे और नित्य दैनिक कर्म के अलावा छह-सात घण्टे लिखते थे। दोपहर में प्रसाद लेने के बाद हमारे प्रिय गुरुबन्धु प्रोफेसर जैन द्वारा गुरुदेव का लिखा हुआ पढ़ा जाता था। हररोज़ भक्तगण उत्सुकता से इस समय की प्रतीक्षा करते रहते थे। सब के मन में सिद्धयोग का वही रहस्यमय विषय चलता रहता था। गुरुदेव के दिव्य अनुभव सुनकर सब आश्चर्यमुग्ध होकर वही बात करते हुए उसी में ही लीन हो जाते थे, मानो श्रीगुरुदेव में ही समरस हो जाते थे। इस प्रकार गणेशपुरी की गर्मी से बचने के लिये श्रीगुरुदेव को महाबलेश्वर ले जाने का श्री योगेन्द्र त्रिवेदी जी ने जो अनुरोध किया, उसके सुन्दर फलरूप यह ग्रन्थ हमें मिला।

कई बार अपनी साधना के विषय में कुछ लिखने का आग्रह करने पर श्रीगुरुदेव

मौन रहते थे, लेकिन इस समय सिद्धविद्यार्थीवत्सल गुरुदेव ने कृपा करके इस 'चित्शक्ति विलास' ग्रन्थ में अपनी साधना के अनुभवों द्वारा सिद्धयोग का प्रतिपादन किया। आधुनिक समय में सिद्धयोग के ज्ञाता बहुत कम हैं। फिर भी यह विद्या नष्ट नहीं हुई है और नष्ट होगी भी नहीं। यह विद्या परम्परागत है और अनादि है। यह सिद्धजनों का मार्ग है। जिसने इस मार्ग में प्रवेश किया है वही उसका रहस्य जान सकता है। सामान्य मनुष्य इसको नहीं समझ सकेगा। इसलिये सिद्धजन और इस मार्ग के साधकजन जिस किसी के सामने इसे प्रकट करने में संकोच करते हैं। इस योग में शक्तिपात करने में समर्थ सिद्ध गुरु और उनकी कृपा पानेवाले अधिकारी शिष्य, ऐसे उभय पक्ष की आवश्यकता रहती है।

सिद्धयोग के विषय का पुस्तकीय ज्ञान होने पर भी प्रत्यक्ष अनुभव बिना वह पूर्ण समझ में आनेवाला योग नहीं है, क्योंकि उसके अनुभव ऐसे अलौकिक, विचित्र और चमत्कारिक होते हैं कि जिनके बारे में न तो किसीने सुना होता है, न तो कहीं पढ़ने मिलता है और न तो उसका यथार्थ स्वरूप जाननेवाला कोई साधक या महात्मा मिलता है। फिर भी गुरुकृपारूप शक्तिपातविद्या के अनुभवी कई संतमहात्मा पुराने काल में थे, हाल में भी हैं और आगे भी रहेंगे, जिनके द्वारा मुमुक्षु साधकों का कल्याण होता रहा है और होता रहेगा। सिद्धमार्ग अखण्डित और अबाधित है।

शक्तिपात के प्रकार और उसके अनुभवों के बारे में स्पष्ट या गुह्य रूप में श्रीज्ञानेश्वर, संत तुकाराम, योगी मुकुन्दराय, कबीर साहब, श्रीशंकराचार्य आदि संतमहात्माओं के काव्यों में संकेत मिलता है। योगवासिष्ठ, शिवमहापुराण—वायवीय संहिता, योगशिखोपनिषद्, ज्ञानेश्वरी, एकनाथी भागवत, देवी भागवत और तन्त्रालोक, कुलार्णव तन्त्र जैसे पुराने ग्रन्थों में भी इस योग का प्रमाण मिलता है। वर्तमान काल में भी इस विषय के ज्ञाता और अनुभवी महात्माओं के कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जैसे कि योगेन्द्र विज्ञानी का 'महायोगविज्ञान', स्वामी शंकरपुरुषोत्तम तीर्थ जी का 'योगवाणी' और स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज का 'देवात्मशक्ति' (अंग्रेज़ी में)। यह सिद्धयोग प्रत्यक्ष अनुभवगम्य होने से, इसकी प्रतीति देनेवाले सद्गुरु न मिलने पर वह केवल चर्चा का विषय बन जाता है। इसलिये इस विषय में विपुल साहित्य या स्वतन्त्र ग्रन्थों की निर्मिति नहीं हुई है।

सिद्धयोग वह है जिसमें श्रीगुरु साधक में यौगिक प्रक्रिया द्वारा शक्तिपात करके उसकी अन्तरशक्ति कुण्डलिनी को जगाते हैं और साधक अनेक प्रकार के अनुभवों में से गुज़र कर, गुरुनिष्ठा से साधना करता हुआ अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करता है। अन्य मार्ग की साधना में भी शक्तिपात के कुछ लक्षण न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं। गुरु ने मन्त्र दिया या कोई उपासना बतायी या कुछ साधन सिखाया तो उसके करने से कुछ-न-कुछ अनुभव होता ही है। शक्तिपात या कुण्डलिनी-जागृति गुरु बिना भी होती है। तपस्या, मन्त्रजप, उत्कट भक्ति, विशिष्ट

उपासना, पूर्वजन्म की गुरुकृपा या अपूर्ण साधना के कारण कुण्डलिनीरूप अन्तर-शक्ति जागती है। किसी संत या देवता द्वारा स्वप्न में भी दीक्षा मिलती है। इस प्रकार किसी साधन से जब साधक को अनुभूति होने लगती है तब यदि उसको इस विषय का ज्ञान न हो और गुरु भी इस विषय का पूर्ण ज्ञाता न हो तो अपने अनुभव का स्वरूप वह नहीं समझ सकेगा और उस अनुभव के अनुसन्धान में साधना आगे बढ़ाने का मार्ग उसे नहीं मिलेगा। अतः उसे अन्तरसमाधान भी प्राप्त नहीं होगा।

हमारे गुरुदेव के पास ऐसे बहुत साधक आते हैं : कोई कहता है, उसे कान में आवाज़ सुनाई देती है; कोई कहता है, उसके शरीर में जलन होती है। किसीको सूर्य-चंद्र-तारे दिखायी देते हैं तो किसी को विद्युत् के झटके लगते हैं। कोई मूढ़ जैसा हो गया है तो किसी में संसार से भागने की वृत्ति उठ रही है। किसी को अपना प्रतिरूप नज़र आता है तो किसी के अन्तर में कोई बोल रहा है। कोई क्रोध के आवेश में तोड़फोड़ करता है तो कोई गाता या नाचता है। किसी को सर्प दिखायी देता है तो कोई अपनी मृत्यु देखता है। इन बातों का रहस्य न समझने से कोई साधक उसे भूतपिशाच का उपद्रव मानकर दुःखी होता है या कुछ विपरीत हो रहा है ऐसी भावना से साधना छोड़ देता है या तो कोई दूसरा मार्ग ले लेता है जिससे उसे ज़्यादा कष्ट भोगना पड़ता है। अन्य अज्ञानी साधकजन भी उसे भ्रमित और निरुत्साहित कर देते हैं कि उसकी साधना गलत ढंग से हो रही है। किसी भी रूप में शक्ति जाग्रत होने पर उसका ज्ञान न होने के कारण साधक दिव्य प्राप्ति से वंचित रह जाता है। कहीं से प्राप्त हुए हीरे का मूल्य न जानने से वह उसे पत्थर समझ कर फेंक देता है।

इस तरह हरेक प्रकार के मार्ग, उपासना या साधना में शक्ति-जाग्रति का कुछ अंश दिखाई देता है। किसी प्रकार से कुण्डलिनी जाग्रत होने पर भी अन्तिम प्राप्ति के लिये सिद्ध गुरु की कृपा की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। लेकिन सिद्धयोग की बात निराली है। यह योग सिद्ध गुरु की कृपा पर आधारित है। उसमें गुरु द्वारा शक्तिपात होते ही शिष्य को अनुभव होने लगते हैं। कुण्डलिनी शक्ति पूर्ण जाग्रत होती है, जिससे शिष्य के लिये एक नया जगत खुल जाता है और वह एक नयी दृष्टि पाता है। सिद्धयोग की विशिष्टता यह है कि साधक के लिये जो आवश्यक है वही बिना प्रयत्न के, अपने आप होता है। जिस मार्ग से वह आसानी से आगे बढ़ सकता है उस मार्ग द्वारा उसका विकास होता है और सहज ही ज्ञान प्राप्त होने लगता है। इसलिये साधक पूर्ण समाधानयुक्त रहता है। साधक ने इसके पूर्व कितना साधन किया है, वह कितना शुद्ध हुआ है, उसके लिये कौनसा साधन सुलभ है, वह कितना पचा सकता है, किसमें उसका अधिकार है यह सब ख्याल में रखकर ज्ञानशालिनी शक्ति उसके अन्दर कार्य करती है। कुण्डलिनी शक्ति जागने पर उसकी स्वतन्त्रता का अनुभव साधक को तुरंत होने लगता है। वह साधक का शरीर,

प्राण, मन और बुद्धि अपने स्वायत्त कर लेती है। अतः शक्तिपात दीक्षा के बाद साधक को अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक स्तर पर अनुभव, जैसे कि यौगिक क्रियाएँ, विचारपरिवर्तन और आध्यात्मिक विषय की सूक्ष्म समझ, होने लगते हैं।

गुरु की शक्ति की सामर्थ्य एक समान होते हुए भी शिष्यों में शक्तिपात के विकास के लक्षण भिन्न भिन्न दिखायी देते हैं। अधिकारभेद से शक्तिपात के फल में तारतम्य रहता है। गुरु किसी भी रीति से याने स्पर्श, शब्द, दृष्टि या संकल्प से दीक्षा देते हैं। ऐसी दीक्षा में एक ही शक्ति का विविध रीति से प्रकटीकरण होता है। शक्तिपातदीक्षा एक ही है, लेकिन उसके परिणामरूप अलग अलग अनुभव होने से उसे शास्त्र में क्रियावती, कलावती, वर्णमयी, वेधमयी, ज्ञानमयी इत्यादि प्रकार की दीक्षा कहते हैं। शक्तिपात होते ही क्रियावती दीक्षा में किसीको आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, कुम्भक आदि यौगिक प्रक्रियाएँ अपने आप होने लगती हैं; कलावती में किसीको ज्योतिदर्शन, नाद, दिव्य गंध, रस-शब्द-स्पर्श-रूप का अनुभव और देवदेवियों के दर्शन होते हैं; वर्णमयी में किसीको मन्त्र या काव्य स्फुरता है; वेधमयी में किसीको सुषुम्ना नाड़ी में चक्रवेध का अनुभव होता है; ज्ञानमयी में किसीको तत्क्षण अन्दर से ज्ञान उदित होता है। कई साधकों को इन सब का मिश्रित अनुभव भी होता है। वस्तुतः इन सब में दीक्षाभेद नहीं है, अनुभवभेद हैं।

कई बार ऐसा भी देखा जाता है कि बिना संकल्प के भी शक्तिपात होता है। गुरुदेव उसे उत्तम दीक्षा कहते हैं। सिद्धमहात्माओं के आसपास का वातावरण चितिमय बना रहता है। उनके निवासस्थान में वह शक्ति सब जगह और सब में पसरती है—पशु-पक्षी, वृक्ष-बेल, फल-फूल और जड़ वस्तु में भी। उसकी किरणें साधक में अपने आप जब कभी प्रवेश कर देती हैं। इसलिये शास्त्रों में सत्संगति और सिद्धपीठ की महत्ता दर्शायी गयी है। गुरुदेव कई बार कहते हैं, "मैं कुछ नहीं करता। मेरी जानकारी बिना भी किसी किसी को शक्तिपात होता है, जिसके बारे में मैंने सोचा भी नहीं होता है। राडार के समान जब मेरे अन्तर में स्पन्दन होने लगते हैं तब मालूम होता है कि किसी में शक्ति गिरी है और ऐसे साधक को देखते ही समझ लेता हूँ कि उसको शक्तिपात हुआ है।" जिसकी जितनी योग्यता होती है उसके अनुसार उसे मिलता है। इसलिये दीक्षा पाने की इच्छा से आये हुए को गुरुदेव कहते हैं, "आश्रम में निश्चिंत हो कर कहीं भी रहो। साधकों से सत्संग, सहवास और उनके साथ ध्यान करो। वह सर्वज्ञ शक्ति कभी भी तुमको पकड़ लेगी।"

शक्तिपात में 'पात' शब्द से ऐसा नहीं समझना चाहिये कि बाहर से शक्ति का 'पात' किया जाता है। शक्ति तो सब के मूलाधार चक्र में रहती ही है। गुरु अपनी 'कृपा' द्वारा उस सुषुप्त शक्ति का उद्बोधन करके उसे सक्रिय कर देते हैं।

उनकी 'कृपा' बाहरसे होती है, इस अर्थ में 'पात' शब्द उपयुक्त है। अतः इसका 'गुरुकृपा' नाम अधिक अर्थवह है। यह समझने के लिये 'एक दीपकसे दूसरा दीपक प्रकाशित होता है' यह दृष्टांत योग्य है। गुरु से दिव्य चिनगारी प्राप्त होते ही साधक को उसकी प्रकृति के अनुसार अनुभव होते हैं। यदि वह विवेकी होगा तो बुद्धि कुशाग्र होकर सूक्ष्म विषय ग्रहण करके सब शंकाओं का समाधान प्राप्त करेगा। जो वह भक्तिमान होगा तो अष्ट सात्त्विक भाव, भावसमाधि, प्रेम इत्यादि प्रकट होंगे। जिसको नाद, बिन्दु, तेज इत्यादि में समाधान होता होगा उसको उनके अनुभव होंगे, जिनमें साधकका चित्त तदाकार होकर आखिर एकाग्र हो जायेगा। जिसको शरीरशुद्धि की आवश्यकता होगी वह यौगिक क्रियाओं द्वारा शुद्ध होने लगेगा। वासना प्रबल होकर फिर शांत होगी और अंत में नष्ट हो जायेगी। पुराना या छुपा हुआ रोग प्रकट होकर हमेशा के लिये दूर हो जायेगा। इस प्रकार साधक की जगी हुई अन्तरशक्ति उसको आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ाती रहती है। शिष्य में एक बार शक्तिपात होते ही गुरु का कर्तव्य उस शिष्य का विकास पूर्ण होने तक उसे देखते रहने का ही होता है। बीच में यदि विघ्न आ जाय तो उसे गुरु सम्भाल लेते हैं और आवश्यकता के अनुसार शक्ति के वेग का नियमन भी करते हैं। वह शक्ति गुरु की ही मानी जाती है। इसलिये साधना में श्रद्धा और गुरु में निष्ठा रखने से शिष्य की अपने आप प्रगति होती है। गुरु में अश्रद्धा या शंका आने से प्रगति रुक जाती है। अतः सिद्धयोग में गुरु और गुरुभक्ति का बहुत महत्त्व माना गया है।

आजकल पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हुए कई लोग शंका करते हैं कि ईश्वरीय शक्ति सर्वव्यापक है, मनुष्य में भी है; फिर गुरु की क्या ज़रूरत है? अन्दर से ईश्वर ही मार्गदर्शन करेगा। यह सत्य है कि ईश्वर सब के हृदय में विद्यमान है, लेकिन वह आवरण से ढका हुआ है, इसलिये परोक्ष है। वह तो हृदय में रहकर नियति के नियमों के अनुसार कालचक्र पर मनुष्य को भ्रमाता रहता है— **भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया** (गीता, अ. १८–६१)। उससे मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता। जिस गुरु में वह प्रकट हुआ है उसकी कृपा से जब आवरण हट जाता है तब हृदयस्थ ईश्वर प्रकाशित होकर साधक का कल्याण करता है। यह गुरुकृपा की प्रणाली अनादि काल से चली आयी है। लेकिन आज के भौतिकवाद के युग में उसका 'गुरुडम' कहकर अवमान किया जाता है। इसलिये इस विद्या से लोग प्रायः अनभिज्ञ हैं।

महाबलेश्वर में हमारे साथ आये हुए कॉलेज और विद्यालय के छोटी उम्र के लड़के-लड़कियों को ध्यान करते हुए देखकर उन्हें प्रोत्साहन मिले, वे आगे बढ़ें, साधन-मार्ग में वे समाधानी बनें, सुखी बनें और उनका कल्याण हो इस उद्देश्य से करुणामय श्रीगुरुदेव 'सिद्धविद्या' का यह ग्रन्थ लिखने के लिये प्रेरित हुए। मुख्यतः यह ग्रन्थ छोटे-बड़े, सिद्धयोग के साधकों के लिये है, जिन्होंने इस मार्ग

में प्रवेश किया है। हमारे आश्रम में ऐसे साधकों की संख्या बढ़ती चली है और सुबह-शाम ध्यान-कक्ष में एक ओर स्त्रियाँ और दूसरी ओर पुरुषवर्ग ध्यान करते हुए दिखायी देते हैं। कोई सुरीली आवाज़ से 'ॐ नमः शिवाय', 'गुरु ॐ' जैसे स्फुरित मन्त्र का उच्चार करता है, कोई सुन्दर मुद्राएँ करने में मस्त है, कोई शास्त्रीय पद्धति का नृत्य करता है, कोई प्रेम के आँसू बहा रहा है, कोई आसन कर रहा है, कोई ज़ोर से भस्त्रिका प्राणायाम कर रहा है तो कोई ज़मीन पर लुढक रहा है, कोई गहरी तन्द्रा में मानो लोकान्तर को गमन करता है। अब तो साधकों को ध्यान में बैठने के लिये जगह भी पर्याप्त नहीं होती। अतः ध्यान के लिये गुरुदेव ने बड़ा ध्यान-मन्दिर बनाया है जिसमें स्त्रियों और पुरुषों के अलग अलग खण्ड बने हैं। एक 'चिन्मय गुहा' भी बनी है।

यह सत्य है कि गुरुकृपा-प्राप्ति करने के बाद साधक साधना करता हुआ जैसे जैसे आगे बढ़ता है वैसे वैसे उसको अपनी प्रगति को समझ कर स्वयं अपना गुरु बनना पड़ता है और गुरुकृपा से जाग्रत हुई शक्ति की शरण में रहते हुए, द्रष्टाभाव रखकर साधनाभ्यास करना होता है। फिर भी उसे जिज्ञासा रहती है कि अपने अनुभव किस प्रकार के हैं और आगे कैसे अनुभव प्राप्त होंगे, उनका क्रम क्या है, अपनी प्रगति कहाँ तक हुई है, उसको बढ़ाने के लिये क्या करना चाहिये इत्यादि। कभी कभी साधना में किसी किसी को ऐसे विचित्र और न सुने हुए, अनोखे अनुभव होते हैं कि वह डर जाता है, चिन्ताग्रस्त होता है। गुरुदेव से दीक्षा पाये हुए ये साधकजन कई बार उनको अपनी साधना, वैयक्तिक अनुभव और सिद्धयोग के विषय में प्रश्न पूछते हैं। इस पर गुरुदेव कहते हैं, "सब अच्छा ही हो रहा है। डरो मत। मुझे भी ऐसा ही हुआ था। विचित्र क्रियाएँ होती थीं। चंचलता, क्रोध, विषाद, अरुचि, काम, मूढ़ता इत्यादि जो सामान्यतः आसुरी या तामसी वृत्तियाँ मानी जाती हैं, उनका मैं भोग बन जाता था। फिर भी तुम देखते हो कि मुझे इससे कुछ नुकसान नहीं हुआ है, वरन् मुझे दिव्य प्राप्ति हुई है। इसलिये डरो मत। जो होता है वह होने दो। तुम्हारे शरीर की नाड़ीशुद्धि होकर अंतःकरण के पूर्व संस्कार साफ़ हो रहे हैं। बाद में तुम एक ऐसे दिव्य आनन्द की अनुभूति करोगे कि जिसमें तुम मस्त रहोगे।"

ऐसे सिद्धविद्यार्थियों के शंकानिवारण और मार्गदर्शनहेतु लिखे गये इस 'चित्‌शक्ति विलास' ग्रन्थ के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में गुरुकृपा को परमात्मप्राप्ति का उत्तम उपाय बता कर श्रीगुरुदेव ने अपने अनुभवों द्वारा गुरु से प्राप्त शक्तिपात दीक्षा से साक्षात्कार की प्राप्ति का सिद्धमार्ग प्रमाणित किया है। श्रीगुरुदेव कहते हैं कि मनुष्य-जीवन में सुखदुःख का कारण स्वस्वरूप-विस्मरण है। इसका ही नाम अज्ञान, अविद्या या माया है जिसके कारण मनुष्य को नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। इससे छूटने का उपाय है आत्मदर्शन। आत्मदर्शन याने आत्मज्ञान

अन्तरशक्ति जागने से होता है। इसके लिये ऐसे गुरु की शरण जाकर उसके कृपापात्र बनना चाहिये जो शिष्य से संसार का नहीं, लेकिन उसके जीवत्व का त्याग कराता है; उसके वित्त और द्रव्य को नहीं, लेकिन उसकी चिन्ता और पाप को हर लेता है; घर में ही गुहा की शांति और एकान्त का अनुभव ला देता है और प्रपंच में ही परमार्थ दिखाता है।

अपने गुरुदेव भगवान श्रीनित्यानन्द जी की महानता का वर्णन करते हुए गुरुदेव गुरु की दिव्यता समझाते हैं कि गुरु परम दैवत है, गुरु मन्त्र-चैतन्यकारक है, गुरु 'पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति' है, गुरु नवनव उन्मेषशालिनी प्रतिभा है, गुरु स्वयं पराशक्ति चिति याने माँ कुण्डलिनी है। ऐसे सिद्ध गुरुजन से दीक्षा पाना परम सौभाग्य है। वह पाने के लिये गुरुध्यान सर्वश्रेष्ठ साधन है। गुरु ने मन्त्र दिया, अन्तरशक्ति जगायी, जप का विधान बताया, फिर उन्हीं गुरु का ध्यान चरम प्राप्ति का कारण बनता है। श्रीगुरुदेव ने गुरुध्यान की अपूर्व विधि भी बतलायी है। *उल्लसित गुरुचिन्तन सिद्धयोग का प्राण है, शक्तिपात की साधना है, परम प्राप्ति का रहस्य है।* गुरु के पुण्यस्मरण से श्रीगुरु चितिमय शक्तिरूप से शिष्य में अन्तर-कार्य करने लगते हैं, उसके मल को धोकर उसे शुद्ध बनाते हैं, जीव को शिव बनाते हैं। इसलिये शिष्य का कर्तव्य है—गुरुसंगत, गुरुसेवा, गुरु-आज्ञापालन। यही है सिद्धमार्ग या सिद्धयोग।

प्रस्तुत खण्ड में श्रीगुरुदेव ने अपनी अनुभूतियों को लेकर अन्तरशक्ति के कार्यकलापों का अद्भुत वर्णन किया है[1] जिसमें शक्तिपात दीक्षा, कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से होनेवाली यौगिक क्रियाएँ, भयावने दृश्य, मन की भ्रमयुक्त स्थिति, ज्योतिदर्शन, लोकान्तर और देवीदेवताओं के दर्शन, नादश्रवण, प्रतीकदर्शन, मरणभय, कर्णचक्रभेद, नेत्रबिन्दुभेद, अमृतपान, प्रेमभाव, ब्रह्मभाव, गुरुभाव इत्यादि सिद्धयोग की साधना में होनेवाले अनुभवों का कथन है। इन सब में वेदान्त में वर्णित चार शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण) और चार अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य) की द्योतक, ध्यान में दिखनेवाली चार रंग (रक्त, श्वेत, कृष्ण, नील) की ज्योतियाँ और उनके प्रमाण (स्थूल शरीर, अंगुष्ठ, पर्वार्ध, मसुर) का वर्णन गुरुदेव ने विशद रूप से किया है। ये ज्योतियाँ एक के अन्दर एक होती हैं। इस ज्योतिदर्शन का क्रम बताकर गुरुदेव ने उसके अनुसार साधक की प्राप्ति का निरूपण किया है कि किस प्रकार वह धीरे धीरे देहभाव और द्वैतभाव से परे होकर द्रष्टाभाव को प्राप्त होता है और 'अहं ब्रह्मास्मि' के स्फुरण-युक्त बनता है। सिद्धयोग की महानता यह है कि वेदान्त जिसको 'नेति नेति'

---

१. श्रीगुरुदेव के 'स्वामी मुक्तानन्द परमहंस' (अंग्रेजी) नामक जीवनचरित्र में इस साधना का संक्षिप्त निरूपण है।

कहता है उसको यह योग 'इदम् इति' या 'अयम् अस्मि' करके अनुभूतिरूप प्रत्यक्ष सत्य कर देता है। योग के बिना वेदान्त पंगु है। अनुभवरहित ज्ञान प्रवचन का विषय बन जाता है। सिद्धयोग वेदान्त का पूरक है। वेदान्त और योग एकमेक मिलने से पूर्ण सिद्धि होती है। ज्योतिदर्शन के बारे में संतों ने अपने काव्यों में जो रक्त, श्वेत, कृष्ण और नील ज्योतियों के गुह्य रूप में उल्लेख किये हैं, उनका गुरुदेव ने प्रमाण भी दिखाया है। इस विषय में संत ज्ञानेश्वर और तुकाराम महाराज के प्रमाणरूप कुछ काव्य ग्रन्थ के परिशिष्ट–२ में दिये गये हैं।

श्रीगुरुदेव ने इस ग्रन्थ में चमकीले तेजोमय नील बिन्दु और जगमगाती नील ज्योति की महिमा बहुत गायी है। उसे वे नीलेश्वरी कहते हैं। वही सर्वस्व है। वही चिति, कुण्डलिनी, पराशक्ति, परब्रह्म, परमात्मा, गुरु, आत्मा, त्रिभुवन, परम शांतिस्थान—सब कुछ है। वही गोपियों की 'सत् चिन्मय नीलिमा'–श्रीकृष्ण भी है। वही जगतरूप में स्वयं प्रकाशित चित्शक्ति विलास है। जो पुण्यात्मा है उसीको यह नीलदर्शन होता है। यहाँ पर श्रीगुरुदेव ने एक नयी चमत्कारिक घटना बतायी है। वह है इस नीलेश्वरी में वेदों में वर्णित 'सहस्राक्षः सहस्रपात्' पुरुष का दर्शन, जिसे वे अव्यक्त पुरुष कहते हैं और जिसका दर्शन सगुण साक्षात्कार है। अन्तिम साक्षात्कार भी उस नीलेश्वरी में ही है। गुरुदेव ने अपने साधनयज्ञ की पूर्णाहुति किस प्रकार हुई इसका आश्चर्यजनक वर्णन करके साक्षात्कार की एक प्रक्रिया प्रकट कर दी है। गुरुदेव कहते हैं कि ध्यान-साधना करते करते, समाप्ति-काल में सहस्रार में ऊर्ध्व दृष्टि होते ही उनके सामने नीलेश्वरी चमकने लगी, उसकी चिन्मय नीलप्रभा चारों ओर पसर गयी, उसके किरणपुंज के बीच अपने गुरुदेव भगवान श्रीनित्यानन्द जी को देखा, फिर वहाँ परशिव को देखा, बाद में स्वयं को देखा, तत्पश्चात् उलटी प्रक्रिया होकर सब नीलमय बनकर सिर्फ़ नीलेश्वरी वैसी ही रह गयी याने नीलप्रभा का प्रकाश कायम रह गया। यह है अन्तिम प्राप्ति, जिसमें साधक को प्रपंच, चितिशक्ति का चिन्मय विलास दिखायी देता है। उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है जिससे हरेक में उसको चिन्मय नील नज़र आता है। अब वह परशिव को ही विश्वरूप में देखता है। उसमें 'सर्व व्यापक परमात्मा बिना अन्य कुछ नहीं है'—इस वेदान्तज्ञान का उदय हो जाता है। 'विश्व मेरा है, मैं विश्व का हूँ' ऐसी अभेद दृष्टि की प्राप्ति होती है। उसकी वृत्ति विश्वाकार हो जाती है। जिस जगत को कई सिद्धान्तवादी शुष्क, मिथ्या और माया कहते हैं अथवा साधनपथ में जिस प्रपंच का सच्चा ज्ञान न होने से साधक उससे बहुत डरता है वह भयकारक प्रपंच उसका अपना स्वरूप बन जाता है। वही दुःखप्रद जगत सुखप्रद वैकुण्ठ बन जाता है। इस प्रकार यह ज्ञान, यह प्राप्ति गुरुकृपारूप शक्तिपात से सम्भव होती है। यह सिद्धयोग की देन है।

श्रीगुरुदेव ने इस प्रकार एक साधारण साधक के रूप में अपनी साधना का

निःसंकोच निरूपण किया है। गुरुदेव आध्यात्मिक अनुभूतियों को गुप्त रखने के पक्ष में नहीं हैं। सिद्धयोग के साधकों को भी वे अपने अनुभव प्रकट करने का अनुमोदन देते हैं। इससे सिद्धयोग का महत्त्व, उसकी उपयोगिता, सत्य जानकारी और यथार्थ स्वरूप प्रकट होकर साधक को मार्गदर्शन व उत्साह मिलते हैं। गुरुदेव सिद्धयोग को परमात्मप्राप्ति का सुलभ साधन कहते हैं। अपने अनुभव द्वारा मानो वे कहते हैं, "जब मैंने पाया तो तुम भी पा सकते हो। जिस मार्ग से मैं जहाँ पहुँचा उस मार्ग से तुम भी वहाँ पहुँच सकते हो। यह कोई कठिन बात नहीं है। मैंने किया, फिर तुमसे कहता हूँ।" इस मार्ग में छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, बुद्धिमान-मूढ़, संसारी-साधु—सब का अधिकार है। इसकी सत्यता 'श्री गुरुदेव आश्रम' में आनेवाले हरेक प्रकार के साधकों में स्पष्ट दिखायी देती है। अपने को जो अनुभव और ज्ञान प्राप्त हुआ वह दूसरे में शक्तिपात द्वारा संक्रान्त करके श्रीगुरुदेव ने अनेक साधकों को सिद्धमार्ग पर आरूढ किया है। उन्होंने पाया तो दूसरों को मिला है, मिल रहा है।

गुरुदेव को सिद्धविद्यार्थियों से आत्मवत् प्रेम है। इन विद्यार्थियों की योग्यता भी बड़ी है। उनमें से कइयों को ऐसी योग्यता प्राप्त हुई है कि उनके पास ध्यान में बैठनेवाले को भी अपने आप दीक्षा मिल जाती है! उस समय वह किसीको छूता तो उसे विद्युत् का सा झटका लगता है और वह यौगिक क्रियाएँ करने लग जाता है या गहरे ध्यान में उतर जाता है। किसी किसीको अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त होकर भूत, भविष्य और वर्तमान के प्रसंग या घटनाएँ दिखायी देती हैं, आनेवाली आपत्ति की सूचनाएँ मिलती हैं, ध्यान में देवीदेवताओं के साथ संभाषण होकर संकेत या ज्ञान मिलता है, आध्यात्मिक बातों का मर्म समझने की शक्ति प्राप्त होती है, समस्या हल करने की सामर्थ्य आती है, साधना में दूसरे का मार्गदर्शन करने की योग्यता प्राप्त होती है।[1] ऐसे सिद्धविद्यार्थियों के कुछ अनुभव उदाहरणार्थ इस ग्रन्थ के परिशिष्ट–१ में दिये गये हैं।

इन सिद्धविद्यार्थियों की प्रगति निर्विघ्न होती रहे और सरलता से वे शीघ्र ही परम पद को प्राप्त करके सिद्ध बनें इस हेतु से गुरुदेव ने उनके कल्याणार्थ सिद्धमार्ग के उपयुक्त कुछ नियमों के पालन का अनुशासन दिया है। इस सिद्धानुशासन के विषय में आठ लेख हैं जिनमें गुरुकृपा से जगी हुई शक्ति के रक्षण हेतु श्रीगुरुदेव ने अपने प्यारे सिद्धविद्यार्थियों को गुरुनिष्ठा, शुद्ध आचरण, पवित्रता, एकान्त, मित-भाषण, सत्संगति, सुविचार, सच्चाई इत्यादि का आदेश दिया है। श्रीगुरुदेव का कहना है कि सिद्धविद्यार्थियों को स्मरण में रखना चाहिये कि गुरुकृपा प्राप्त

---

१. जिज्ञासु पाठकगण इन अद्भुत अनुभवों को आश्रम के वार्षिक प्रकाशन 'गुरुदेव-वाणी' में पढ़ सकते हैं।

होते ही वे सिद्धपरम्परा के हो जाते हैं। इसलिये उनका रहन-सहन उसके अनुसार ही होना चाहिये, क्योंकि वे सिद्ध ही बननेवाले हैं। श्रद्धा, प्रेम और समर्पण-भाव से गुरूपदिष्ट मार्ग पर चलकर गुरु-आज्ञापालन और गुरुसेवा करने से सिद्धपद की प्राप्ति शीघ्र होती है। गुरुसन्तोष में ही शिष्य की सिद्धि है। गुरु की अप्रसन्नता से साधना में शिथिलता आ जाती है। सिद्धविद्यार्थियों को इस विषय में अत्यन्त जागरूक रहना चाहिये। गुरु के प्रति जैसा भाव होगा वैसी ही प्राप्ति होती है। शिष्य गुरु को जितना महान समझता है उतना ही महान वह बनता है। साधना की समाप्ति और फल इस भावना पर आधारित हैं। गुरु पूर्ण प्रसन्न होते ही शिष्य को सिद्ध बनने में देर नहीं लगती। गुरु में ऐसी सामर्थ्य होती है कि वह शिष्य के लिये इस जगत को चितिमय याने परमात्ममय बना देता है, जिससे व्यवहार की अपनी हरेक क्रिया में उसे चिति का याने चैतन्य आत्मा का ही सतत अनुसन्धान रहते हुए वह परमानन्दमय बन जाता है। इस प्रकार वह जगत्क्रीड़ा करता हुआ आत्मतृप्त रहता है। निरपेक्ष बन कर वह ग्रहण और त्याग से परे हो जाता है। चिति में एकरूप होकर अक्षय सुख पाता है। संसार के सर्व व्यवहार में विक्षेपरहित स्थिति प्राप्त करता है। यही साधन की समाप्ति की समाहित दशा याने सहजावस्था है।

सिद्धावस्था की प्राप्ति के लिये श्रीगुरुदेव सिद्धविद्यार्थियों को 'बगुला ध्यान' से बचने की चेतावनी देते हैं। साधना में दंभ, अनुकरण या प्रशंसा की कामना नहीं होनी चाहिये, जैसे कि बगुले का ध्यान मछली पकड़ने के लिये होता है। गुरुभक्ति में, ध्यान में, परमार्थ में सच्चाई होनी चाहिये। इसकी परीक्षा होती है और जैसा हेतु होता है वैसा ही फल प्राप्त होता है। इसलिये गुरुदेव कहते हैं कि बाह्य जगत की अपेक्षा अन्तर-जगत में कुछ कमाने की इच्छा रखनी चाहिये।

सिद्धयोग की साधना में श्रीगुरुदेव ने त्याग का यथार्थ स्वरूप समझाया है। योग में त्याग आवश्यक है; लेकिन घर त्यागना, बालबच्चे त्यागना या अन्न त्यागना, जंगल के एकान्त में जाकर रहना इत्यादि सच्चा त्याग नहीं है। ऐसा त्याग शांति नहीं, भ्रांति दिलाता है। त्याग विवेकयुक्त होना चाहिये। जिसे गुरुकृपा प्राप्त हुई है उसके लिये चितिमय याने ईश्वरमय जगत में त्यागने का क्या है? उसके लिये संसार बाधक नहीं, साधक बन जाता है। इसलिये घर नहीं, लेकिन 'मैं-मेरा' का अभिमान त्यागना है, अपनेपन को त्यागना है, शरीर का अभिनिवेश त्यागना है। इससे ही समतायुक्त ज्ञान का उदय होता है।

सिद्धविद्यार्थी को यदि प्रेमस्वरूप परमात्मा को पाना है तो श्रीगुरुदेव कहते हैं कि उसे प्रथम अपने से ही प्रेम करना ज़रूरी है। अपने को हीन, पापी, नाकाबिल नहीं समझना चाहिये। अपने शरीर को भी न तो कष्ट देना चाहिये न तो अति कोमल बनाना चाहिये। शरीर चेतन है, ईश्वर का मन्दिर है। उसमें ही परमात्मा के

साथ मिलन होता है। साधक उसका ऋणी है। इसलिये उसे शुद्ध, पवित्र और स्वस्थ रखना आवश्यक है। मन चंचल, अशुद्ध, विकारी है ऐसा सोचकर उसे भी दण्ड नहीं देना चाहिये। मन की अस्थिरता तो योग का मार्ग बताती है। मन शांत होने के लिये अच्छा स्थान ढूँढ़ता है। उससे प्रेम करके उसे ठहरने के लिये योग्य स्थान देने से याने उसे आत्मरत बनाने से वह शांत हो जाता है। इस प्रकार शरीर और मन साधक के बड़े उपकारी हैं। अतः उन्हें प्रेम से, सन्मान से देखना चाहिये। गुरुदेव कहते हैं कि जो अपना ही तिरस्कार करता है वह जगत से कैसे प्रेम कर सकेगा? साधक अपने प्रति जो प्रेम रखता है, उसीको विशालरूप में फैलाकर उसे प्रेममय बनना है। यह है सिद्धविद्यार्थी की प्रेमसाधना।

अन्त में श्रीगुरुदेव ने आत्मतुल्य सिद्धविद्यार्थियों को सद्भावपूर्ण शुभेच्छा व्यक्त करके आशीर्वाद दिया है कि उन्हें सिद्धकृपा का रक्षण मिले, सिद्धयोग में पूर्णता मिले, चिति में विश्रान्ति मिले और उनका जीवन परम आनन्दमय बने।

यह 'चित्शक्ति विलास' ग्रन्थ सचमुच श्रीगुरुदेव में खेलती हुई चित्शक्ति का ही विलास है। यह चितिप्रेरित ग्रन्थ है। चिति ने ही लिखवाया है। लिखते समय कई बार गुरुदेव क्षणभर ध्यानस्थ हो जाते थे और कहते थे कि उन्हें अपने साधनकाल के अनुभव फिर प्रत्यक्ष होते हैं, स्मरणपट पर उमड़ आते हैं और वही चमकीली ज्योतियाँ दिखाई देती हैं। इससे ग्रन्थ अपने आप लिखा जाता था। स्वयं गुरुदेव ने नील पुरुष के दर्शन का वर्णन करते हुए कहा है, "इस समय इस चमत्कार के विषय में लिखने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। मेरा हाथ हिलता नहीं है। अंगुली चलना बंद हो गया है। आँखें खुलती नहीं हैं। जिह्वा मात्र चालू है। शायद उस जिह्वा में वह नित्यानन्द बलात् आकर बैठा होगा।" यह ग्रन्थ उस गुरुरूप स्वतन्त्र सत्ता चितिदेवी की ही स्फुरणा है, कृपाप्रसाद है। अतः उसका नाम 'चित्शक्ति विलास' रखा गया है जो चिति से ही परिपूरित है और उस मातृरूप चित्शक्ति को ही अर्पण किया गया है। संभव है कि इसे पढ़ते पढ़ते ही पाठक को शक्तिपात का अनुभव हो जाय!

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का विशिष्ट स्थान रहेगा। अपने अनुभवों के सहारे किया हुआ सिद्धयोग का इस प्रकार का विस्तारपूर्वक और स्पष्ट निरूपण शायद ही किसी और ग्रन्थ में मिलेगा। नील नक्षत्र के सहारे लोकान्तर-गमन, नीलपुरुष-दर्शन, ज्योतियों के दर्शन और उनका तात्पर्य, ऊर्ध्वरेता बनने की प्रक्रिया और उसका रहस्य, अन्तिम साक्षात्कार इत्यादि रहस्यमय बातों का भेद श्रीगुरुदेव ने इस ग्रन्थ में खोल दिया है। महायोग के जो रहस्य अभी तक सिद्ध-परम्परा में चले आ रहे थे और जिनको गुप्त रख कर गुरु अपने शिष्यों को ही बताते थे, उनको श्रीगुरुदेव ने यहाँ प्रकट कर दिया है, ताकि इस गूढ विद्या से साधकजन भली भाँति परिचित होवें। हमें विश्वास है कि जिज्ञासु साधकगण इस ग्रन्थ को

बारबार पढ़ेंगे, उसके एक एक शब्द पर मनन करेंगे और योगमार्ग में क्रियाशील बनेंगे। जिसमें अध्यात्मविद्या के प्रति किंचित् मात्र भी अनुराग है वह इस ग्रन्थ से अवश्य प्रभावित होगा। शायद, विद्वान पंडितों या टीकाकारों को यह ग्रन्थ उनके मापदण्ड के नियमों के अनुकूल नहीं भासने पर भी वह परमार्थ यात्रा का एक सत्य, सरल और अनुभवयुक्त वृत्तान्त है, आध्यात्मिक आत्मकथा है। वह न तांत्रिक है, न दार्शनिक, न सांप्रदायिक। इसलिये सबको प्यारा लगेगा।

ग्रन्थ पढ़ते समय ऐसा लगता है कि यहाँ पर गुरुदेव ग्रन्थ नहीं लिख रहे हैं, लेकिन सिद्धविद्यार्थियों को सम्बोधन करते हुए प्रेम से बातें कर रहे हैं। इसलिये अपने निजी अनुभवों को कथन करते समय गुरुदेव की मुक्त और स्वतन्त्र वार्ताशैली में सभी रसों का समन्वय हुआ है। वे कभी धीरे से मुस्कराते हुए, कभी खिलखिलाकर हँसते हुए, कभी करुणा से परिपूर्ण, कभी गुरुभक्ति से ओतप्रोत, कभी असाधारण दृष्टान्तों से भयभीत, कभी विषाद से घिरे हुए, कभी लोकान्तरों के अद्‌भुत दर्शन से आश्चर्ययुक्त, कभी उमड़ते हुए उल्लास और उत्साह में गोते लगाते हुए दिखते हैं। उनकी बोध देनेकी रीति कभी एक कथाकार की तो कभी तत्त्वज्ञानी की, कभी संवेदनशील कवि की तो कभी दृढ़तायुक्त तपस्वी की, कभी प्रेममयी माँ की तो कभी एक कठोर पिता एवं गुरु की है। सिद्धविद्यार्थियों को स्पष्ट समझ में आने के लिये गुरुदेव का अपना शब्दकोष भी है जिसमें ध्यानेश्वर, चित्तेश्वर, तन्द्रालोक, सर्वज्ञलोक, रक्तेश्वरी, श्वेतेश्वरी, नादलोक, नीलेश्वरी, नीलिमा इत्यादि अर्थवाहक और रुचिकर शब्द मिलते हैं। इस प्रकार गुरुदेव का बहुमुखी और समृद्ध व्यक्तित्व उनकी शैलीमें पूरा उतरा है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में सब साधकों को अपने अपने स्वभाव के अनुसार कुछ न कुछ अवश्य प्राप्त होगा। श्रीगुरुदेव ने यह ग्रन्थ लिख कर अब के और भविष्य के साधकजनों पर बड़ा उपकार किया है जिससे वे सदा के लिये श्रीगुरुदेव के अपने होकर रहेंगे, सिद्धपरम्परा के बनेंगे, सिद्धलोक में ही वास करेंगे।

पूर्ण परब्रह्मस्वरूप गुरुदेव, जो सिद्धविद्यार्थियों के लिये एक नया अलौकिक चितिमय जगत रचते हैं, अतः ब्रह्मारूप हैं; जो उनके दिव्य जीवन का पालन और रक्षण करते हैं, अतः विष्णुरूप हैं; जो उनकी जीवत्वसृष्टि का संहार करते हैं, अतः शिवरूप हैं; उनके इस ग्रन्थरूप अमूल्य कृपाप्रसाद का ऋण हम कैसे चुका सकते हैं! गुरुनिष्ठा से सिद्धानुशासन का पालन करके हम उस चिन्मय पद में, जहाँ श्रीगुरु का वास है, समा जायें तभी हम गुरुऋण से मुक्त हो सकते हैं, गुरुसन्तोष के योग्य बन सकते हैं। यही गुरुप्रसन्नता हमें प्राप्त हो यह श्रीगुरुचरणों में उनकी ही अन्तरप्रतिभा की प्रार्थना है।

बसंतपंचमी, २०२६
१० फरवरी, १९७०

अम्मा
(स्वामी प्रज्ञानन्द)

द्वितीय संस्करण

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में गुरुदेव लिखते हैं– 'इस ग्रन्थ में चिति की ही सब कृति है। चिति का ही प्रसाद है। चिति की ही क्रिया है।...' पारमेश्वरी कार्य पारमेश्वरी शक्ति द्वारा सम्पन्न होता है। अतः इस ग्रन्थ का प्रसार भी 'चितिप्रसाद' से अनायास एवं सहज रूप से हुआ है। जैसे सुखद, शीतल समीर एक जगह से दूसरी जगह सहज बहता है और उसके बहाव में जो कोई आता है उसे सुखशान्ति प्रदान करता है, वैसे ही इस ग्रन्थ का है। यही कारण है कि बिना किसी विशेष प्रचार के, प्रथम संस्करण की सभी प्रतियाँ हाथोंहाथ बिक गयीं। अतः ग्रन्थ की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिये आज हम इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं।

इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का अंग्रेज़ी अनुवाद 'गुरु' नाम से, अमेरिका के ख्यातनाम ग्रन्थप्रकाशक 'मेसर्स हार्पर एण्ड रो' द्वारा अमेरिका और कनाडा में प्रकाशित हुआ है। 'आश्रम' की तरफ़ से भी, सम्पूर्ण ग्रन्थ का अंग्रेज़ी अनुवाद 'चित्शक्ति विलास' नाम से हाल में प्रकाशित हो चुका है। फ्रेंच, स्वीडिश और जर्मन भाषाओं में इसका अनुवाद हो रहा है। गुजराती और अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसका अनुवाद निकट भविष्य में प्रकाशित होने जा रहा है। इस तरह यह 'चितिप्रसाद' सर्व देशों के सर्व जनों के लिये सहज उपलब्ध होगा ऐसा हमारा विश्वास है।

समर्थ रामदास कहते हैं–'प्रचीतीविणे बोलणे व्यर्थ आहे' अर्थात् प्रतीति बिना कोई कथन निरर्थक है। जिस कथन में लेखक या वक्ता की आत्मप्रतीति अभिव्यक्त हुई हो, जिस कथन में 'मैंने पाया, तुम भी पा सकते हो; मैंने किया, तुम भी कर सकते हो' ऐसा आत्मविश्वास छलकता हो, वही कथन जनमानस को स्पर्श कर सकता है, उस पर गहरा प्रभाव छोड़ सकता है। गुरुदेव अक्सर कहते हैं— 'शास्त्रप्रतीति, गुरुप्रतीति और आत्मप्रतीति में जहाँ अविरोध हो, उसीको सत्य जानो।' गुरुदेव ने प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी 'सत्य'का निरूपण किया है, जिसमें कर्तापन का अभिनिवेश नहीं, पाण्डित्य का वृथा प्रदर्शन नहीं; अपनी सहज, सरल भाषा में किया हुआ 'सत्य' का प्रासादिक कथन है जो उनके चित्त का प्रसाद है।

इस संस्करण में हमने संदर्भानुकूल कुछ संस्कार किये हैं, जिससे विषय को

समझने में पाठकों को अधिक सुविधा होगी। परिशिष्ट में ज्ञानेश्वर महाराज के दो और अभंग जोड़ दिये गये हैं।

सामान्य जनों के लिये 'सिद्धमार्ग' अब तक एक गूढ और रहस्यमय विषय रहा है। हमें विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन से वह सभी जनों के लिये 'सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय' एक सुलभ एवं सुगम मार्ग बनेगा, जिससे सभी जन इस मार्ग का अनुसरण करते हुए 'चिति' के साथ एकात्म होकर शाश्वत शान्ति का अनुभव करेंगे।

गणेशपुरी
१६-४-७२

प्रकाशक

तृतीय संस्करण

'चित्शक्तिविलास' का यह तीसरा संस्करण अध्यात्मप्रेमियों के हाथ में देते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। फरवरी १९७४ से अक्टूबर १९७६ तक बाबाजी ने विश्व के एक विशाल भूभाग की यात्रा की। फलस्वरूप, प्रथम अमेरिका में और फिर इंग्लैंड, फ्रान्स, जर्मनी आदि देशों में सिद्धयोगधाम फाऊंडेशन की स्थापना हुई जो अपने अपने क्षेत्र में सिद्धयोग के प्रचार एवं प्रसार में संलग्न हैं। अकेले अमेरिका में तीन आश्रम और दो सौ से अधिक ध्यानकेन्द्र खुल गये हैं। इसतरह विश्व में **ध्यानचक्रप्रवर्तन** का कार्य गतिशील हुआ है।

इस ध्यानक्रान्ति में 'चित्शक्तिविलास' का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सभी देशों के सभी स्तरों के लोगों ने उसे सहज भाव से अपनाया। यही कारण है कि अंग्रेजी के अलावा विश्व की इतर प्रमुख भाषाओं में, जैसे कि फ्रेंच, जर्मन, स्पैनिश, इतालवी, हिब्रू में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। भारतीय भाषाओं में हिन्दी, मराठी, गुजराती व कन्नड में यह ग्रन्थ उपलब्ध है। उर्दू, बंगला व अन्य भारतीय भाषाओं में इसका अनुवाद निकट भविष्य में प्रकाशित होने जा रहा है। दुनिया के विरला ही ग्रन्थों को इस प्रकार का सार्वभौमिक सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

हमें विश्वास है कि 'चितिप्रेरित' यह ग्रंथ चिति की ही तरह सर्वव्यापी बनेगा।

गणेशपुरी
२०-११-७७

प्रकाशक

कुसुमांजलि

आता मी जी लडिवाळपणे, तुमचे कृपेने करिते स्तवने।
सूर्यापुढें खद्योत जाणे, तैशापरी बोल हे ॥

अर्थात् 'हे गुरुदेव, आप की ही कृपा से मैं प्रेम से जो यह स्तवन कर रही हूँ, ये मेरे बोल सूरज के सामने खद्योत के समान हैं।'

श्रीमहाबलेश्वर जैसा महान पुण्यक्षेत्र, वहाँ भगवान नित्यानन्द जी के सगुण रूप स्वामी मुक्तानन्द जी परमहंस का परम पवित्र निवास तथा वहाँ उनके सान्निध्य में बैठे हुए प्रिय साधक भक्तों के सामने अपने पूर्ण साक्षात्कार की साधना के दिव्य स्मृतिचित्रों का उन्होंने किया हुआ 'गूढ़गुंजन' इस त्रिवेणी संगम में सिद्धमार्ग के इस अपूर्व, सुरस, सुबोध, महान ग्रन्थ का निर्माण हुआ है।

महान ग्रन्थकार जब किसी ग्रन्थ की रचना करता है, तब उस ग्रन्थ के लिये एक विशिष्ट पाठकवर्ग वह अपनी दृष्टि के सामने रखता है। 'आत्मबोध' ग्रन्थ की रचना करते हुए आचार्यजी ने जो कहा है, उसका अनुसरण करते हुए हम भी कह सकते हैं कि—

तपाने पापांना क्षीण करोनि शांत निर्विकारींना।
चिद्विलास कथितो मी, त्या सिद्धयोग साधकांना॥

अर्थात् 'अपनी तपःसामर्थ्य से पापों को क्षीण करते हुए उन शांत, निर्विकारी सिद्धयोग-साधकों को मैं चिद्विलास कथन करता हूँ।' इस ग्रन्थ के बारे में हमारे गुरुदेव की ऐसी ही भावना है। 'सिद्धयोग' जैसे कठिन विषय पर इतना सुलभ, सुस्पष्ट और सुरस ग्रन्थ लिखकर उन्होंने सिद्धयोग के विद्यार्थी-विद्यार्थिनियों पर महान उपकार किया है। भावी पीढ़ियाँ भी इस अमर ग्रन्थरचना के लिये उनकी सदैव ऋणी रहेंगी।

हमारे गुरुदेव अपनी निजी साधना के सोपान किस प्रकार चढ़ते गये, उस वक्त समय समय पर उनके सामने कौन-सी समस्याएँ उपस्थित रहीं, इनका उन्होंने जो ज्ञानपूर्ण, तर्कयुक्त, सुसंगत, हृदयस्पर्शी, रसमय सत्यकथन किया है, वह पढ़ते पढ़ते सिद्धयोग का साधक प्रथम क्षणभर के लिये अपने आप को भूल जाता

है, फिर कृतज्ञता से गद्गद् हो जाता है और तदनन्तर यह देखकर कि उसका अंधियारा मार्ग अब प्रकाशित हुआ है, उसके प्रश्नों के सभी उत्तर मिल चुके हैं और उसका आगे का रास्ता प्रशस्त हुआ है, वह आनन्दविभोर हो जाता है।

आज योगविद्या पर सभी भाषाओं में अनेक उपयुक्त ग्रन्थ उपलब्ध हैं। फिर भी हमारे गुरुदेव द्वारा रचित 'चित्शक्ति विलास' ग्रन्थ साधकों से प्रेमभरा वार्तालाप करते हुए जिस तरह उस महान रहस्य का सहज लीलया उद्घाटन कर दिखाता है, वैसा उद्घाटन और इतना सुबोध स्पष्टीकरण दूसरे ग्रन्थ करते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस ग्रन्थ की भाषा भी बहुत सरल, सादी और रसपूर्ण है। माँ जिस प्रकार आयु के अनुसार बालक के मुँह में कौर भरती है, उसी प्रकार गुरुदेव ने भी हम साधकों की धारणाशक्ति का ख्याल रखते हुए हम ग्रहण कर सकें उतना ही ज्ञानामृत धीरे धीरे पिलाया है। इसलिए ग्रन्थ पढ़ते समय किसी भी श्रेणी के साधक को 'छोटे मुँहं बड़ी बात' ऐसा नहीं लगता और कहीं भी वह क्लिष्टता का अनुभव नहीं करता। अतः पाठक जब एक बार उसे उठाता है, वह उसमें इतना खो जाता है कि उसे समय का भी भान नहीं रहता। क्लिष्ट, नीरस और शुष्क ग्रन्थ पढ़ते पढ़ते हाथ से फिसलकर स्वयं जैसे नीचे गिर जाता है वैसा इस ग्रन्थ के बारे में नहीं होता।

इस ग्रन्थ का विवेचन व्यक्तिगत साधना का सत्य कथन होने से उसे जीवनी या आध्यात्मिक उपन्यास का रोचक स्वरूप प्राप्त होकर उसमें मधुरता आयी है। हो सकता है कि लेखन में प्रसंगानुरूप पुनरुक्ति आयी हो। किन्तु वेदान्त जैसे गहन विषय को सरल एवं सुगम रीति से समझाने के लिये व्यासपद्धति अपनानी पड़ती है। इसीसे पुनरुक्ति अनिवार्य होती है। बँधी गाँठ को खोलने के लिये उन्हीं प्रयासों को बार बार करना पड़ता है। दीवार में कील ठोकते समय हथौड़ी का भी कई बार उपयोग करना पड़ता है। उसी प्रकार साधक की अज्ञानग्रंथि खोलने के लिये ग्रन्थकार को एक ही बात को बार बार समझाना पड़ता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ से आज की बड़ी आवश्यकता की एक पूर्ति हुई है। विशेष रूप में हम जैसे संसारी गृहस्थीजन प्रपंच में रहकर भी परमार्थ की प्राप्ति कैसे कर सकते हैं इसका उत्कृष्ट मार्गदर्शन इस ग्रन्थ में हम पाते हैं। **यत्र ध्यानं तत्र सर्वं** यही इस ग्रन्थ का रहस्य है। गुरुकृपा से उच्च ध्यान लग जाने से गृहस्थीसाधक की सब चिन्ता मिट जाती है। शारीरिक, मानसिक, सांपत्तिक, सांसारिक सभी प्रश्न, सभी अभाव समाप्त हो जाते हैं। सर्वांगीण विकास हो जाता है। जीवन की ओर देखने के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाता है।

ध्यान सुखी जीवन की कुंजी है। यह कुंजी मिल जाते ही प्रपंच के लिये परम अर्थ प्राप्त हो जाता है और साधक प्रपंच को ठीक तरह से सम्पन्न करते हुए परमार्थ की भी प्राप्ति कर लेता है। उसका सामान्य जीवन प्रकाशमान हो जाता है और वह

दिव्य जीवन का अधिकारी बन जाता है। संक्षेप में, साक्षात्कार के साध्य और साधन का अर्थ होता है सद्‌गुरु को स्वत्व का सम्पूर्ण समर्पण; और यह समर्पण हो जाते ही सुलीनता से सुनील-प्रभा तक हम जा सकते हैं।

धर्मस्थापनेचे नर। ते ते ईश्वरी अवतार।
झाले आहेत, पुढें होणार। देणें ईश्वराचें॥

इसलिये

ऐक्यभावाची अंजुली। सर्वेंद्रिय कुडमलीं
भरूनिया पुष्पांजली। अर्घ्य देवों॥

अर्थात् 'जो नर-नारियाँ धर्मसंस्थापना का कार्य करते हैं, वे ईश्वर के अवतार हैं। मनुष्यजाति के लिये ईश्वर की यह एक बड़ी देन है। इसलिये ऐक्यभाव की अंजलि में सर्वेंद्रियरूप सुमनपुष्पों का अर्घ्य हम बड़ी श्रद्धा-भक्ति से अर्पण करें।'

अतः अत्यंत कृतज्ञताबुद्धि से, साभार अंतःकरण से, परम प्रेमादर से, अति श्रद्धा से यह भावकुसुमांजलि हमारे परमपूज्य, प्रियतम श्रीगुरुदेव को और उन के इस अपूर्व, महान ग्रन्थराज को अर्पित करती हूँ।

सौ. कुसुमताई शर्मा
(स्वामी उमानन्द)

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना	पाँच
कुसुमांजलि	उन्नीस
मंगलकामना	सत्ताईस
श्रीगुरुदेव से प्रार्थना	उनतीस
समर्पण	इकतीस
आमुख	पैंतीस

प्रथम खण्ड

सिद्धमार्ग

१. परमात्मप्राप्ति का उपाय

संसारसुख के लिये ध्यान की आवश्यकता	६
प्रपंच में परमार्थ	१३
गुरु की महानता	१५
माँ चिति कुण्डलिनी	२४
साधना	२६
सिद्धपीठ की महत्ता	३४
गुरुध्यान	३९
चित्त	४२
मेरी ध्यानसाधना	४६

२ मेरी साधनकाल की अनुभूतियाँ

दिव्य दीक्षा	६०
मन की भ्रमयुक्त स्थिति	६८
रक्तेश्वरी	८०
तन्द्रालोक	८३
इन्द्रियविकार	८६
यौगिक क्रियाएँ	९७
श्वेतेश्वरी	११२
कृष्णेश्वरी	११४
सर्पदंश	११५
नरक और यमराज के दर्शन	११७
बिन्दु-भेद	११९
इन्द्रलोक को गमन	१२४
प्रतीकदर्शन	१२७
नीलेश्वरी	१२९
सर्वज्ञलोक	१२९
सिद्धलोक को गमन	१४२
स्वर्ण-कमल का सिर पर गिरना	१४४
पितृलोक	१४७
नादलोक	१५३
नीलपुरुष का दर्शन याने सगुण साक्षात्कार	१५९
मरणभय	१६५
सत् चिन्मय नीलिमा	१६६
ज्ञानोदय	१६८
साक्षात्कार	१६९
चिद्विलास	१७३

द्वितीय खण्ड

सिद्धानुशासन

१ सिद्धों का आदेश १८३

२ सिद्धविद्यार्थियों की जगत्क्रीड़ा १८८

३ बगुला ध्यान १९३

४ 'मैं-मेरा' त्यागो, घर नहीं २०३

५ प्रेम-साधना २२२

६ सर्वसिद्धि का मूल : गुरुप्रसन्नता २३७

७ सहजावस्था २४८

आशीर्वाद २५३

परिशिष्ट १

सिद्धविद्यार्थियों के कुछ अनुभव

१ संतसंगति अमोघ है : कु. निर्मला ठक्कर २५६

२ सिद्धयोग के पथ पर : कु. पन्ना नायक २५९

३ मैं भाग्यवान बनी : कु. मालती शेट्टी २६२

३ मेरा जीवन परिवर्तन : नॉनी पटेल २६४

५ तारणहार गुरुदेव : दिलीप पंडित २६६

परिशिष्ट २

कुछ चुने हुए अभंग २७०

चित्रों की सूची

१	स्वामी मुक्तानन्द परमहंस	तीन
२	भगवान श्री नित्यानन्द	छब्बीस
३	गुरुदेव नित्यानन्द जी के श्रीचरणों में	सत्ताईस
४	सुकी की साधनाकुटी सुकी में स्वामीजी	८८
५	नागद की साधनाकुटी नागद में स्वामीजी	८९
६	जीवात्मा के ज्योतिर्मय चार शरीर	१२८
७	षट्-चक्र	१२९
८	आश्रम में स्वामीजी	१८०
९	श्री गुरुदेव	१८१

मंगल कामना

जिनके कृपाकटाक्ष से सर्वारिष्ट का नाश होके परम मांगल्य प्राप्त होता है, जो सर्व मंगलों का मंगल हैं, उन परमगुरु नित्यानन्द जी के चरणकमलों का स्मरण करता हूँ।

जो मलरहित, परम शुद्ध, पूर्ण ब्रह्म हैं, जिनके सहवास से ब्राह्मी स्थिति सहज ही प्राप्त होती है, उन परब्रह्म श्रीगुरु का स्मरण करता हूँ।

सिद्धजनों के ध्यान के जो लक्ष्य हैं, वैराग्ययुक्त ज्ञान से प्राप्त जो परम साक्षी हैं, वेदान्त के जो आधार हैं, वे श्री नित्यानन्द हमें पूर्ण मंगल प्रदान करें।

जिनका कृपाप्रसाद पाकर मानव एक नयी चैतन्यदशा को प्राप्त करता है, जो शक्तिपात द्वारा अपनी आत्मशक्ति को शिष्यों में स्थापित कर उनको भी अपने जैसे पूर्णत्व में स्थिर करते हैं, वे परमगुरु श्रीनित्यानन्द इस ग्रन्थ की रचना में पूर्ण सफलता प्रदान करें।

जो सिद्धलोक के वासी होने पर भी सर्वत्र व्याप्त हैं, जिनका शुद्ध स्वरूप चैतन्य आत्मा है, जो शिष्यजनों की पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति हैं, जिनकी कृपा ही जीवब्रह्मैक्यबोध है, उन मेरे हृदयेश्वर श्रीगुरु नित्यानन्द जी को मंगल के लिये वन्दना करता हूँ।

सिद्धविद्यार्थियों के हृदय जिनका निवासस्थान है, जो सिद्धविद्यार्थियों में प्रवेश करके अनन्त क्रियात्मक रूप से कार्यान्वित होते हैं, उन सिद्धविद्यार्थियों के परम प्राणवल्लभ, श्रीगुरु नित्यानन्द से ग्रन्थ की पूर्णता के लिये प्रार्थना करता हूँ।

जो मेरे परम पिता हैं, भेद-अभेद से दूर हैं, जिनके व्यवहार में सर्वात्म-समता है, जो सहज में सिद्धावस्था देते हैं, उन सिद्धमार्ग-प्रदर्शक, प्यारे श्रीगुरुदेव को ध्यान-पूर्णता के लिये वन्दना करता हूँ।

हे कृपादाता सद्गुरु! तेरे से प्राप्त सिद्धविद्या तू ही है। तू पूर्ण रूप से सर्वत्र व्याप्त होने से तेरा दर्शन सिद्धविद्यार्थियों को नीलेश्वरी में बारम्बार होता रहता है। हे नीलमणि भगवान श्रीनित्यानन्द! तेरे चरणकमलों में वन्दना करता हूँ।

सिद्धविद्यार्थियों का 'मैं-मेरे' रूप अज्ञान नष्ट होते ही जो नील के अन्दर से तुरंत प्रगट होते हैं, आत्मध्यान जिनकी पूजा है, 'सोऽहम्' जपानुसन्धान जिनके स्मरण का मन्त्र है, पूर्ण समर्पण ही जिनका नैवेद्य है, ध्यानोत्तर परमानन्द स्फुरण ही जिनका शुद्ध स्वरूप है, सिद्धविद्यार्थियों के आराध्य होके सहस्रार में, चिन्मयपुंज के मध्य में, नीलपीठ में जो सदा के लिये विराजमान हैं—वे सर्वात्मा, 'तत्त्वमसि' पद के लक्ष्य, मुक्तानन्द के हृदय-विलासी, गणेशपुरीवासी श्रीनित्यानन्द सिद्धविद्यार्थियों को परमानन्द-अमृतवर्षा से पूर्ण करके चिरशांति और नित्यतृप्ति प्रदान करें।

श्रीगुरुदेव से प्रार्थना

श्रीगुरुदेव से है प्रार्थना, स्वर्गमय सभी का संसार हो।
'मैं-मेरी' जाती रहे अल्प भावना, हृदय में उदय चितिज्ञान हो॥
सभी जीवात्मा समता-प्रेम से नित आप की पूजा करें।
हरदम हमारी प्राणापान-गति 'सोऽहम्' मन्त्र जपा करे ॥ १ ॥

मुझ पर करो ऐसी कृपा, सर्वात्म भाव से आप की पूजा करूँ।
त्याग जाति-पंथ-भाषाभेद, मन में निर्मलता धारण करूँ॥
छोटे-बड़े, दुःखी-दीन, सज्जन-मूढ़ में, गुरुनाथ! तेरे दर्शन हों।
सरल चित्त, निर्मानी अन्तर, विद्यादानी, उदार हृदय दो ॥ २ ॥

वरदान दो गुरुवर! सदा हृदयमन्दिर में तुम्हारा ध्यान रहे।
सर्वत्र जो है व्याप्त ज्योति, सर्वात्मा! उसमें स्नेह रहे॥
बनी रहे, गुरु! तुझमें भक्ति, ज्ञान-योग-ध्यान में दृढ़ बुद्धि हो॥
रहूँ सदा मैं सिद्धविद्या का पुजारी, चित्त का चित्-शक्ति में प्रवेश हो ॥ ३ ॥

श्रीराम, कृष्ण, शिव, शक्ति के तुम में सदा दर्शन करूँ।
जहाँ तव सिद्धयोग विलसे, उस गणेशपुरी में वास करूँ॥
देश-भाषा-पन्थ-जातिभेद से छुड़ाकर समता-धर्म दो।
भर दो हृदय नित्यानन्द-स्फुरण से, नित्यानन्द-मति मेरी हो ॥ ४ ॥

सरलता, सत्य, वीरता, शौर्य, नीति, तेज सभी को प्राप्त हों।
जगत हो सब की आनन्दवाटिका; कल्पवृक्ष, कामधेनु से पूर्ण हो॥
हों जितेन्द्रिय सिद्धविद्यार्थी, उनकी क्रियायोग में रति हो।
मानव-मन्दिरों में, हे गुरुनाथ! तुम्हारे नित्य दर्शन पा आत्मतृप्ति हो ॥ ५ ॥

जब तक घट में प्राण, स्वकर्म-निष्ठा दो; तेरा अखंड स्मरण करूँ।
स्वकष्टमय जीवन बने, गुरुनाथ! आपका ही हरदम ध्यान धरूँ॥

इतना तो अवश्य कर दो, गुरुदेव! मैं सदा आप में समाया रहूँ।
पूरब-पश्चिम से उत्तर-दक्षिण तक, नित्य सर्वत्र आपका दर्शन करूँ ॥ ६ ॥

आप ही अलख निरंजन, परशिव, सत्-चित्-आनन्दरूप हो।
आप में जगत, जगत में आप, ऐसे अभेद, अनुपम-अनूप हो ॥
मुक्तानन्द कहै, श्रीगुरुनाथ! सिद्धविद्या पूर्ण फलने दो।
क्रियाशील हो ध्यान हमारा, नीलमणि में ही विश्रान्ति हो ॥ ७ ॥

सुखपूर्ण सदा विचरूँ जगमें, हृदय में तेरा सदा ही निवास हो।
मुक्तानन्द कहै, हे गुरुनाथ! हमारा जीवन संविद्‌विलास हो ॥ ८ ॥

समर्पण

मेरी माता को मुझसे बड़ा प्रेम था। इकलौता होने से उसका अति ही प्यारा, उसकी परमशिवआराधना था। परशिवशक्ति की पूजादि करके प्रसादरूप में उसने मुझे पाया था; तो भी मैं अपनी प्यारी माता को कुछ भी सुख न दे सका। उसको तृप्त न कर सका। इसके विपरीत, छोटी उम्र में ही घर से बाहर निकल गया। उसको बहुत कष्ट दिया। पुत्रशोक में, मुझे याद करते करते क्षीण होके अन्त में वह चल बसी। माताओं का अपनी संतानों पर बड़ा ऋण होता है। वे अपना रस देके उन्हें पालती हैं। अपना सुख बच्चे को देकर बच्चे के सुख में ही अपना सुख मानती हैं। न जाने मेरी माँ ने अपने प्यारे लाल के लिये क्या क्या न किया होगा? उसके क्या क्या संकल्प थे! क्या क्या विचार थे! कितने देवताओं और देवियों को मनाती कि मेरे बालक को सुख मिले। जितने ज्योतिषी आये होंगे उनसे पूछा होगा: मेरे लाल को औरत कैसी मिलेगी? बच्चे कितने होंगे? जगत में नाम होगा कि नहीं? मेरा लड़का विदेश जायेगा कि नहीं? यहाँ कारखाने कितने खोलेगा? मेरे लाल को मातृसुख मिलेगा कि नहीं? माताओं में यही प्रेम अपनी संतानों के लिये होता है। ज्योतिषी कुछ बोला तो बस, सभी देवताओं को वह मनाती है। गुरुवार, शुक्रवार, शनिवार—क्या सभी वारों को उपवास रखती है। बच्चे के पाठशाला जाने से माँ सोचती रहती है; 'शाला से कब आयेगा? अभी तक क्यों नहीं आया?' फिर दो बार अन्दर, दो बार बाहर देखती है। घड़ी देखती है। मोटर की ध्वनि ताकती है—'मेरा लाल क्यों नहीं आया?' माता के ऐसे अनन्त उपकार बालक पर होते हैं। ऐसा होते हुए भी निष्ठुर बालक चला जाता है। मातृस्नेह को न जाने वह कितने प्रकार से कुठाराघात करता है!

मेरी भी ऐसी ही दशा हो गई। पन्द्रह वर्ष की आयु से थोड़ा आगे बढ़ा। एक दिन मातृस्नेह-पितृस्नेह से दूर हो गया। ऐसा मुझे नहीं करना चाहिये था। क्या करूँ? जीवन में ऐसी निष्ठुरता होनी थी, हो गई। होनी ही चाहिये थी, हो गई। जब होश आया तब माता की याद आयी। वह भी मेरी फकीरी में, मेरे ध्यानयोग के साधना काल में, मेरे परमार्थपथ के विद्याभ्यास के समय में। कितनी माताओं ने—कुछ येवला की, कुछ चालीसगाँव की, कुछ कसारा की, कुछ कोकमठान की, कुछ वज्रेश्वरी की, और भी कुछ अन्य स्थानों की—मुझको अन्न, पानी,

स्नानसामग्री, कपड़े आदि देके मेरा रक्षण किया। मेरे लिये सब कुछ मेरे स्वभाव के अनुकूल, परम तपस्या के साथ किया। क्योंकि मेरा स्वभाव कुछ गरम था। संयम नहीं था। ग्यारह बजे का खाना सवा ग्यारह बजे हो गया तो बिगड़ जाता: 'क्यों देर किया?' पांच मिनट पहले हो तो भी बिगड़ जाता: 'क्यों जल्दी किया?' साधनाकाल में मेरा ऐसा मिज़ाजी, विचित्र स्वभाव था। उन माताओं ने कितना प्यार दिया! सच पूछा जाये तो वे ही मेरी पूज्य माताएँ हैं, जिन्होंने मेरे लिये इतना किया। भाव-भक्तिपूर्ण, शुद्ध, निष्काम होके मुझको खिलाया पिलाया; मेरा मिज़ाज सहा। थोड़ा-सा कुछ न्यूनाधिक हो जाता तो नहीं खाता। ठण्डा हो तो ठण्डा क्यों? गरम हो तो गरम क्यों? छिः छिः, मैं भी नहीं जानता कि इतनी अल्प चूक भी मैं कैसे सहन नहीं कर सका! मैंने थोड़ी भी दया नहीं की। थोड़ी भी क्षमा नहीं की। मन में थोड़ी भी शरमिन्दगी नहीं की। वे माताएँ अपने खर्च से, अपने श्रम से, अपने बाल-बच्चों से बचाकर मेरी सेवा करतीं। फिर भी न दया। न क्षमा। हे भगवान! इतना सब से बढ़कर मिज़ाज मुझे ही क्यों दिया? मुझे पता नहीं।

यही सब अम्माएँ, यही सब माताएँ—कुछ दिल्ली की मधुमयी, स्नेहयुक्त माताएँ और कुछ बम्बई की प्यारभरी माताएँ, मुझे अब भी एक संयमहीन बच्चा समझकर श्रद्धा, भक्ति, प्रेम से मेरे मातृस्नेह को पूर्ण कर रही हैं। यात्रा को जाता हूँ तो मेरे साथ जाती हैं। क्यों? बाबा की रसोई करनी है। दिल्ली जाता हूँ तो क्यों साथ जाती हैं? वहाँ बाबा की रसोई करनी है। सारे भारत की यात्रा में भी साढ़े ग्यारह बजे ही भोजन करता रहा हूँ। माताएँ प्रातः तीन बजे उठके मेरी रसोई बनाती हैं। मोटर में रखती हैं। फिर मेरा ऐसा कड़ा नियम है कि मेरे चलने के समय चलना ही चाहिये। उसके लिये जल्दी जल्दी तैयार होती हैं। फिर रास्ते में खाने पर भी गरम होना ही चाहिये; इसलिये थरमस बोतल रखती हैं। तीन बजे चाय होनी ही चाहिये। तो उसके लिये मोटर में ही स्टोव, मोटर में ही दूध लेके चलती हैं। तीन बजे रास्ते में ही चाय तैयार करती हैं। इन्होंने ऐसी तपस्या द्वारा मेरे मातृ-प्रेम को पूर्ण क्रियाशील रखा है। मेरा स्वभाव विचित्र होने पर भी उसे झेलती हैं, मेरे मिज़ाज को सम्भालती हैं। क्षोभरहित हो मुझको रखती हैं। मेरी माँ का अंश उनमें हुए बिना ऐसा होना सम्भव नहीं है। ऐसी अनेक माताओं और उनके पतिदेवों ने मुझ पर अनन्त उपकार किये हैं। उनको याद करके वे मुझे अपनी उदारता से क्षमा करें। आप माताओं को मैं मेरी जननी, मेरी अम्मा समझकर हृदय से नमस्कार करता हूँ। जिस चिदम्बा भगवती कुण्डलिनी के प्रति मुझे इतना स्नेह है उस चिति को आप ही में देखता रहूँ, ऐसी भगवान नित्यानन्द से प्रार्थना करता हूँ।

इधर एक माता ने मेरी यात्रा में तपस्या से साथ रहकर मुझको पुत्रवत् सम्भाला है। उनका शरीर स्वस्थ नहीं, तो भी उतनी ही सेवा! उनका आरोग्य अच्छा नहीं,

तो भी कोई आलस्य नहीं, प्रमाद नहीं। उनको अपने घर का ख्याल नहीं। बेटे-बेटियाँ कॉलेज में पढ़ते हैं, उनका मोह नहीं। घर की कौन देखभाल करेगा, अपने संसार का क्या होगा, इसकी कोई चिंता नहीं। कभी एक महीने, कभी दो महीने, कभी तीन महीने तक, चाहे अतिशय गरमी हो या बहुत ठण्ड हो या वर्षाकालीन महावेग हो, वे बाबा की रसोई, बाबा का योगक्षेम निभाती रही हैं। उन मातृतुल्य मेरी प्रिय श्रीमती शारदा अम्मा को, मेरे मातृदेव श्रीकुसुमेश्वरी की स्मृति में, यह ग्रन्थ समर्पित है।

आमुख

मैं सिद्धमार्ग का एक अनुयायी हूँ। सिद्धकृपा से जी रहा हूँ। मेरा जीना, मेरा खाना, मेरा स्नान, मेरा ध्यान, मेरा मन्त्र, मेरा प्राण, मेरी प्राप्ति, मेरा मोक्ष-धर्म और अधिक क्या कहूँ, मेरी विश्रान्ति सिद्धकृपा है।

परात्पर श्रीगुरु, पूर्ण सिद्धयोगेश्वर, सिद्धलोक के वासी भगवान नित्यानन्द मुक्तानन्द के परम आराध्य देवता और उसका अन्तरात्मा हैं। उनके कृपाप्रसाद से मैं जी रहा हूँ। उनकी कृपाशक्ति 'पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति' मेरे सर्वांग में व्याप्त होकर मेरे हृदय में अपना घर बनाकर रही है।

संसार की जनता में कोई भी ऐसा न समझे कि शुष्क, रसहीन भोग अपने लिये हैं और योग एवं ध्यान, ये सब विरक्त साधुजनों के लिये हैं। संसारीजन अपने सभी व्यवहारों के साथ साथ सिद्धयोग का पूर्ण अभ्यास सहज में कर सकते हैं। संसार में सिद्धविद्या के उपासक बहुत हैं। पूर्वकाल में अनेकानेक गृहस्थाश्रमी जन सिद्धविद्या के पुजारी थे, जो संसार में ही रहकर संसार और परमार्थ, दोनों का पूरा आचरण करके आदर्श नर-नारी बने।

यह मार्ग सभी के लिये खुला है। प्रत्येक पुरुष और नारी में एक दिव्यात्मशक्ति है जिसके बारे में ऐसा कहा गया है :

> **मूलाधारस्थ वह्न्यात्मतेजो मध्ये व्यवस्थिता।**
> **जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तेजसी॥**
> **महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी॥**
> **शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः।**
> **शक्ति कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा॥**

अर्थात् यह शक्ति परब्रह्मस्वरूपिणी महादेवी है। इसे लोग कुण्डलिनी के नाम से पुकारते हैं, जो मूलाधार कमल के गर्भ में मृणाल-नालिका के समान निहित है। वह कुण्डल आकार में रहती है। वह स्वर्णकान्तियुक्त, तेजोमय है। वह परशिव की परम निर्भय शक्ति है। वही नर या नारी में जीवरूपिणी शक्ति है। वह प्राणरूप है। इससे अकार से लेकर क्षकार तक सभी वर्णों का उदय होता है। मानव अपनी उस अन्तरंग शक्ति को जानकर संसार में रहते हुए उसका उपयोग

कर सके इसी उद्देश से मैं शक्ति का वर्णन कर रहा हूँ। कुण्डलिनी प्रणवस्वरूपा है। उस पारमेश्वरी कुण्डलिनी शक्ति के जग जाने पर जो संसार रूखा, सूखा, रसहीन, असन्तोषयुक्त दीखता है वही रसवान, हराभरा, पूर्ण सन्तोषरूपी बन जाता है।

जो आह्लादिनी, विश्वविकासिनी, पारमेश्वरी शक्ति है, जो चिति भगवती है वही कुल-कुण्डलिनी है। वह कुण्डलाकार में मूलाधार में स्थित होकर हमारे सर्वांग के व्यवहारों को नियमबद्ध करती है। वह श्रीगुरुकृपा द्वारा जागकर सर्वांग-सहित मानव के इस संसार को उसके अदृष्टानुरूप विकसित करके संसार के जनों में एक दूसरे के प्रति परम मैत्रीपूर्ण 'परस्पर देवो भव' की भावना का उदय करते हुए, संसार को स्वर्गमय बनाती है। संसार में जो कुछ भी अपूर्ण है उसे पूर्ण करती है।

यह पारमेश्वरी शक्ति जिस पुरुष में अनुग्रहरूप से प्रवेश करती है, उसका कायापलट हो जाता है। अपनी अन्तरशक्ति की व्याप्ति का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर ऐसे पुरुष का अपनी प्रिय पत्नी में पूर्ण प्रेम और स्वार्थरहित स्नेहसम्बन्ध हो जाता है। पत्नी नारी नहीं, पारमेश्वरी कुण्डलिनी है ऐसे ज्ञान का उदय होता है। पति के प्रति पत्नी में चितिभाव प्रकट होने पर उसके हृदय में पूर्ण श्रद्धा, सेवाभाव और आत्यन्तिक स्नेह का उदय हो जाता है। इतना ही नहीं, इसके प्रभाव से पति मानव नहीं, परमेश्वरस्वरूप है ऐसा पूर्ण ज्ञान हो जाता है। वह गुरुकृपाशक्ति जिस माता में प्रविष्ट होती है उसका सारा संसार आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। इस शक्ति का प्रभाव माताओं में व्याप्त होने से उन्हें अपने लड़के-लड़कियों के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और उनको विद्या, विनय, कला-कौशल्य से पूर्ण करने की क्षमता आ जाती है। इस शक्तिपातरूप परमशक्ति का अनुग्रह होते ही उन में अपने बच्चों को परम उन्नति के पथ पर ले जाने की योग्यता आ जाती है। यह ज्ञान न कल्पित है और न केवल मुक्तानन्द का ही श्रुतिवाक्य है। रुद्रहृदयोपनिषद् का एक सत्य, प्रमाण-मन्त्र है :

रुद्रो नर उमा नारी तस्मै तस्यै नमो नमः।

ऐसा ज्ञान उदित होता है कि जो आदि-सनातन सत्य, साक्षी परमेश्वर, जगत का मूल कारण, परमाराध्य, निर्गुण, निराकार एवं अज है, वही नर है। वही मेरे पतिदेव हैं। उस परमशिव की पराशक्ति कुण्डलिनी है जिसको चिति, उमा, दुर्गा, प्रतिभा, मालती कहते हैं। उस पारमेश्वरी से जगतकार्य चलता है। वह परशिव की प्रिय रानी, अर्धांगिनी है। वही राधा, सीता, मीरा होके सुकन्या, गृहिणी, सती, पतिव्रता, मातृ, योगिनी, जननी आदि संज्ञाओं को धारण करती है। वही नारी है। वही मेरी पत्नी है। उन दोनों को नमस्कार है। इस प्रकार संसार के मानवों को

एक नया ज्ञान हो जाता है। ऐसी श्रीगुरुकृपाशक्ति को पाकर संसार स्वर्गमय बन जाता है। इसी उद्देश्य से यह ग्रन्थ लिखा गया है।

यह पराशक्ति सारे मानववर्ग में फैल जावे। सभी लोग उस कुंडलिनी शक्ति के विलास के विकास में अपने को विकसित करें। नर-नारी इस शक्ति को पाकर एक दूसरे में पूर्ण प्रेम से, अर्थात् जो केवल कुछ गरज का प्रेम नहीं है, पूर्ण ज्ञान से अन्तरविकसित चितिविलास को पाकर, तेजोमय होकर रहें। पति-पत्नी एक दूसरे को विलासभूमि न समझते हुए, परस्पर सम्मान, सत्कारयुक्त होकर रहें। समस्त संसार की नारियाँ अपनी विकसित हुई शक्ति देखकर, शक्ति की महिमा को प्रत्यक्ष पाकर, 'मेरा पति उसी पराशक्ति की एक पूर्ण किरण है' ऐसा समझकर आदरभाव, मैत्री, पूर्ण सेवाभाव को ही सच्चा धर्म समझकर उपासनायुक्त बनें—यही मुक्तानन्द की आकांक्षा है।

संसार के सभी नर-नारी दूसरी भी एक बात याद रखें कि यावन्मात्र जगत चिति भगवती से व्याप्त है। इस संसार का मूल चिति है। संसार का सहायक चिति है। संसार चिति में ही व्याप्त है। चिति वह है जिसे परमशिव परमात्मा कहा जाता है, जो विश्वातीत है, पूर्ण पुरुष है, निर्गुण है, सर्वाधार है, जो वेदान्तोक्त 'नेति-नेति' का लक्ष्य है, 'अहं ब्रह्मास्मि' का परम आधार है, जो चिदात्मा है। चिति उससे भिन्न नहीं है। यह परमशिव की तन्मय, अभिन्न पराशक्ति है जिसको 'शिवशक्ति' भी कहा जाता है। इसी का सौन्दर्य इस स्थावरजंगमात्मक जगत में प्रकट हुआ है। यह परशिव की परम अभिन्न चित्‌शक्ति है! इसका अपना आत्मस्फुरणरूप बहिःप्रसरण ही यह प्रत्यक्ष जगत है। वही महाचिति भगवती प्रत्यक्ष व्यवहार में आने वाले विश्व में, परस्पर अनुकूल-प्रतिकूल, साधक-बाधक रूप में अनेक प्रकार से भासती है—**तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्** (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र–३)। ऐसा भासने पर भी परम स्वतंत्ररूप चिति, अपनी ही स्वतंत्रता में अपनी स्वतंत्र शक्ति से छत्तीस तत्त्वरूप बन जाती है। नारी-नर या प्रकृति-पुरुषरूप धारण करती है। संसार में कितने भी विभाग होने पर भी दो ही मुख्य हैं। एक पुरुष, दूसरा प्रकृति। एक नर, दूसरा नारी। ये दोनों प्रकार सर्वत्र व्याप्त हैं। पशुओं में, पक्षियों में, वृक्षों में भी ये उभय प्रकार हैं। अन्य क्रियाओं में भी श्रेष्ठ-कनिष्ठ, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, आनन्द-क्षोभ आदि दो ही प्रकार अनन्त रूपों में सर्वत्र हैं। ऐसा होने पर भी एक ही चिति ग्राह्य-ग्राहक बनी। मेरे कहने का हेतु यह है कि संसार में चिति की ही व्याप्ति है। संसार चिति का है। संसार चिति ही है। ज्ञानचक्षु से देखने पर संसार में चिति बिना कुछ दीखेगा नहीं।

मानव इसे समझे या न समझे। अपनी अन्तरशक्ति विकसित न होने पर भी एक बात को अवश्य याद रखे कि संसार में मनुष्यदेह धारण कर के परमेश्वर ही रहता है—**मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः** (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)। यदि मानवदेह

धारकर परमेश्वर ही रहता है तो सिद्धयोग के साधक अपनी अन्तरशक्ति का विकास सहज में ही कर सकते हैं। ऐसा होते हुए भी संसार के लोग उस चिति का ज्ञान नहीं रखते, यह कितनी भूल करते हैं। उसे नहीं देखते। उसे अपने में नहीं पूजते। इसी शिवशक्ति की व्याप्ति में साधारण मानव को भेद भासने पर भी गुरुकृपावलम्बी को केवल पूर्ण प्रेममय अभेद ही भासता है। हे संसार के यात्रियो! यदि आपको अपनी यात्रा निर्विघ्न पूर्ण करनी है तो आप अपनी आराध्य चिति कुण्डलिनी महेश्वरी का ज्ञान रखिये। ध्यान द्वारा उसे जगाइये, जगाकर उसे देखकर सुख से संसार करिये। इसकी आनन्दमयी प्रभा ही गुरुजनों का रूप है। ऐसी परब्रह्ममयी कुण्डलिनी महाशक्ति का ही चित्शक्ति कहकर वर्णन कर रहा हूँ। आपमें श्रीगुरु-प्रसाद रूप में जागी हुई चिति-कुण्डलिनी परम कुशलता से आपकी यात्रा पूर्ण करेगी। यह ध्यान-योग संसार में परमार्थ पथ-प्रदर्शक महायोग है। आप चिति के प्रसाद से महान बनेंगे। आपका संसार योगमय बनेगा; रसवान, बलवान, श्रेय-प्रेय बनेगा। आपका घर बनेगा काशी। व्यवहार बनेगा नित्यनेम। आपके साथी बनेंगे देवी-देवता। भोजन बनेगा नैवेद्य। सर्व कर्म परमात्मा-पूजा बनेंगे। ऐसा होते होते उसका अन्तिम फल, चिति में ही पूर्ण हो जाना, आपको प्राप्त होगा।

हे मातृ-पितृरूप परमेश्वरी चित्शक्ति, आप शक्ति हैं। आप शिव हैं। आप अन्तःस्फुरणरूप आत्मा हैं। आपके दोनों रूप, जगतरूप और आत्मरूप, परमानन्दमय एवं सौन्दर्ययुक्त हैं। आप का ज्ञान पूर्ण रूप से जब तक नहीं होता तब तक शिव-शक्ति, जगत–माया, बन्ध–मोक्ष, विषय–त्याग, परमार्थ–प्रपंच इत्यादि अनेक आरोप भूले जन आप में ही करते रहते हैं। हे परम आदरणीय महाशक्ति, जब आप गुरुरूप से कृपा करके शिष्य के अन्तर में प्रविष्ट होती हो तब उसको अन्तर्ज्ञान से, बाहर भी आपके ही पूर्ण विलास का बोध हो जाता है। सिद्धयोग, कुण्डलिनी, महापूजा, ध्यानयोग आप की ही एक आत्मकृति है, जिस कृति में आप ही पूर्ण रूप से व्याप के, ध्यान-साधन को पूर्ण करके अपना स्वरूप-स्थान प्रदान करती हैं।

जैसे पट में सर्वत्र तन्तु ही व्याप्त हैं, घटरूप में मिट्टी ही रहती है, वैसे ही इस अखिल जड़–चेतनात्मक जगत के रूप में आप ही सजी हैं, ऐसा ज्ञान होने पर भेदों के बीच में भी अभेद भासता है। व्यवहार में भी परमार्थ के दर्शन होते हैं। हे परशिव की पराशक्ति, जब साधकजन 'नमः शिवाय', 'सोऽहम्', 'ॐ' करके आपका स्मरण करते हुए स्वयं को पूर्ण विस्मृत कर देते हैं तब आप उनके अंतर में प्रकट होती हैं। हे स्वतंत्र परम सत्ता, सभी मन्त्र आपके ही नाम हैं। सभी तन्त्र आप की ही कृति हैं। जगत आप का प्रकट विग्रह है। हे संवित्ति! नाना रूप, नाना रंग, नाना आकृतियों का अनन्त विग्रह-समुदायरूप यह जगत आप का ही बहिःस्फुरण है। आप को अनन्त नमस्कार हैं।

जैसे सूर्य से किरण भिन्न नहीं, जल से तरंग भिन्न नहीं, पृथिवी से पृथिवीकण भिन्न नहीं, वैसे ही अनन्त रूप से भासनेवाली हे चितीश्वरी, आपके अनन्त किरण-पुंज की एक किरण, आप से अभिन्न, आपका मुक्तानन्द है। मुक्तानन्द का उदय आपसे, जीवन आप से, अन्तिम लय आप में है। वह आप का ही मुक्त, आप से ही मुक्त, आप में ही मुक्त है। आपको अनन्त नमस्कारयुक्त मेरा यह ग्रन्थ अर्पण है।

मेरे प्यारे सिद्धविद्यार्थियों और सिद्धविद्यार्थिनियों ने मुझसे अपनी साधना के अनुभवों के विषय में लिखने की प्रेमभरी प्रार्थना की। तदनन्तर मेरी प्यारी अम्मा और योगिनी कुसुमताई शर्मा के अति आग्रह के कारण मैंने इस ग्रन्थ को सोमवार १२ मई १९६९ के दिन, महाबलेश्वर में, श्रीआनन्दभवन में लिखना आरम्भ किया।

यह एक छोटा-सा ग्रन्थ है। वस्तुतः इसका विषय एवं स्वरूप पूर्वकालीन महापुरुषों के लिखे हुए ग्रन्थों जैसा नहीं है। उन ग्रन्थों की महत्ता भी बड़ी है। इस ग्रन्थ में चिति की ही सब कृति है। चिति का ही प्रसाद है। चिति की ही क्रिया है। चिति भगवती का ही सिद्धयोग है। इसमें चिति की ही प्राप्ति होने से इसका सहज में ही 'चित्शक्तिविलास' नाम स्फुरा है, नाम रखा नहीं गया।

प्रथम खण्ड

सिद्धमार्ग

१

परमात्मप्राप्ति का उपाय

परमेश्वर सर्व व्यापक, पूर्ण और नित्य है। सब के अन्दर-बाहर व्यापक होते हुए भी, सब के अन्तर्यामी, अन्तरात्मरूप में हृदयमंदिर में निवास करने पर भी उससे कुछ व्यक्तियों का ही परिचय है। कई भूले जन ऐसा समझते हैं कि परमेश्वर हृदय में तो है ही नहीं, भूमंडल में भी कहीं नहीं है। परमेश्वरवाद मिथ्या है ऐसा आजकल समझा जा रहा है। कुछ निसर्गवादी हैं। वे मानते हैं कि सृष्टि का आदिकारण 'प्रकृति' या 'स्वभाव' है। अणु-परमाणुओं के संयोग से सृष्टि बनी है, उसका कोई रचयिता नहीं। कुछ दूर-ईश्वरवादी हैं। वे लोग ईश्वर को हृदय में प्रत्यक्ष विराजमान नहीं मानते। उनके मतानुसार ईश्वर कहीं दूर वैकुण्ठ, कैलास या पाँचवें या सातवें आसमान में रहता है। कुछ नवमतवादियों का तो कहना है कि यदि परमेश्वर होता तो दुनिया में इतनी विषमता, इतना कष्ट, इतना दुःख क्यों होता? कहीं अतिवृष्टि तो कहीं अनावृष्टि, कहीं अकाल तो कहीं सुकाल, ऐसी विषमता क्यों दीखती? समय पर बारिश नहीं, पीने को पानी नहीं— पीना हो तो आँखों से झरनेवाले आसूँ! खाने को पूरा अन्न नहीं—खाना हो तो पेड़-पौधों के पत्ते! रहने के लिये घर नहीं, लज्जा निवारण के लिये वस्त्र नहीं। ऐसी दुर्दशा क्यों होती? ऐसी अनेकानेक नयी-नयी शंका-कुशंकाओं से तर्क करते रहते हुए वे लोग अपने हृदय को श्रद्धारहित एवं शुष्क बना लेते हैं।

जगत में कई ऐसे देश हैं जिनके पास अन्नधान्य की विपुलता है, धन की समृद्धि है; इसका कारण उनकी तपस्या है, दृढ़ पुरुषार्थ है। जापान जैसा छोटा-सा देश भी, जहाँ उपयुक्त मिट्टी नहीं, अन्नधान्य की दृष्टि से आत्मनिर्भर है। वे लोग अन्न उपजाने की कला की पूर्ण श्रद्धा के साथ उपासना करते हैं। 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम' ऐसी अकर्मण्यता में उनका विश्वास नहीं। कर्तव्यशून्य होकर रहना, आलसी बन

जाना और फिर परमेश्वर से रूठकर कहना कि यदि परमेश्वर हो तो हम क्यों भूखे हैं? यह विडंबना नहीं तो क्या? परमेश्वरवाद को अपनी गरज, याने अपने संसार को पूर्ण कराने का व्यवसाय नहीं बनाना चाहिये। परमेश्वर होते हुए भी मानव के परमेश्वरविमुख होने से, श्रद्धाविरहित जीवन जीने से उसकी यह दुर्दशा होती है।

मैंने एक ऐसा परिवार देखा जिसमें सात डॉक्टर थे। वे सब एक-एक विषय के निष्णात थे। उस घर में एक बालक बहुत बीमार हो गया। वह कुपथ्याचारी था। उसने दवा के साथ परहेज़ नहीं पाला। उसकी बीमारी बढ़ती गयी। इसलिये उस बालक को किसी अन्य स्थान में दूसरे डॉक्टर के उपचार में रखा गया। फिर क्या ऐसा सन्देह करना ठीक होगा कि उन डॉक्टरों की दवा में कुछ गुण नहीं था? सत्य यह है कि मानव अपने कर्म का ही फल परमेश्वर से प्राप्त करता है। उसका जैसा जैसा कर्मभाव होता है वैसा ही फल उसे मिलता है। अस्तु।

परमात्मा के बारे में अनुमान व्यर्थ है। वे पूर्ण प्रकट हैं, सूक्ष्म हैं। हमारी अन्तर-बाह्य सब क्रियाओं के वे निष्क्रिय आधार हैं। हमारे भारत में कई अद्भुत स्थान हैं, सिद्धों की भूमियाँ हैं; वे सब हमें कहाँ दीखती हैं? हम उन्हें देख नहीं पाते, इसका अर्थ यह नहीं कि ऐसे स्थान या ऐसी भूमियाँ विद्यमान नहीं हैं।

वैसे ही हमारे अन्तर में एक महान दिव्यशक्ति कार्य करती हुई प्रकट-रूप से विराजमान है। उसके विषय में ऐसा कहना कि वह नहीं है, यह कोरा बुद्धिवाद है। परमात्म-सत्ता ने इस बाह्य जगत में उसके अनुरूप, और अन्तरजगत में उसके अनुरूप, व्याप्त होके जगत को निवास योग्य बना रखा है। यदि इस जगत में परमात्मा न हो तो इसमें कौन जियेगा? कौन अपने प्रपंच को निर्मल बनाने का प्रयास करेगा? जगत यदि कुछ रुचिकर है, सुखमय है तो वह परमात्मा के कारण। भगवान की महिमा अनन्त है। उस अनन्त के होने से ही हम सभी उनकी ही रुचि की, उनकी ही मधुरिमा की अनुभूति लेते हैं। परमानन्दमय परमेश्वर का ही आनन्द जगत में प्रतिबिम्बित होने के कारण हम संसार के सारे भोगों में, सारी क्रियाओं में, अपनी अल्पतृप्ति का आनन्द उठा लेते हैं। अन्नों की रुचि में, जल की मिठास में, स्वरों के एवं रागरागिनियों के आलापों में,

खिलते फूलों की मधुर मुस्कान में, शिशु की किलकारियों में, उस परमेश्वर के आनन्द की ही छाया को हम पा लेते हैं। रंग-बिरंगे फूलों के सौंदर्य में यदि परमेश्वर का तेज न होता तो क्यों उनके प्रति हमें इतना आकर्षण होता? क्यों इतना प्रेम होता? आम, अनन्नास, संतरा, अनार आदि फलों में परमात्मा का सौंदर्य, उसका माधुर्य और रुचि न होती तो ये फल हमें इतने मीठे क्यों लगते? उनकी यह मिठास, यह रसमय मधुरता उस भगवत्-तत्त्व के कारण ही है। इस सादे, निर्मल जल में कितनी मिठास है! सूरज की अनन्त रंग की तेजोमयी किरणों से आपको कितना स्नेह है! इतना ही नहीं, इन सुकोमल किरणों का स्पर्श होते ही कमल खिल जाते हैं, वनस्पतियाँ खुश होकर डोलने लगती हैं, पक्षीगण आनन्दविभोर होकर गाने लगते हैं। सावधानी से, सूक्ष्मता से देखो। ये वृक्षलताएँ, ये सूर्यकिरणें, परस्पर प्रेम से एक दूसरे के प्रति समर्पण में यज्ञरूप पूजा करके मौन वाणी में एक दूसरे से मिलते हैं। मन्द मन्द बहनेवाली वायु में क्या दिव्य नाद है! क्या मधुर, शीतल, सुखद स्पर्श है! यह सब प्रकट परमेश्वर का प्रेम-प्रवाह है, लेकिन मानव परमात्मा के परिचय से वंचित रहने के कारण इस चैतन्यमय विश्व में कुछ विपरीत ही देख लेता है। ज्ञानहीन स्थिति में उसे न्यूनाधिक का आभास होता है।

यह जगत परब्रह्म का ही पूर्ण प्रतिबिम्ब है। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** यह वेदान्त का कथन पूर्ण सत्य है। यह सब कुछ परमात्मा है। सर्व देश, सर्व तीर्थ, सर्व नाम परमात्मा के हैं। उच्च-नीच का भेद व्यक्तियों की दृष्टि में है। वस्तुतः भूमंडल के सर्व स्थान प्रभु के क्षेत्र हैं। सर्व जलाशय परमात्मा के तीर्थ हैं। जगत के सभी आकार-रूपों में परमात्मा के नाम की ही ध्वनि है। अनन्त की महिमा अनन्त, नाम अनन्त, लीला अनन्त। परमात्मा का कोई अन्त नहीं है। कितना भी पढ़ लो, फिर भी थोड़ा शास्त्र बच रहेगा; कितने भी तीर्थ फिरो, फिर भी थोड़ा क्षेत्र बच रहेगा। कितनी ही दूर देखो, आगे और भी कुछ देखने को रह जायेगा। ऐसी भगवत्-तत्त्व की दिव्य व्यापकता है, दिव्य विशालता है, दिव्यातिदिव्य महिमा है। यह अल्प आयु, क्षणभंगुर शरीर और आपत्तियुक्त संसार—ऐसी दशा में उस परमात्मा को पाने की नितान्त आवश्यकता है। परंतु उसे पाने का मार्ग बहुत कठिन है।

मानव की जैसी एक परम्परा होती है वैसे ही भगवत् तत्त्व की भी होती है। अनादि परमेश्वर से जगत की परम्परा है। इसमें अनुमानयुक्त सन्देह ठीक नहीं। बीज से प्रतिबीज अपने पूर्वरूप में ही उदित होता है। आगे उगनेवाले बीज में भी वही है जो पहले उगा था। इस क्रमानुसार ब्रह्म से ब्रह्म ही जनमता है। यावन्मात्र मानवों के सभी आत्मा परब्रह्म परमेश्वर के ही पूर्ण अंश हैं। पूर्ण से पूर्ण ही, पूर्ण रूप से उदित होके, पूर्ण भाव में पूर्ण ही रहता है। ऐसा सत्य नियम होते हुए भी हम मानवजन अपूर्ण की अनुभूति करके इतना छिन्न-भिन्न होकर क्यों रोते चिल्लाते रहते हैं? कारण है स्व-स्वरूप का विस्मरण, जो मिथ्या होने पर भी महाबली है। इस विस्मरण का ही नाम अज्ञान, अविद्या, माया या मलदोष है। यही अविद्या नारायण को नर, सदाशिव को जीव, मुक्त को बद्ध बना देती है, और 'मैं-मेरा' करा के संसार की द्वंद्व-यातना को भुगवाती है। नाना प्रकार के कष्ट देती है। इससे छूटने का एक ही उपाय है—परमात्मा की प्राप्ति अथवा आत्मदर्शन।

संसार सुख के लिये भी ध्यान की आवश्यकता

इस शरीर में अनेक प्रकार की वस्तुएँ हैं। मानव यदि एक बार भी अपने शरीर का ध्यान द्वारा संशोधन करे, तो सचमुच उसको महान लाभ होगा। इस शरीर में न जाने क्या क्या है! मस्तक में कितने चक्र हैं! कितने प्रकार के अमृत-भरे रसों के कुंड हैं! कितने प्रकार के ज्ञानतन्तुओं के पुंज हैं! कितने प्रकार के संगीत-सम्मेलन हैं! कितने प्रकार की सुगन्ध है! कितने प्रकार के रवियों की रश्मियाँ हैं। कितने देवताओं के निवासस्थान हैं! ऐसा होते हुए भी, अभागा मानव भ्रमयुक्त होकर शुष्क वहिरंग जगत में ही रमता है। 'श्वाननलकवत्' मनुष्य के जीवन का व्यवहार हो गया है, याने जैसे श्वान शुष्क हड्डी की नली को चबाते रहता है, आखिर उसमें से कुछ नहीं मिलता; विपरीत उसके दांतों में से खून निकलता है, वैसे ही मनुष्य बाह्य जगत में रस ढूँढ़ता है, लेकिन आख़िर पाता है क्या? श्रम और नीरसता।

बाह्य जगत से अन्तर जगत श्रेष्ठ है। कर्णगोलकों में दूर-श्रवण का क्या एक स्थान है! आपके कण्ठस्थान में क्या एक महत्त्वपूर्ण निद्रास्थान है जो आपकी

जागृतावस्था के सभी श्रमों को सहज में नष्ट करता है! मानव जागृतिकाल में अथवा दिन में कितना भी क्यों न प्राप्त करे, अन्त में उसको श्रम ही मिलता है। चाहे वह हाथी-घोड़े पर चढ़े, अथवा सुखपालकी पर चढ़े या किसी अन्य पर चढ़े, दिन के अन्त में वह श्रमित ही हो जाता है। द्रव्य प्राप्त करे, सोना प्राप्त करे, राज्य प्राप्त करे, दिन के अन्त में उसे श्रम ही मिलता है। नाटक देखे, जगत के सारे सौन्दर्यों को देखे, या मोती-माणिक्यों की खान देखे, दिन के अन्त में उसे श्रम ही मिलेगा। सभी उपाधियाँ अथवा पद्मविभूषणादि पदवियाँ प्राप्त करे, पर जागृति के अन्त में श्रमराज द्वारा ही उसका स्वागत होता है। आप चाहे विश्व के स्वामी अथवा सत्ताधारी बनें, पर आप श्रम प्राप्त करते हैं। अस्तु।

श्रम-निवृत्ति के लिये जब आप रात को या दिन में सोते हैं तब आप के कण्ठस्थान में ही श्रम का निराकरण होता है। आप को वहीं पर निद्रा लगती है। मेरे आत्मीयो! आप जब सोते हैं तब अलंकार की अपनी सभी वस्तुओं को अलग रख देते हैं; क्योंकि सोते समय कमायी हुई सम्पत्ति की कोई भी वस्तु आप के काम नहीं आती। निद्राकाल में आप की बहुमूल्य वस्तु या सम्पत्ति का आप को केवल स्मरण भी हो जाय तो निद्रा भंग हो जाती है। सम्पत्ति को भूलने से ही निद्रा आती है, वरना निद्रा आने की गोली की शरण लेनी पड़ती है। जब आप निद्रा से सोकर उठते हैं तब सुख और स्फूर्ति का अनुभव करते हैं। जब निद्रा नहीं आती तब आप को बेचैनी होती है, पागलपन-सा हो जाता है और अत्यन्त पीड़ा होती है। इससे सिद्ध है कि निद्रा एक सम्पत्ति है जो कण्ठस्थान में रहती है और जिसे मैं श्वेतेश्वरी कहता हूँ। यहाँ विशुद्ध चक्र है और उसका एक देवता भी है। यदि आप ऐसे कण्ठस्थान को, जहाँ परम सुखमयी निद्रा प्राप्त होती है, नहीं देखते, तो आप अपने शरीर को क्या समझेंगे?

आप के हृदयस्थान में हृदयकमल है जिसके प्रत्येक दल के पृथक्-पृथक् गुण हैं। हरेक दल क्रमशः काम, क्रोध, मोह, लोभ, प्रेम, लज्जा, ज्ञान, वैराग्य, आनन्द, सर्वज्ञता आदि कलाओं से युक्त है। हृदय के अन्तर्गत अंगुष्ठमात्र आकाश है। यहाँ एक दिव्य ज्योति जगमगाती है, इस ज्योति को देखने में ही मुनियों ने अपने जीवन पूर्ण कर दिये हैं। क्या महान स्थान है! कैसी यह हृदयाकाश की ज्योति है! क्या यह भगवती परमेश्वरी

कुण्डलिनी है, जिसकी विकास-मुद्रा से ही मानव की काया पलट जाती है! ऐसे अनन्त गुणों का भंडार अपने अन्दर होते हुए भी हे जीव, तू बाह्य जगत में न जाने कौन-सा सुख देखना चाहता है! तू ध्यान नहीं करता, सत्कर्म नहीं करता, अपने कीमती शरीर को अच्छी तरह से नहीं निभाता! इन सब के बिना तू कैसे सुख पायेगा?

हे अचेत मानव, तू चेत जा। ध्यान कर। मोक्ष के लिये नहीं, धर्म-साधना के लिये नहीं, योग-पदवी पाने के लिये नहीं, प्रशंसापात्र बनने के लिये नहीं; लेकिन अपनी सांसारिक वस्तुओं की पूर्ति के लिये तो ध्यान कर। तू संसार में रूप को चारों ओर ढूँढ़ता है, पर नहीं मिलता और थक जाता है। तू सिनेमा-नाटक में आनन्द ढूँढ़ता है, देश-विदेश में उसके लिये घूमता है, पर नहीं मिलता। आखिर होता क्या है—रूप ढूँढ़ते ढूँढ़ते तू स्वयं अपना रूप गवाँ देता है; कुरूप बनता है; और जब आनन्द ढूँढ़ता है, तब कष्ट और श्रम मिलता है। अब बता, तेरी इस खोज में कितनी यथार्थता है?

और भी बता! तूने तरह तरह के अन्नों में रस को ढूँढ़ा—चाय में ढूँढ़ा, कॉफी में ढूँढ़ा, कोका-कोला में ढूँढ़ा, खीर में ढूँढ़ा। उसके लिये होटल गया, क्लब गया, पर वास्तव में तुझे क्या मिला! उसे खोजने में तू स्वयं बेरस हो गया। तेरा मुख सूख गया, पैसे समाप्त हो गये। रस के बजाय रोग तेरे पास आये और जीवन चला गया। तूने अनेक प्रकार के रसयुक्त अन्न पकाते पकाते, उनको खाते खाते अपने ही रस को नष्ट कर दिया। जो रस पहले था वह भी चला गया। हृदय में जो सच्चा, आनन्दमय, विमल, अनमोल रस था, उसे नहीं पाया।

गन्ध की खोज भी तेरी ऐसी ही निकली। नये नये इत्रों में, सुगन्धित पुष्पों में और पेरिस के 'पात्रा' सैंट में भी तूने रमण के लिये गन्ध ढूँढ़ी और लगायी। सुगन्ध ढूँढ़ते ढूँढ़ते बुढ़ापा आया। अन्त में दुर्गन्ध ही प्राप्त हुई। अरे जीवात्मा! ज़रा ध्यान करके देख, भ्रूकुटी और नाक के संगम-स्थान पर अनुपम सुगन्ध है। भाई! वहाँ दुर्गन्ध भी सुगन्ध बन जाती है। वहाँ जीवात्मा परमानन्दमय बनता है।

फिर शब्द के ख़ातिर भी तूने बहुत किया। 'सभी मुझे अच्छे शब्दों से पुकारें' ऐसी आशा रखी। शब्द के ख़ातिर न जाने कितने जनों को

तूने रिझाया, कितने जनों को फुसलाया। समाचारपत्र में देखा कि अपने विषय में क्या लिखा है? अपनी कितनी प्रशंसा की गयी है? पैसा देकर गुप्त रूप से एक पुस्तक लिखवायी। किसीने ख़रीदी नहीं तो मुफ्त में बाँटी। प्रशंसा के शब्द सुनने को कितना पागल बना! पति ने क्या कहा? पत्नी क्या कहती है? बाबा या किसी और ने क्या कहा? सभा में अपने विषय में क्या कहा गया? अच्छे शब्द सुनकर तू खुश तो हुआ, पर असली आनन्द नहीं मिला और न ही तन में मस्ती आयी। मुख पर तेज की किरण भी नहीं चमकी। शब्द के खातिर तूने अच्छा संगीत सुना, राग-रागिनियाँ सीखीं; फिर भी अन्तर की प्रेम-कली नहीं खिली। जिस शब्द को सुनकर संतजन कहते हैं : **सोऽहम् शब्दाचि ठाई पहुडत झालों**, वह शब्द नहीं सुना। आखिर वह शब्द खोया। अरे जीवात्मा, तू कहाँ जा रहा है? सब सुना, लेकिन गुरुमुखी एक ऐसा शब्द नहीं सुना, जिस शब्द से अमर रस का पीना होता है, जिस शब्द से सारे संसार में नये चैतन्य की चमक चमकने लगती है।

अब स्पर्शसुख को देख, उसके लिये तो तू पूर्ण पागल बना। गद्दी में देखा, नहीं मिला। कपड़े में देखा, नहीं पाया। फूलों की शय्या में देखा, उसमें भी नहीं मिला। मखमल के वस्त्रों में खोजा, पर नहीं पाया। जहाँ स्पर्श है ही नहीं वहाँ भी ढूँढ़ा। स्पर्श को ढूँढ़ते ढूँढ़ते तेरे जैसी ही एक मानव आकृति को पाकर उसमें स्पर्श सुख खोजा, लेकिन वहाँ भी वह नहीं मिला। उसका स्पर्श भी सुखद नहीं हुआ। स्पर्शसुख को प्राप्त करने के लिये अनेक प्रयत्न करते करते तेरी स्पर्शेन्द्रिय जड़ हो गयी, लगभग पूरी आयु उसी में लग गयी, लेकिन कुछ नहीं मिला।

हे कर्महीन! यदि तेरी अन्तरशक्ति जाग जाती तो परमानन्दमयी पराशक्ति तेरे सर्वांग में क्रियारूप से व्याप्त हो जाती, अरे! तू स्वयं ही स्पर्श का सुखद समुद्र बन जाता।

मुक्तानन्द कहता है : अरे जनो! तुम इन्द्रियों के जिन प्रिय विषयों को संसार में ढूँढ़ते रहे हो, उनके लिये ही ध्यान करो। ये सब तुम्हारे अन्दर हैं, तुम्हें मिल जायेंगे। तुम्हारा संसार पूरा रसमय बन जायेगा, तुम्हारा जीना स्वर्गमय हो जायेगा। परमेश्वर के अनुग्रह द्वारा अन्तरशक्ति जग जाने पर तुम्हारा ध्यान होने लगेगा। अपनी शक्ति पर प्रेम रखो और

अपने आत्मभाव का आदर करो। अपने अन्दर ध्यान करो। अन्दर की जिस शक्ति के बल पर तुम 'तुम' कहलाते हो, उसका ध्यान करो। उस शक्ति का ध्यान करो जिसके कारण तुम पति-पत्नी रूप में एक दूसरे से प्रेम करके आत्म-समर्पण करते हो; तुम दोनों में, तुम्हारे ही रूप में, वह पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति रहती है। मुक्तानन्द की आराध्या पारमेश्वरी शक्ति भी वही है।

तुम किसी भी पंथ के क्यों न हो, आत्म-ध्यान करने की किसी भी पंथ में मनाही नहीं है, अतः ध्यान करो। हे नरनारियो! तुम किसी जाति के क्यों न हो, अपने अन्तर की पराशक्ति का ध्यान करो। किसी देश के क्यों न हो, अपनी आत्मशक्ति का ध्यान करो। अरी भोली जनता! तुम किसी भी पार्टी की क्यों न हो, तुम्हारा अपना ध्यान-साधन पार्टी में विघ्न नहीं होगा। अपने अन्तरंग-ध्यान में पंथ, पार्टी, देश, धर्म, डिग्री, नेतापद, साहबपद, स्वामीपद, या महन्तपद की कोई बाधा मत मानो। ध्यान करो। यदि तुम मंडलेश्वर भी हो तो भी ध्यान करो। अपने पद को ध्यान में बाधा मत समझो। जिस पद से ध्यान में बाधा आती है, उस अल्प पद का क्या प्रयोजन? बालक हो या बालिका, नर हो या नारी, ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ, वानप्रस्थी हो या संन्यासी, ध्यान करो। अपने को खोजो। वह मिल जायेगा। घर में रहते हो तो घर में, वन में रहते हो तो वन में, शहर में रहते हो तो शहर में, ग्राम में रहते हो तो ग्राम में, अथवा जहाँ कहीं भी रहते हो वहाँ आत्मा का ध्यान करो। चाहे तुम रोगी हो या डॉक्टर, आरोपी हो या वकील, दरिद्री-भिखारी हो या धनवान-सेठ, सब ध्यान करो। गुणवान हो, गुणहीन हो, पुण्यात्मा हो, पुण्यहीन हो, ध्यान करो आत्मशांति पाओगे। तुम्हारी इन्द्रियों की पंच विषयों की खोज से लेकर, कला, काव्य, नर्तन एवं जीवनमुक्ति की खोज ध्यान में ही है।

जब ध्यान करते करते तुम्हारी छिपी हुई अन्तरशक्ति का भंडार खुल जायेगा, तब शीघ्र ही उच्चतर ध्यान होने लगेगा। तदनन्तर तुम्हारा 'रूप' खुल जायेगा। तुम्हारे अन्दर कैसी कैसी दिव्य ज्योतियाँ हैं, इसका ज्ञान होगा। इन ज्योतियों के होने पर ही तुम्हारा मांसमय शरीर रूपवान बनता है, इनके आकर्षण से ही तुम्हें परस्पर प्रेम की अनुभूति होती है। ध्यान करते करते दिव्य जगमगाती ज्योति के उदय होने पर तुम्हारी संसार

की पहली इच्छा 'रूप' की प्राप्ति होगी; वह प्यारा रूप तुम्हें प्राप्त होगा। जिस ज्योति के सामने मन्मथ का रूप भी थोड़ा है, ऐसी ज्योति पति-पत्नी को एक दूसरे में चमकते हुए दीखेगी। रूप खुलते ही संसार में तुम्हें अपनी एक प्रिय चीज़ मिल जायेगी। संसार तेजोमय दीखना शुरू होगा।

रूप खुलते ही उसके मित्र, 'शब्द' का भी उदय होगा। शब्द के उदय होते ही तुम मधुर, दिव्य संगीत सुनोगे। मस्तक में अनन्त गुणों का भंडाररूप नाद उदित होगा। उस शब्द के सुनने से सुखप्रद निद्रा आयेगी। ऐसी निद्रा को देवता ही भोगते हैं। उस संगीत-शब्द को सुनकर तुम नृत्य करोगे। तुम्हारी पहले की उदासीनता, निरुत्साह, मानसिक ताप और मनमाने सोचविचार की बीमारी भी चली जायेगी। उस शब्द से तुम्हें अपना संसार हराभरा दिखायी देगा। अरे संसार के यात्रियो! शब्द के उदय होते ही तुम्हें रेडियो का संगीत फीका, चारों ओर की ख़बरें फीकी और आपस के वार्तालाप भी फीके लगेंगे। तुम रेडियो-ट्राँज़िस्टर और टेलिविज़न के ख़र्च से बच जाओगे।

इतना ही नहीं, वह शब्द एक दिव्य 'रस' का स्वाद करायेगा। वह रस शब्द से निकलनेवाला, तुम्हारे अन्दर तालु से प्राप्त होनेवाला, सुन्दर रस है। मधुरातिमधुर है। एक एक बिन्दु कई कोटि रुपये के मोल का है। संसारियों के प्यार करने योग्य है। इस रस को पाकर तुम्हारे अन्दर के सब रोग मिट जायेंगे और तुम स्वयं रसवान बन जाओगे। तदनन्तर तुम्हें रूखा-सूखा, कच्चा-पक्का, सब चीज़ों के खाने-पीने में सब रस मिलेगा। ताप मिटेगा। चाह घटेगी। मैं-मेरी मिटेगी। स्वयं अमृतरसरूप बन जाओगे। तदनन्तर पति-पत्नी में, बाल-बच्चोंमें तुमको प्रेमरस प्राप्त होगा। **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।**—रस पाते ही रसमय होते ही, तुम्हें अपने में आनन्द की अनुभूति होगी। वही देवरस, वही प्रेमरस, वही योगरस, और वही संसार में तुम्हारी खोज का रस है। उस रस के बिना तुम्हारा जीवन नीरस है, शुष्क है, भूसामात्र है। अरे! जो संसार अभी रसहीन है, वह रसमय होगा और उसके साथ तुम्हारा अपना संसार सुखमय बनेगा।

अरे भाइयो! वहाँ 'गन्ध' भी है। जहाँ रूप-रस-शब्द ये तीन हैं, वहीं उनका चौथा भाई गन्ध है। मनुष्य के अन्दर जो सुन्दर गन्ध है उसके प्रकट होते ही सारा संसार सुगन्धित होगा। सारे घर में वह गन्ध फैल

जायेगी। तुम लोग परस्पर एक दूसरे में इस दिव्य गन्ध को सूंघोगे तो चित्त शांत हो जायेगा। शरीर की जड़ता व मांद्य चला जायगा। अंग-प्रत्यंग में स्फूर्ति आयेगी। फिर संसार में कुछ कमी रहने से भी तुमको पूर्णता की अनुभूति होगी। तुमको स्वजनों, बाल-बच्चों और गुरुजनों के प्रति दिव्य प्रेम स्फुरित होगा। उस समय तुम ऐसा गीत गाओगे कि संसार में ही प्रेमभरी पूर्ण समता है।

हे मनुष्य, तुम्हारी पाँचवी खोज स्पर्श की है। तुम उसके खातिर बहुत तपे। तुमने स्पर्श में सुख, शांति और आनन्द को चाहा। शृंगार की हुई पत्नी में तुमने उसे खोजा, लेकिन वहाँ केवल तप्त गर्मी ही मिली। तुम पत्नी को स्पर्श करते हो पूर्ण आनन्द के लिये, परन्तु पाते हो पूर्ण क्षोभ! तुम्हें कभी आनन्द नहीं मिला। परन्तु जब मनुष्य की अन्तरशक्ति खुलती है, तब महाशक्ति कुण्डलिनी का प्रेमप्रवाह सर्व अंगों में और बहत्तर हज़ार नाड़ियों में व्याप्त हो जाता है। वह रक्त के कण-कण में अपनी मस्ती को फैला देता है, जिससे रोम-रोम में आनन्द का अनुभव होने लगता है। तब मनुष्य की स्पर्श की इच्छा पूर्ण होती है। इस तरह तुम्हारा संसार भी पूर्ण रसमय, आनन्दमय, प्रेममय बनेगा। तदनन्तर आँख का गया हुआ तेज वापस आयेगा, सूखा हुआ मुख प्रेम से चिकना बनेगा, होंठ लाल हो जायेंगे और मुख खिल उठेगा। तब पूर्ण स्पर्श को पाकर तुम सर्वत्र सुखानुभूति करोगे। फिर पति को पत्नी देव, पत्नी को पति देव—ऐसा हो जायेगा। तुम्हारा बेटा देव, बेटी देव, सास देव, ससुर देव और अड़ोस-पड़ोस भी देव बन जायेंगे। घर मन्दिर बनेगा। फिर केवल मन्दिर में ही देव नहीं रहेगा, तुम स्वयं देवता हो जाओगे। तब तुम सुन्दर **रूप** देखोगे, **रस** का स्वाद लोगे, **गन्ध** सूंघोगे, **शब्द** सुनोगे, **स्पर्श** का सुख पाओगे। इस प्रकार तुम्हारा संसार कितना अच्छा हो जायेगा! तदनन्तर तुम गीत गाओगे :

अवघाचि संसार सुखाचा करीन।
आनंदें भरीन तिन्ही लोक॥

संत ज्ञानेश्वर

याने हम सर्व संसार को पूर्ण सुखमय बना देंगे। तीनों लोक आनन्द ही आनन्द से भरे हैं यह अनुभूति करायेंगे।

तदनन्तर श्याम वन में है, श्याम मन में है, श्याम हममें है, हम श्याम में हैं, श्याम के ही हम हैं, ऐसा कहकर अष्ट-प्रहर श्याम के प्रेम में तुम नाचोगे। श्याम पति, श्याम पत्नी, श्याम मति, श्याम गति इस प्रकार का मन्त्र जपोगे। श्याम अड़ोस, श्याम पड़ोस-श्याम ही का यह सारा संसार है, श्याम ही इसे निभाते हैं ऐसा समझोगे। प्यारे संसार के जनो! इस प्रकार तुम्हारा घर बनेगा तीर्थक्षेत्र, पति-पत्नी बनेंगे परस्पर देव, तुम्हारे गृहकृत्य पूजा, और संसार बनेगा देवधर्म। मुक्तानन्द कहता है, ध्यान इसलिये तो करो। संसार की गरजपूर्ति भी ध्यान में है और व्यवहार का विश्रांतिस्थान भी ध्यान में है। ध्यान तुम्हारा मित्र, ध्यान तुम्हारा मार्गदर्शक, ध्यान तुम्हारी इच्छापूर्ति करनेवाली कामधेनु एवं कल्पवृक्ष है। अतः नित्यप्रति ध्यान का थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करो।

प्रपंच में परमार्थ

यदि मानव संसार को ध्यानयोग से मिला दे, अपना व्यवहार-प्रपंच करते हुए ध्यानयोग की साधना करे, तो उसका यह त्रिविध तापों से भरा हुआ संसार स्वर्गमय बन जायेगा। वस्तुतः ईश्वर से विमुख होने से ही यह संसार दुःखमय है, यातनायुक्त है। जैसे खीर बनायी जाये और उसमें बादाम, पिस्ता, इलायची आदि सब कुछ डाला जाये, लेकिन शक्कर न मिलायी गयी हो तो उसमें रुचि कहाँ से होगी? वैसे ही संसार में रुचि परमात्मा के ध्यान से ही है।

मानव ध्यान द्वारा संसार को परम मित्र बना लेता है। भगवद्ध्यानहीन संसार दुःखमय और कष्टप्रद होता है। वस्तुतः संसार सुख का एक महान साधन है; मात्र उसमें परमेश्वर पूर्णरूप से होना चाहिये। यदि परमेश्वर की याद, उसका ज्ञान तथा ध्यान न हो तो वही संसार पंगु है, रुचिहीन और रसहीन है।

तुम संसार को, स्वजनों को त्यागो मत। ईश्वर की खोजमें पूर्व-दक्षिण आदि चारों दिशाओं में दौड़ते दौड़ते क्षीण मत हो जाओ। शांति को, आराम को ढूँढ़ते ढूँढ़ते अपने को ही मत खो दो। प्यारे मानवजनो! अपने घर में रहो। पति-पत्नी के साथ रहो। बाल-बच्चों के साथ रहो। कला-कौशल की मित्रता में रहो। व्यापार-कारखानों के साथ रहो। अदृष्टवश चाहे तुम सेठ हो

या मज़दूर, राजा हो या भिखारी, भगवान सब के हैं। परमात्मा जितने उन धनवानों के हैं, उतने ही उन भिक्षुकों के हैं। वे जितने गोपीजनों के हैं, उतने ही हमारी गृहनिवासिनी महिलाजनों के हैं। जितने वे प्राचीन ऋषि-मुनियों के और अन्य योगी-योगिनियों के हैं, उतनी ही मात्रा में संसारियों के हैं। तुम प्यार से उसे पुकारो। प्यार से उसे ध्याओ। अन्तर में वह प्रकट हो जायेगा। उसके प्रेमभरे दिव्य प्रकाश का दर्शन होगा। तुम्हारे अन्दर, सहस्रार में, प्रेमामृत का शांति-तुषार बहने लगेगा। तब तुम अनुभव करोगे कि तुम स्वयं आनन्द की मूर्ति हो। इतना ही नहीं; तुम्हारा कायापलट हो जायेगा। तदनंतर तुमको ऐसी अनुभूति होगी—'वह शिव मैं हूँ, मैं हूँ'; 'वह राम-श्याम मैं हूँ, मैं हूँ'। यह गीत तुम प्रेम से गाने लगोगे। तुम्हारा पुराना, बहुत जन्मों का रोना मिट जायेगा। 'मैं दुःखी हूँ, मैं पामर हूँ, मैं दीन हूँ' ऐसा रुदन-संगीत मिट जायेगा।

तुम अपने शरीर को केवल सप्तधातुमय मांसपिंड मत समझो। जो शरीर इन्द्रियाराम का आश्रयस्थान नहीं है, वह महान है। सर्व तीर्थ, सर्व देवता, सर्व मन्त्र और जगत के सब सिद्धिप्रद स्थान तुम्हारे शरीर में हैं। हमने भगवान श्री गुरुदेव नित्यानन्द जी से एक पुरानी लेकिन सत्य कहानी सुनी थी। एक दम्पति ने सर्वतीर्थ नहाकर, पृथ्वी प्रदक्षिणा करके, सब देवताओं की पूजा करने का संकल्प किया था, दृढ व्रत भी लिया था। परन्तु उनका हेतु पूरा नहीं हो सका। दिनोंदिन उन्हें अपनी प्रतिज्ञा की चिंता होने लगी। उस समय उन्होंने एक अच्छे, शास्त्रज्ञ और अनुभवी सन्त के पास जाकर अपने संकल्प-विषय की चर्चा की। उन पण्डित महापुरुष ने कहा, "तुम लोग डरो मत। यहाँ से थोड़ी दूर एक ब्रह्मनिष्ठ दम्पति ने संसार को परमार्थमय बनाकर, अपने अन्दर ध्यानयोग से अन्तरशक्ति को जगाकर, षट्चक्रों में स्थित सर्व देवताओं के और मन्त्रों के स्थानों की पूर्ण शुद्धि करके, महायोगपरायण होके कुण्डलिनीयोग द्वारा अपने को परशिव बना लिया है। वे संसार में पुनीत हैं। उनमें महाशक्ति चिति विलास कर रही है। मानवरूप से दीखने पर भी, उनके सर्व रसों में, रक्त में वही चिति व्यापी है। उनमें सर्व तीर्थ और सर्व देवता निवास करते हैं। वे पूर्ण परशिवपरायण हैं। वहाँ जाकर तीन प्रदक्षिणाएँ करके, भेंट देकर एक बार प्रेमभरे हृदय से उनका स्मरण करो। तुम्हारा संकल्प पूरा हो जायेगा।"

बात बिल्कुल सत्य है। प्यारे मानव! तुम्हारे अन्दर सर्व तीर्थ, सर्व मन्त्र, सर्व बीजाक्षर और देवता सहित परमेश्वर निवास करता है। वह जितना कैलास में और वैकुण्ठ में है उतना ही तुम लोगों में है। तुम क्यों उसे अपने अन्दर खोजना छोड़के मारे मारे देश देश में उसको ढूँढते हुए हैरान होते हो? तुम सभी को अपने व्यवहार-प्रपंच के साथ, अपने पंथों के साथ उसको प्रधान बनाकर जीवन बिताना है। तुम किसी पंथ के हो, किसी मत के हो या किसी निष्ठा के हो, अपने को साधारण, छोटा, मूढ़, कमज़ोर मत बनाओ। देह को ईश्वररहित समझकर खुद को पतन और विनाश की ओर मत ले जाओ। अपने को साधारण समझकर आत्मघाती मत बनो। अपने आप को अपनी ही समझ से छोटा और नादान बनाकर अपने ही हाथों से अपनी हत्या मत करो। तुम इस भगवद्वचन को याद रखो : **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः**। अर्थात् आत्मा ही स्वयं का मित्र या शत्रु है। तुम्हारा नरक, तुम्हारा स्वर्ग, तुम्हारे ही हाथ में है। अब तुरन्त ही अपने आत्मकल्याण की खोज में लग जाओ। जैसे संसारोन्नति के लिये तुमने कॉलेज-कॉलेज ढूँढ़ा, इंग्लैंड-अमेरिका खोजा, खोज खोज कर विद्या प्राप्त कर इंजीनियर, वकील, डॉक्टर, प्रोफेसर बने, वैसे ही अध्यात्म शांति पाने के लिये, घर में योगशाला बनाने के लिये, वकील, डॉक्टर या इंजीनियर होते हुए भी शिव पाने के लिये श्रीगुरुदेव को खोज लो।

गुरु की महानता

परमेश्वर का साक्षात्कार एकमात्र श्रीगुरु से सम्भव है। श्रीगुरु ज्ञान से प्रकाशित परब्रह्म की ही परम्परा है। ऐसे गुरु की महाकृपा प्राप्त करनी चाहिये। जब तक श्रीगुरु की कृपा से हमारी अन्तरशक्ति नहीं जागती, अन्तरज्योति नहीं प्रकाशती, अन्तर का दिव्य ज्ञान-नेत्र नहीं खुलता तब तक हमारी जीवदशा नहीं मिटती। जीवदशा के रहते हुए ब्रह्मदशा की दिव्यानुभूति में रमण नहीं हो सकता। जैसे स्वप्ननिद्रा में राजा भिखारी बनता है और समझता है कि मैं भिखारी हूँ; वैसे ही अज्ञान-निद्रा में यह आत्मा जीव बनकर उस कंगाल अवस्था में अपने को कर्ता, भोक्ता, अल्प और साधारण समझकर दुःख का अनुभव करता रहता है। अतः

अन्तरविकास के लिये, दिव्यत्व की प्राप्ति के लिये, परशिवपद पाने के लिये हमें मार्गदर्शक की यानी पूर्ण सत्य के ज्ञाता एवं शक्तिशाली सद्गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है। जैसे प्राण बिना जीना सम्भव नहीं, उसी तरह गुरु बिना ज्ञान नहीं, शक्ति का विकास नहीं, अन्धकार का नाश नहीं, तीसरे नेत्र का उदय नहीं। गुरु की ज़रूरत मित्र से, पुत्र से, बन्धु से और पत्नी से भी अधिक है। गुरु की जरूरत द्रव्य से, कल-कारखानों से, कला से और संगीत से भी अधिक है। अधिक क्या कहूँ, गुरु की जरूरत आरोग्य और प्राण से भी ज़्यादा है। श्रीगुरु की कृपा से ही हम अपनी अन्तरशक्ति का विकास कर लेते हैं। गुरु की महिमा रहस्यमय और अतिदिव्य है। वे मानव को नया जन्म देते हैं। ज्ञान की प्रतीति कराते हैं। साधना बताकर ईशानुरागी बनाते हैं।

जगत में गुरु बहुत होते हैं। हर कोई गुरु बनता है। जहाँ भी जाओ गुरु ही गुरु हैं। इन अनन्त गुरुओं के मतमतांतरों को सुनकर जनता भी थक गयी है। जो भी गुरु आता है वह अपना एक नया पंथ निकालता है। वह शिष्य तो किसी का भी नहीं बना, गुरु सभी का बनता है! अनेक मत, अनेक पंथ! यह भी उपजीविका का एक साधन बन गया है; बिना परिश्रम का एक व्यवसाय हो गया है। परंतु ऐसा नहीं होना चाहिये।

गुरु वह है जो शिष्य की अन्तरशक्ति जगाकर उसे आत्मानन्द में रमण कराता है। गुरु की व्याख्या यह है—*जो शक्तिपात द्वारा अन्तर-शक्ति कुण्डलिनी को जगाता है यानी मानवदेह में पारमेश्वरी शक्ति को संचारित कर देता है, जो योग की शिक्षा देता है, ज्ञान की मस्ती देता है, भक्ति का प्रेम देता है, कर्म में निष्कामता सिखा देता है, जीते जी मोक्ष देता है। वह परम गुरु शिव से अभिन्नरूप है।* वे गुरु शिव, वे गुरु राम, वे गुरु शक्ति, वे गुरु गणपति, वे गुरु माता-पिता हैं। सभी के वे पूजनीय परमगुरु, आदि गुरुनाथ से लेकर आजतक, शिष्य की देह में ज्योति को प्रज्वलित करते हुए अनुग्रहरूप कृपा करते हैं और लीलाराम होकर रहते हैं। गुरु के प्रसाद से नर नारायणरूप बनकर आनन्द में मस्त रहता है। ऐसे गुरु महा महिमावान हैं, उनको साधारण जड़ बुद्धिवाले नहीं समझ सकते।

गुरुजन संसार के व्यवहार को भली भांति समझते हैं। अदृष्ट के नियमों को पूर्णतया जानते हैं। वे परमात्मा के ज्ञान से पूर्ण परिचित रहते हैं।

परमार्थ में पूर्ण कुशल और व्यवहार में अति ही सयाने होते हैं। ऐसे गुरुजनों के आश्रय में रहनेवाले शिष्यगण महान संकट को भी सहज में पचा डालते हैं। सिद्धाश्रम में रहनेवाले साधक घोर परिस्थिति में भी निर्भय होकर रहते हैं। हमारे पूजनीय श्रीगुरु नित्यानन्द जी के सहारे भक्त लोग निर्भय रहा करते थे। भगवान नित्यानन्द एक महान दिव्यातिदिव्य गुरु थे। परम गुप्तता से रहते थे। उनकी महिमा अनोखी थी। भगवान नित्यानन्द भक्तों को अपने घरों में ही वैकुण्ठानुभूति करा देते थे। वे महापुरुष कृपामात्र से भक्त को योगी बनाते थे और कठिन साधन बिना साधक को भक्तिसुख का पुजारी बनाते थे। कृपामात्र से ज्ञानदृष्टि करा देते थे। प्रपंच में ही ब्रह्म दिखाते थे। नरनारियों को **परस्पर देवो भव** का मन्त्र पढ़ाते थे। वे एक महान सिद्धलोक के वासी थे। पूर्ण सिद्ध थे। उनमें ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म का पूर्ण समन्वय था। वे महाकुशल योगी होने पर भी सादे, साधारण जैसे रहते थे। वे हमेशा अमनस्क गति से रहते थे, मानो उनका मन ही चैतन्य हो गया हो।

लोग श्रीगुरुदेव को महान उन्मत्त योगीसदृश जानते थे। वे पूर्ण सर्वज्ञ होने पर भी अनजान जैसी स्थिति में रहते थे। उनको सब लोग 'बाबा' कहकर पुकारते थे। उनके यहाँ ऋद्धि-सिद्धि का बहुत मान नहीं था; क्योंकि वे परशिव के आत्मचमत्कार के सामने अन्य सब चमत्कार गुणहीन मानते थे। शिव में जगत है—इससे बढ़कर और क्या चमत्कार हो सकता है? फिर भी उनमें आदर्श कोटि की अनोखी गुप्त सिद्धियाँ निवास करती थीं। सिद्धों में सिद्धियाँ सहज ही निवास करती हैं। सिद्धियाँ न जताने पर भी अपने आप क्रियाशील हो जाती हैं। उनके पास सिद्धियाँ नृत्य करती रहती हैं, ऋद्धियाँ वहीं अपना निवासस्थान बना लेती हैं। ऐसे सिद्ध पुरुषों को पाकर पृथिवी अपने को सनाथ समझती है।

भगवान नित्यानन्द का संसार में बड़ा नाम है। आप एक विलक्षण महापुरुष थे। आप की स्मृति, आप का गुणानुवाद, आपका दर्शन, जबतक सूर्यचंद्र हैं तबतक नित्य बना रहेगा। आप संसार में सम्मान करने लायक महा महिमावान थे। आप में गुरुत्व पूर्ण था। आप का यश गाने में, स्मरण करने में भाविक जनों को शक्तिपात हो जाता था। अब भी आप की समाधि से, आप के छायाचित्रों से शक्ति प्राप्त हो जाती है। तत्त्वतः आप

इस जगत में अन्दर-बाहर पूर्ण व्यापक हैं। जो महापुरुष सर्वात्मा में लीन होते हैं, वे सर्वव्यापी होते हैं।

साधारणतया गुरुजनों का परिचय पाना, उन्हें समझना, महाकठिन है। किसीने थोड़ा चमत्कार दिखाया तो हम उसे गुरु मान लेते हैं, थोड़ा प्रवचन सुनाया तो उसे गुरु मान लेते हैं, किसीने मन्त्र दिया या तन्त्र की विधि वतलायी तो उसे गुरु मान लेते हैं। इस तरह अनेक जनों में गुरुभाव करके अन्तर-समाधान से हम वंचित रह जाते हैं। अन्त में हमारी श्रद्धा भंग हो जाती है और फिर हम गुरुत्व को भी पाखण्ड समझने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हम सच्चे गुरुजनों से दूर रह जाते हैं। पाखण्डी गुरु से धोखा खाकर हम सच्चे गुरु की अवहेलना करने लग जाते हैं। जहाँ गुरुत्व नहीं वहाँ गुरुत्व स्थापित करके, कुछ भी प्राप्त न करते हुए आखिर सच्चे गुरु के प्रति द्वेषरूप घोर अन्याय करने लगते हैं।

गुरु सत्य है। गुरु पूर्ण है। गुरु सादा, सरल और प्रेमी है। वह शिष्य का हितचिन्तक है। वह शिष्य का धन नहीं, अपितु उसका अज्ञान या अविद्या लूट लेता है; शिष्य के वित्त या द्रव्य को नहीं, लेकिन चिंता और पाप को हर लेता है। गुरुजनों की यह महिमा है कि वे कठिन तपस्या बिना शिष्य को परमात्मा का दर्शन करा देते हैं। घर में ही गुहा की शांति और एकान्त का अनुभव ला देते हैं। प्रपंच में परमार्थ दिखाते हैं। व्यवहार में हिमालय और ध्यान में कैलास दिखा देते हैं। *ऐसे गुरुजन संसार के संग्रह वा सम्पत्ति का अन्यायरूप त्याग नहीं वताते, वे त्याग कराते हैं जीवत्व का। वे जीवत्व से द्वेष करते हैं, व्यष्टित्व में ईर्ष्या करते हैं, भेद में क्रुद्ध होते हैं। परमात्मारचित जगत की वस्तुओं का त्याग वताकर वे अन्तर को शून्य और शुष्क बनाकर नहीं रखते।*

श्रीगुरु मानव के इस संसार में अपने माता पिता और स्वजनों के साथ रहते हुए भी उसपर पारमेश्वरी कृपा करके उसके साधारण जीवन को दिव्य जीवन बना देते हैं। मनुष्य, समाज में अपना अपना व्यवहार करते हुए, संसार को परमेश्वर का प्रसाद समझकर ईश्वराराधना बुद्धि से कर्म करते हुए, गुरुकृपा पाकर ध्यान द्वारा हृदय में झलकते आत्मा को सहज ही देख सकता है। गुरुजन संसार में ही परमेश्वर का दर्शन करा देते हैं। गुरु विना अनन्त प्रकार की दीक्षाएँ लेकर वन-जंगल, हिमालय, गुहादि में

रक्त को सुखाकर मानव तपते तपते निरुत्साह बन जाता है। फिर प्रारब्ध और कर्म के नाम से रोता-चिल्लाता है। आखिर परमात्मा की प्राप्ति न होने से 'कब मिलेगा, कौन बतायेगा' इस प्रकार की चिंता में जलता रहता है।

श्रीगुरु एक महान चमत्कारिक दैवत है। साक्षात्कारी गुरु को साधारण समझकर उनको त्यागो मत। गुरु की महानता तब समझ में आती है जब तुम पर गुरुदेव की पूर्ण कृपा होती है। गुरु अपने शिष्यों को एक ऊँचे स्तर पर ले जाकर, सत्यस्वरूप बताकर, शिव में मिलाकर शिव ही बना देते है। गुरु में एक ऐसी अनोखी शक्ति है जिससे वे मानव को पूर्णरूप से बदल देते हैं। जरारहित दुःखरहित नया जीवन प्रदान करते हैं। वे संसार में ही पूर्णत्व की प्राप्ति करा देते हैं। जैसे दिन के सारे व्यवहार उल्लू अपनी आँखों से नहीं देख पाता और रात्रिजगत को कौआ नहीं देख पाता, वैसे ही मानव गुरुप्रसाद पाये विना संसार को स्वर्गमय नहीं देख पाता, दुःखमय या शोकमय ही देखता है।

गुरु मन्त्र-चैतन्यकारक, मन्त्र-द्रष्टा, शक्तिपात-कुशल और शक्तिशाली होना चाहिये। चाहे गुरु गृहस्थी हों या गृहत्यागी, उनमें शक्ति-संचार की सामर्थ्य होनी चाहिये। गुरु में **पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति** पूर्णरूप से निवास करनी चाहिये। संसार में बहुत गुरुजन हैं। गुरु में लिंगभेद नहीं। परशिव भी गुरु है। पराशक्ति चिति भी गुरु है। गुरु अलिंग है। नर वा नारी ज्ञानदृष्टि से एक ही हैं। एक ही शक्ति, एक ही आत्मा, एक ही तृप्ति दोनों में होती है। जिस पुरुष वा नारी में चितिशक्ति संचरित हो जाती है, वह न नर है न नारी। बाहर से कुछ भी रूपाकार दीखने पर भी वह अन्तर से परिपूर्ण विश्वव्यापिनी चिति है। बाह्य व्यवहार में नर वा नारी दीखने पर भी वह अन्तर में परशिव-शक्तिमय है। गुरुदेव के कृपाप्रसाद से योगमाता महाकुण्डलिनी के जागने पर अन्तर के सारे मांसमय मलदोषों का नाश होके स्त्री-पुरुष भाव योगाग्नि में जल जाता है। तदनन्तर सप्तधातुओं में चितिशक्ति प्रवेश करके धातुओं को भी चितिमय बना देती है। जैसे पानी में शक्कर मिलाने से पानी शर्बत बन जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी चितिशक्ति के शरीर में पूर्णरूप से संचरित होने पर शरीर मांसमय दीखने पर भी शुद्ध चितिमय होके रहता है। ऐसी

दशा में कौन नर वा कौन नारी! गुरुओं में पूर्ण परब्रह्म की चितिशक्ति विलास करती है। इस शक्ति-विलास की मस्ती में मस्त होकर गुरुजन प्रेमानन्द में डूबे रहते हैं। जो अनादि परम्परागत शक्ति परमेश्वर से लेकर अब तक प्रवाहित होके विलसित रही है वह श्रीगुरु द्वारा शिष्य में संचरित होकर उसके सभी मलों को योगाग्नि में जलाकर उसको पूर्ण शुद्ध करके आवरणरहित बना देती है। कालांतर में शिष्य ही गुरु बन जाता है।

जो पूजनीय परमगुरु चितिमय रूप से शिष्य में प्रविष्ट होते हैं, उन गुरु से हम कैसा व्यवहार करें, कैसे प्रेम करें, उनके उपकार को कैसे चुकावें? हे गुरुदेव! आप हमारे मलमय, अशुचि, विकारी, भौतिक शरीर में भी भेदाभेद नहीं देखते, शुद्धाशुद्ध नहीं देखते, रोगारोग नहीं देखते। आप कृपामय होके उसमें प्रवेश करके हमारे पापों को, हमारी अशुचि को धो डालते हो। नाड़ी नाड़ी में, रक्त के कण कण में शक्ति रूप में प्रविष्ट होकर उन्हें क्रियाशील बनाते हो। आप का कितना उपकार है, कितना अनुग्रह है, कितनी दया है! ऐसा कौन मित्र हो सकता है जो शक्तिदाता गुरु के समान शरीर के अंग अंग में, अच्छे-बुरे स्थानों में, नाड़ियों के मैलेभरे, रोगभरे कफ-पित्त-वातरूप दोषों को धोबी के समान अन्तर-योग-क्रियाओं द्वारा साफ करता हो! दास-दासी वा कर्मचारियों के समान आप अन्तर-मल को तपा-तपाकर, योगाग्नि में जलाकर देह को शुद्ध कंचन बनाते हो। ऐसे गुरु समान कौन मित्र, कौन प्रेमी, कौन माँ और कौन देवता है? ऐसे गुरु का हम क्या दासत्व कर सकते हैं? जिन गुरु ने आप के कुल, जाति, कर्माकर्म, गुणदोष आदि देखे बगैर आप में प्रविष्ट होकर आप को अपना लिया, उन गुरु की महिमा कौन गा सकता है? इसीलिये मुक्तानन्द के सब कुछ परमपिता, देवता, आनन्द, ध्यान, समाधि एकमात्र नित्यानन्द हैं। प्यारे नित्यानन्द हैं। 'आरती करूँ सद्‌गुरु की प्यारे गुरुवर की' इतना कहकर, गाकर क्या आप के उपकार को मैं चुका सकता हूँ? नहीं गुरुदेव! आप महान हैं। आप की ही पूजा के लिये 'श्री गुरुदेव आश्रम' है। हे गुरुदेव, मेरे *अन्दर बहनेवाला प्राण आप हैं, बाहर बहनेवाला अपान मैं हूँ। 'सो' नित्यानन्द हैं, 'ऽहम्' मुक्तानन्द है।* सोऽहम् नित्यानन्द। सोऽहम् नित्यानन्द। यही नित्यप्रति आप की पूजा है।

'ॐ नमः शिवाय' आपका दीक्षा कालीन मन्त्र है। गुरुदेव! वह आप का पूर्ण स्मृतिरूप है। आप ही शिव हैं

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च॥

'सोऽहम्' आप का ही दिया हुआ ध्यान-मन्त्र है जो धारणा की गति को स्थिर करता है। आप के दिये हुए 'सोऽहम्' से ही मेरे साधन-यज्ञ की आहुति पूर्ण हुई। 'सोऽहम्' से पूर्णाहुति करके ही मैं शांत बना। तृप्त बना। 'सोऽहम्' ही बना। यह केवल आपका कृपा-प्रसाद ही नहीं, वरन् आपने स्वयं ही 'सोऽहम्' के द्वारा अन्दर प्रवेश करके मेरे समस्त पातकों को भस्म कर दिया, मल को धो दिया, जीव को शिव बनाया। आप ने मुझे अपना बनाया। हे गुरुदेव। आप का सन्मान कैसे करूँ? आप की पूजा कैसे करूँ? हाँ, इतना अवश्य रटता रहूँगा : गुरुदेव। जय गुरुदेव। जय गुरुदेव।

ऐसे गुरुजनों को गुरु मानकर, उन सिद्धों से दीक्षा पाना क्या परम सौभाग्य नहीं? उनके दिये हुए शब्द ही चैतन्य मन्त्र हैं। वे चितिमय परम गुरु मन्त्रद्वारा, स्पर्शद्वारा या दृष्टिद्वारा शिष्य में प्रवेश करते हैं। इसीलिये गुरु-सहवास, गुरु-सम्बन्ध, गुरु-आश्वास, गुरु-चरणस्पर्श, गुरुतीर्थ-पान, गुरु-प्रसाद, गुरु-सेवा, गुरु-गुणगान, गुरुजनों से प्रेमोन्मत्त स्थिति में बाहर बहनेवाले चिति-स्पन्दनों का सेवन, गुरुद्वारा पहने या ओढ़े हुए वस्त्रादि से होनेवाला चितिकणों का स्पर्श और गुरु के प्राण-अपान द्वारा 'सोऽहम्' स्वर के साथ निकलनेवाली चितिप्रभा की किरणें शिष्य को पूर्ण सिद्धपद की प्राप्ति करा देने में समर्थ हैं, इसमें क्या आश्चर्य? मेरे पूज्य गुरुदेव वैसे ही एक महान सिद्ध थे। उनसे दिव्य चितिकिरणें नित्य बहती थीं। उनकी जिस पर भी दृष्टि पड़ती, वह जाग उठता था। उनकी महिमा महान थी। 'हठयोगप्रदीपिका' में कहा है

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥

यह सहजावस्था, जो इतनी दुर्लभ है, सद्गुरु की करुणा बिना नहीं मिलती। यह दशा महान ईश्वरप्रेम से, गुरुकृपा से ही प्राप्त होती है; अन्यथा दुर्लभ

है। मानवजीवन में शांति पाने के अनेक उपाय बतलाये गये हैं। इनमें कुछ बहिरंग साधन हैं, कुछ अन्तरंग साधन। वेदों में, षड्दर्शनों में और रामायण-भागवत आदि सद्ग्रंथों में अनेक प्रकार के साधनमार्ग बतलाये गये हैं। सभी साधन साधकजनों के प्रयत्न, पुरुषार्थ और श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक अनुष्ठान करते रहने के बाद, महान परिश्रम से सम्पन्न किये जाने पर फलप्राप्ति करा देते हैं। चाहे जिस किसी भी मार्ग का अवलम्बन करो, चाहे जितनी भी प्रकार की उपासनाएँ करो, यह सहजदशा अत्यन्त दुष्प्राप्य है। सहजावस्थारूप परम कैवल्यपद सिद्धमार्ग से ही प्राप्त है। अन्य पंथों से वह कदापि नहीं मिल सकता :

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसंभव ॥

योगशिखोपनिषद्

वह स्थान हमारे परमपिता श्रीगुरु दीक्षाद्वारा प्राप्त करा देते हैं। दीक्षा देकर पाप का नाश करके परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त करा देते हैं :

दीयते शिवसायुज्यं क्षीयते पाशबन्धनम्।
अतो दीक्षेति कथिता बुधैः सच्छास्त्रवेदिभिः ॥

दीक्षा कालमें गुरुशक्ति ही शिष्य में प्रवेश करती है। जैसे बीज के रूप में वृक्ष ही है, वैसे श्रीगुरु के रूप में शक्ति ही है जो शिष्य में प्रविष्ट होती है और नाना प्रकार की योगक्रियाओं को कराती है। जब साधक अपने प्यारे गुरु का पुण्यस्मरण करते हुए तन्मयता के भाव में ध्यान के लिये आसन पर बैठकर शांतभाव से गुरुमुखी मन्त्र का पुरश्चरण करता है, तब मन्त्ररूप में गुरु अन्तरक्रियाशील हो जाता है। ये क्रियाएँ अर्थशून्य नहीं हैं। फलहीन नहीं हैं। क्रियारूप में परमगुरु ही अन्तरकार्य करता है। नाना प्रकार की अंगविकृतियाँ, नाना प्रकार के आसन, नाना प्रकार के प्राणायाम, नाना प्रकार के नृत्य, नाना प्रकार के मंत्रघोष, नाना प्रकार की मुद्राएँ श्रीगुरुशक्ति अन्तर से कराती है। बाहर से यदि कोई देखे तो यह सब अति विचित्र और भययुक्त भी लगता है, परन्तु साधक नहीं डरता। वह उन क्रियाओं में एक प्रकार की मस्ती, आनन्द वा अंग का हलकापन

तथा शरीर के गठीलेपन की अनुभूति करता है। ये सभी क्रियाएँ कुछ राजयोग की, कुछ हठयोग की, कुछ मन्त्रयोग की, कुछ भक्तियोग की हैं। परम गुरु की शक्ति शिष्य में प्रवेश होने पर ये सब योग अपने आप आवश्यकतानुसार होते रहते हैं। *चारों योग एकत्र होकर शिष्य में क्रियाशील होते हैं, उसीको सिद्धयोग या महायोग कहते हैं। सिद्धमार्ग भी कहते हैं। सिद्धकृपा भी कहते हैं।*

दिन प्रतिदिन साधक जितनी गुरुभक्ति को बढ़ाता, जितना जितना गुरु में प्रवेश करता, जितना जितना गुरु में तन्मय होकर मिलता, उतनी ही उच्च उच्च क्रियाएँ, उच्च उच्च अद्भुत चमत्कार, जैसे कि बिना प्रयत्न के आसन, दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि सहज में होते हैं। किन्तु कभी कभी साधक अपने हृदय की मलिनता के कारण गुरु के व्यवहार में राग और द्वेष तथा अन्य दोषों को देखने लगते हैं, जिससे उनके अभ्यास का वेग मन्द हो जाता है। तदनन्तर वे पूछने लगते हैं : "बाबाजी, मुझे पहले जसी क्रियाएँ अब नहीं होतीं।"

मैं कहता हूँ : "होंगी, अवश्य होंगी। पहले अपने को सुधारो।"

हमारे पूज्य गुरुदेव कभी कुछ क्रुद्ध हो जाते तो मैं समझता और सोचता : 'अरे भैय्या! भगवान की सभी क्रियाएँ, सभी कार्य भगवद्मय हैं। वे चाहे जैसे भी हों, मंगलमय हैं। परमात्मा के सभी कार्य, सभी क्रियाएँ परमानन्दमय, मंगलप्रद हैं।' आपको विदित हो या नहीं, भगवान श्रीकृष्ण ने गोपियों के अनन्य प्रेम से प्रसन्न होकर उन्हें जो स्थान दिया, ज्ञानोपदेश देकर उद्धव-अर्जुन को जिस स्थान की प्राप्ति करा दी, कंस-चाणूर का वध करके उन्हें जिस स्थान को पहुँचा दिया, उन स्थानों में क्या अन्तर है? भगवान ने जो गति देवकी को दी, वही गति विष पिलानेवाली पूतना को दी। देवकी को प्रेम से दी; पूतना को रोष से दी। परन्तु दोनों की एक ही गति है, एक ही मति है, एक ही स्थिति है।

ईश्वर की लीला में एक आनन्द है। 'एकमेवाद्वितीयम्' के सब कर्म, कार्य, क्रियाएँ एक ही रूप हैं। वैसे ही श्री गुरुदेव की सभी क्रियाओं में शक्ति का पूर्ण विकास चिति का ही पूर्ण विलास है। उनके सभी कार्य पुण्यप्रद, उन्नतिकारक हैं। ऐसे गुरुजनों की क्रियाओं की रीति-नीति के विषय में गुणदोष का निरीक्षण करके साधक अपनी साधना को मन्द कर

लेता है। गुरु में, महापुरुषों में, सिद्धों में गुणदोष कदापि नहीं देखने चाहिये।

सिद्धों का आचरण बहुत विचित्र होता है, जिसे साधारण मानव नहीं समझ पाते। महापुरुषों की संगति में रहकर उनपर दोषारोपण नहीं करना चाहिये। हमारे गुरुदेव गाली भी दे देते, मार भी दे देते। उसमें कुछ कारण था। ऐसे महापुरुष दिव्य प्रतिभाशाली होते हैं। इन सिद्ध पुरुषों का ऐसा आचरण रहता है कि वे मूढ़ों से सीखते हैं और पंडितों को पढ़ाते हैं। वे शूरों से लड़ते हैं और गीदड़ को देख भागते हैं। कुछ नहीं मिले तो माँगते हैं और मिले तो त्यागते हैं। ऐसे शाहंशाह महात्मा से हर कोई माँगते हैं। उनके पास कुछ भी न होने पर भी माँगनेवाले को सब कुछ दे देते हैं। जगत की महामूल्यवान चीजें भी उनके लिये मूल्यहीन हैं। सिद्धपुरुष साधारण जीवन से अति दूर होते हैं।

माँ चिति कुण्डलिनी

गुरु-परम्परा एक महान परम्परा है। गुरुजनों के बारे में कहा गया है कि तब से अबतक के सारे महापुरुषों के तप, तेज, बल पर्वत की नाईं चिरकाल से हमारा रक्षण करते रहे हैं। ऐसे गुरु शिष्य में शक्ति का पात करके, चक्रों का वेध करके, उसको ऊर्ध्व सहस्रार में स्थिर करनेवाले होते हैं।

श्रीगुरु परम चितिशक्ति को शिष्य में पात करते हैं। 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में इसकी व्याख्या है – **चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः**। याने चिति वह है जो अपनी स्वतंत्रता से जगत को रचती है। यह चितिशक्ति परम शिव से भिन्न नहीं होती। इस जगत के उत्पत्ति-स्थिति-संहाररूप कार्य की वह परम आश्रय है।

यह चितिशक्ति स्वतन्त्रता से रहनेवाली, सर्व व्यवहारकारिणी, सर्व साधनों की फलदायिनी, भुक्ति-मुक्ति-प्रदायिनी, सुखोपायकारिणी, स्वयं प्रकाशरूपा, सर्व शक्तियों की आश्रयरूपा, देश-काल-आकार से भिन्न, परशिव की कार्यकारिणी, अनुग्रह-निग्रहरूपा, परतत्त्वप्रकाशिनी है। यह चिति प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयरूप है। इस परशिव-शक्ति की महिमा अद्भुत है। यह ज्ञानी का ज्ञान है, कर्मी का कर्मफल है, भक्तों की यह चिति ही प्रेम वा उन्मत्त दशा है। योगियों की योग-कुण्डलिनी क्रियाशक्ति है। सभी

संसार चिति से सजा है। महान आश्चर्यकारिणी, परम आश्चर्य से ग्रहण होनेवाली, परशिव की परमशक्ति चिति है। विश्व का सारा कार्य, प्रवृत्ति से लेकर निवृत्ति तक, इसी चिति से सिद्ध है।

हे माँ चिति! आप परमशिव की स्फुरणा हैं, प्रिय पत्नी और गति हैं। आप विश्व की कारणरूपा पंचतत्त्वात्मिका हैं। आप ही सूर्य, चन्द्र, तारे और नक्षत्र हैं। हे कुण्डलेश्वरी! आप स्वर्ग, वैकुण्ठ, पाताल और नरक हैं। आप ही भूर्भुवः स्वर् हैं। आप चारों दिशाएँ हैं। आप ही अपने दिव्य भाव से स्वेदज, उद्भिज, अण्डज, और जरायुज इन चौरासी लक्ष जीव योनियों को धारती हैं। अपने में ही इन अनन्त भावों को प्रकट करती हैं। आप के अनगिनती प्रकार हैं। क्या जाने इस विश्व का विमर्श करते करते लोग थक जाते हैं। आप के दिव्य प्रकाश के विकास-विकार अनन्त हैं। भेदाभेदरूप अनन्त सृष्टि को आप में ही रचकर आप परम निर्लिप्त हैं। आप केवल परमानन्दरूप से उल्लसित रहती हैं। आप वेद, वेदान्त, शास्त्र, मन्त्र इत्यादि साधन से साध्य हैं।

हे माँ कुण्डलिनी! आप नित्यानन्द से प्राप्त आनन्द शक्ति हैं। आप योग हैं। योगाङ्ग हैं। समाधि का अर्थ हैं। आप का नाम निर्विकल्पा है। आप इस मानव देह की परम आश्रया हैं। हे चितिमयी माता कुण्डलिनी! आप ही परमगुरुओं की शुद्धात्मा गुरु हैं। त्रिकुटी में, द्विदल चक्र में, श्रीगुरुपीठ में आप ही गुरुरूप से विराजमान होकर शिष्यजनों का योगक्षेम चलाती हैं। साधकों की परम दैवत, हे योगिनी कुण्डलिनी! हे गुरु! हे प्रेमास्पद! हे क्रियाशालिनी! आप ही नित्यानन्द से प्राप्त कृपा हैं। नित्यानन्द से वरदान में मिले दो अक्षर 'सोऽहम्' आप ही हैं। आप से मैं हूँ। माँ! आप से मेरी दीक्षा दीक्षित है। आप ही परमनीलमणि के सहारे मेरे आकारों को धारकर भक्तजनों को नाना दृष्टान्त द्वारा श्रद्धामय बनाती हैं।

हे प्रिय योगशक्ति! मेरा श्रीगुरुप्रेम आपको अर्पित है। आप ही उत्कृष्ट फलप्रदायिनी हैं। आप अनन्त सामर्थ्य को अपने में धारण किये हुए हैं। अनन्त रूपाकार होते हुए आप ही राम की सीता, कृष्ण की राधा, नारायण की लक्ष्मी, शिव की भवानी, योगियों की योगशक्ति, साधकों की क्रियाशक्ति और गुरुजनों की शक्तिपातरूपा अनुग्राहिका शक्ति हैं। आप ही गुरु हैं। आप ही शक्तिपात करनेवालों की शक्ति हैं।

यही परमपूजनीय माँ-शक्ति गुरु में गुरुमय होकर रहती है। इसलिये गुरु न नर है न नारी। वे केवल एक परमानन्दमय उल्लसित प्रेमशक्ति हैं। गुरु पूर्ण विकसित कुण्डलिनी की बोधशक्ति हैं। पूर्वोक्त चितिशक्ति एवं गुरु एक हैं। चिति में गुरु, गुरु में चिति परस्पर परम अभेद हैं।

गुरु साक्षात् परब्रह्मस्वरूप हैं। तत्त्वतः वे परब्रह्म हैं। ऐसी दिव्यातिदिव्य चिति का शिष्य में समावेश करानेवाले गुरु, गुरु नहीं, अपने प्रिय प्राण हैं, अन्तरात्मा हैं। गुरु प्रिय प्राण ही नहीं, साधकजनों की साधन-सम्पत्ति हैं। इतना ही नहीं, साधन के लक्ष्य हैं। साधन द्वारा जो प्राप्त होता है वह गुरुतत्त्व है,—निष्प्रपंच, परम उन्मत्त, परमानन्दमय। 'गुरुगीता' में गुरु का जो वर्णन है, ज्ञानेश्वर ने 'भावार्थ दीपिका' (ज्ञानेश्वरी) के तेरहवें अध्याय में गुरु की जो महिमा गायी है उसमें अणुमात्र भी अतिरेक नहीं। जो गुरुपादोदक का सेवन करता है उसके लिये अमृत तो एक साधारण वस्तु है। गुरुपूजा ही सार्वभौम महापूजा है ऐसा 'गुरुगीता' कहती है :

गुरुरेव जगत्सर्वं ब्रह्माविष्णुशिवात्मकम्।
गुरोः परतरं नास्ति तस्मात्संपूजयेद् गुरुम्॥ ८० ॥

यह बात आपको चितिमय गुरु का साक्षात् अनुभव होने से ही समझ में आ सकती है। सर्वतीर्थ, सर्वदेवता—और अधिक क्या कहूँ, विश्वव्यापी विश्वाकार ब्रह्म श्रीगुरु हैं। वे गुरु शिष्य में अनुग्रहरूप से आप ही प्रवेश करते हैं। अपनी पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति का शिष्य के अन्तर में प्रवेश कराते हैं। *शक्ति का प्रवेश कराना ही शक्तिपात दीक्षा है। क्रियायोग है। गुरुकृपा है।* रुद्रशक्ति का शिष्य में समावेश कराना ही गुरु का अनुग्रह है।

साधना

सिद्धों की कृपा प्राप्त होते ही साधन होने लग जाता है। किसी को साधना की अनुभूति जल्दी होती है; किसी को कुछ देर से। यदि अन्तरंग में सूक्ष्म रूप से साधना होती हो तो अनुभव में नहीं आती। अनुभव न मिलने पर भी साधक को अपनी साधना का सम्मान से, सत्कार से, श्रद्धा से, पूर्ण प्रेम से अनुष्ठान करते रहना चाहिये। गुरुकृपा कभी व्यर्थ नहीं

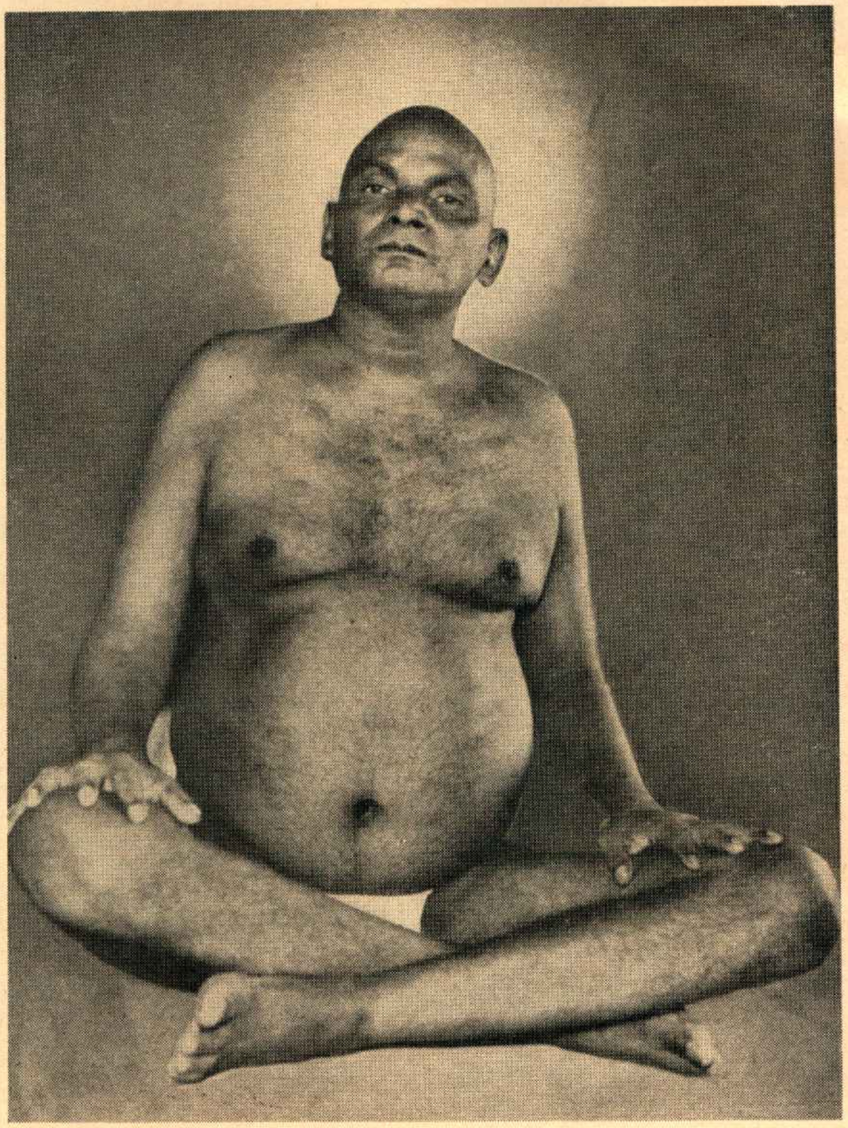

भगवान श्री नित्यानन्द

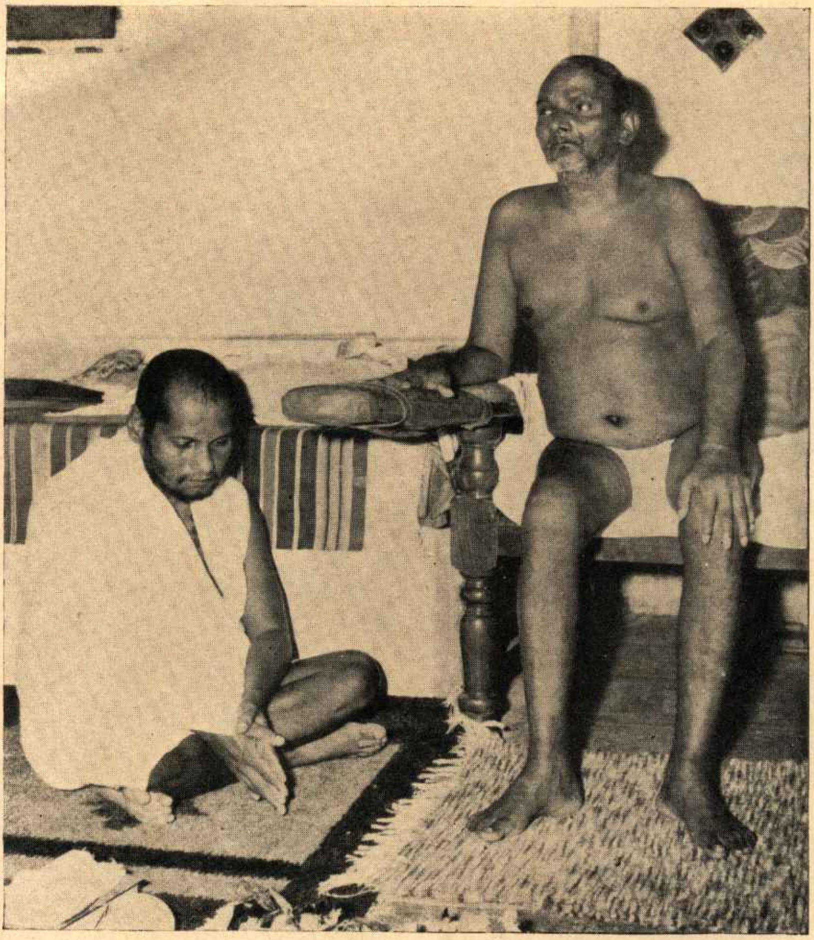

गुरुदेव नित्यानन्द जी के श्रीचरणों में

जाती। चाहे प्रकृति में परिवर्तन हो जाये और सूर्य तपना छोड़ दे, चन्द्रमा शीतलतारहित हो जाये, जल बहना त्याग दे, दिन की रात और रात का दिन क्यों न हो; एक बार हुई गुरुकृपा वा सिद्धकृपा व्यर्थ नहीं जाती। यह कृपा शिष्य के साथ साथ जन्मजन्मातरों में भी रहती है। किसी देश या किसी लोक में जाने पर भी मानव का पातकपुंज फल देने के लिये जैसे समय ढूँढता रहता है, वैसे ही शिष्य पर हुई कृपा क्रियाशील होने के लिये शिष्य के पीछे-पीछे ही फिरती है। इसलिये आप धैर्य से, उत्साह से, प्रेम से अभ्यास करते रहें।

भगवत्-कृपाशक्ति अन्तरंग में प्रविष्ट होने पर पहले जड़ता, निद्रा, आलस्य आदि को लाती है। कई साधकों को अच्छी निद्रा लग जाती है। यह सब साधना ठीक हो रही है इसका ही सूचक है, इसमें संदेह नहीं करना चाहिये। ध्यान के लिये एक ही स्थान में बैठना अच्छा होता है। यदि अनुकूल हो तो साधना के समय के कपड़े भी अलग होना अच्छा है। साधना के स्थान में चिति के अनेक किरणपुंज एकत्रित होकर रहते हैं। हररोज़ एक ही स्थान होने से ध्यान उत्तरोत्तर अच्छा लगता है। हमारा एक ध्यान का कमरा है। वहाँ मैं कुछ काल ध्यान करता था। तदनन्तर सभी वहाँ ध्यान करने लगे। सभी को वहाँ ध्यान होने लगता है। दीक्षा भी वहाँ हो जाती है। इसलिये एक ही स्थान में ध्यान करना उत्तम है। यदि स्थान अनुकूल न हो तो कहीं भी ध्यान करो। प्यारे गुरुदेव अवश्य कृपा करेंगे।

मानव शरीर केवल एक मांसमय पिण्ड नहीं है, चाहे वह ऐसा दीखता हो। यह शरीर ७२,००० नाड़ियों के समुदाय की एक उत्तम रचना है। ये ७२,००० नाड़ियाँ, छः चक्र, नव द्वार आदि मिलके एक घर जैसे हैं। सप्तधातुपूरित इस पुर को पुरी भी कहते हैं। ७२,००० नाड़ियों में से सौ नाड़ियाँ मुख्य हैं। उनमें से दस श्रेष्ठ हैं। इन दस में से तीन अति मुख्य हैं। इन तीनों में से मध्य नाड़ी, जिसका नाम सुषुम्ना है, सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा जीवन के सभी कार्य होते हैं। यह सुषुम्ना नाड़ी परमशिव के वासस्थान, सहस्रार से लेकर कुण्डलिनी नाड़ी के स्थान मूलाधार तक अखण्डरूप से व्याप्त होकर रहती है।

शरीर में प्राण मुख्य है। प्राण निकल गया तो सब गया। फिर उसकी कीमत दो कौड़ी की रह जाती है। प्राण से ही जगत है। प्राण से ही मानव है। प्राण से आनन्द, प्राण से शक्ति, प्राण से सिद्धि, प्राण से आरोग्य, प्राण से लोक-परलोक गमन, प्राणाश्रय से सन्तानोत्पत्ति, प्राण से बल-वीर्य, प्राण से रोग और चिन्ता, प्राण से भ्रम और पागलपन, प्राण से सौंदर्य, प्राण से ही पुनर्जन्म और प्राण से जीवनमुक्ति है। अतएव प्राण ही ब्रह्म, शिव, शक्ति और कुण्डलिनी है। **प्राक्‌संवित्प्राणे परिणता**—वे संवित् देवता प्राणरूप में परिणत होते हैं। कहा है कि **सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम्।** ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, सभी प्राणों में प्रतिष्ठित हैं। जैसे रथ के पहियों की नाभि में अरे लगे रहते हैं और वे उस पर आश्रित हैं, उसी तरह शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सब प्राण के आश्रित हैं। यह प्राण शरीर में विभाजित होकर भिन्न भिन्न कार्य करता या कराता है। यह चितिमय प्राण शरीर को सुव्यवस्थित बनाने के लिये, शरीर के व्यापारों को नीति-नियम से चलाने के लिये पाँच रूपों—प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान में परिणत होता है। एक ही प्राण के, एक ही शक्ति के होते हुए भी विविध कार्य सम्पन्न करने के लिये वह पिण्ड-ब्रह्माण्ड में पाँच रूप से पूर्ण व्याप के रहता है।

प्राण हृदय में कार्य करता है।

'अपनयतीति अपानः।' नीचे ले जाकर विसर्जन करनेवाली शक्ति का नाम अपान है। गुदा और उपस्थ इन्द्रियों द्वारा मलमूत्रविसर्जन का काम जो करता है वह **अपान**।

'समं नयतीति समानः।' जो समान रूप से सब जगह काम करता है वह समान। खाये हुए अन्नरस को सारे शरीर में पहुँचाने का काम जो करता है वह **समान**।

'व्याप्नोतीति व्यानः।' जो व्यापक है वह व्यान। शाखा-प्रशाखा रूप से ७२,००० नाड़ियों की पूरी संख्या में जो शक्ति संचार करती है वह **व्यान**।

'ऊर्ध्वं नयतीत्युदानः।' जो ऊपर की ओर ले जाता है वह **उदान** है। उदान वायु साधक का महान मित्र है। इसके बल से योगी ब्रह्मचर्य की रक्षा करता है। वह 'उदान' द्वारा वीर्य को ऊपर की ओर खींचकर ऊर्ध्वरेता

बनता है। उसके वीर्य-रेतस् प्राणों में मिलकर प्राण बन जाते हैं जिसके प्रभाव से वह स्वर्ग की नर्तकी पर भी पूर्ण विजय पाता है। शक्तिपात करने की क्षमता का मूल स्रोत यह ऊर्ध्वरेतस् है। यही शक्ति, बल, तेज और पराक्रम का दाता है। उदानवायु के आश्रय से पापी जीवात्मा पापलोक में और पुण्यवान पुण्यलोक में तथा वहाँ से मानवलोक में चला जाता है। यही उदान वायु शुद्ध होकर क्रियायोग में समाधिसुख की अनुभूति कराती है। उदान शक्ति सुषुम्ना में रहती है।

अपनी अपनी क्रियाओं द्वारा जीवन को धारण करना इन पाँचों प्राणों का कार्य है। परमेश्वर की जो अनन्त शक्तियाँ हैं, इनमें प्राण मुख्य है। प्राण हृदयक्रिया का मूलभूत आधार होकर शरीर को धारण करता है। हृदयक्रिया सतत चालू रखनेवाला प्राण ही है। प्राणशक्ति की क्रिया से जीवात्मा जी रहा है।

मध्य नाड़ी सुषुम्ना में महाशक्ति निहित है। श्रीगुरु की कृपा से जागी हुई कुण्डलिनी महाशक्ति पंच प्राणों के आधार से ७२,००० नाड़ियों में से गुज़रकर सर्वांग को व्याप लेती है। यह शक्ति सप्तधातुओं में तथा रस-रक्त के कण-कण में व्याप्त होकर शरीर को शुद्ध, सुगठित, स्वच्छ और सुन्दर बना देती है; मानवशरीर को तेजयुक्त, कान्तियुक्त बनाती है।

मैं कई बार कह चुका हूँ कि परमात्मा की यह शक्ति अनन्त प्रकार के कार्य करती है। वह कभी कभी अपने ऐश्वर्यमय, उल्लासमय और आनन्दमय स्फुरणों के सहित गुरुभक्तिनिष्ठ साधक में अद्भुतरूप में स्फुरित होती है। तब साधक नाचता है, गाता है, रोता है। कभी चिल्लाता है। कभी अंगप्रत्यंग की क्रियाएँ करता है। मेंढक की तरह कूदना, चक्कर लगाना, घूर्णा आना, ज़मीन पर लोट-पोट होना, अपने मुँह पर स्वयं चपत लगाना, गरदन का वेग से घूमना, तरह तरह के आसन तथा मुद्राएँ होना, कम्प होना, स्वेद आना, जालंधर, उड्डियान और मूलबन्ध की क्रियाएँ होना, जिह्वा का अन्दर की ओर खिंच जाना या ऊपर की ओर तालू से खेचरी मुद्रा में लग जाना, आँखों की पुतलियों का ऊपर की ओर चढ़ जाना, तरह तरह की आवाज़ें करना, सिंह की गर्जना तथा अन्य पशुओं की आवाज़ें करना, मन्त्रों का एवं प्रणव का ज़ोर ज़ोर से उच्चारण करना इत्यादि क्रियाएँ साधक स्वयं ध्यान में करता है। तरह तरह के प्राणायाम भी स्वतः होते हैं।

भस्त्रिका, भ्रामरी, शीतली, सीतकारी, उज्जायी आदि अनेक प्राणायाम साधक स्वयमेव करता है। केवल कुम्भक, सहज कुम्भक स्वतः होने लगते हैं। जैसे जैसे ध्यान बढ़ता जाता है वैसे वैसे कुम्भक दीर्घ होता जाता है। कभी कुछ साधारण बीमारी भी आ जाती है, परन्तु जल्दी ही मिट जाती है। शरीर में जो रोग छिपा हुआ रहता है वह प्रकट होकर निकल जाता है। ये सब क्रियाएँ और कार्य सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी गुरुकृपा से ही सम्भव हैं।

कभी कभी साधक को एक नशा-सा चढ़ जाता है। मस्तक भारी-सा लगता है। तन्द्री की दशा बनी रहती है। कभी कभी अनेक दृष्टान्त भी होते हैं। सिद्धों के दर्शन, ज्योतियों के दर्शन, लोकलोकान्तरों में भ्रमण, स्वर्ग, नरक, पितृलोक, सिद्धलोक आदि को देखना तथा श्रीगुरुदेव के दर्शन भी होते हैं। किसी दिव्य अपूर्व सुख की लहरें अन्तर में उठने लगती हैं। सब नाड़ियों में आनन्द का सुखद प्रवाह बहने लगता है। साधक मस्त होके झूमने लगता है। सारी सृष्टि याने साधारण से साधारण वस्तुएँ भी उसे अति सुन्दर, अति प्यारी लगती हैं। ऐसा लगता है मानो एक नये संसार में नया जन्म हुआ हो, मानो इन्द्रपुरी की सुरम्यता व सौंदर्य, वहाँ का आह्लाद और आनन्द मृत्युलोक में अवतरित हुए हों! साधक गद्गद् हो उठता है। उसको अब पता लगता है कि जीवन कितना आनन्दमय, कितना मधुर और कितना प्यारा है। हृदय में प्रेम झरने लगता है। सब प्राणियों के प्रति करुणा उमड़ती है।

शक्ति का वेग कभी तीव्र होता है तो कभी मन्द हो जाता है। वह कभी चार दिन ध्यान बढ़ा देती है तो बीच में चार दिन घटा देती है। हे साधकजन, तुम डरो मत। निर्भय होकर गुरु का आश्रय लो। गुरु पर भरोसा रखो। एक आशा, एक विश्वास, एक बल श्रीगुरु का लेकर रहो। सहज ही पूर्ण बनोगे। ध्यान को नित्य नियम से करते रहो। समय-नियम का सदा पालन करो। मन में श्रीगुरु का दिया हुआ नाम जपते रहो।

नामजप अन्तरशक्ति को महावेग से क्रियाशील बनाता है। क्योंकि अकार से लेकर क्षकार तक सब वर्ण, सब अक्षरों में कुण्डलिनी चिति ही व्याप्त है।

अकारादिक्षकारान्ता मातृकावर्णरूपिणी।
यया सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥

नाम प्रकट परमात्मा है। इसलिये नाम जपो। नाम ध्याओ। नाम गाओ। नाम का ही ध्यान करो। नामजप होता है या नहीं इतना ही ध्यान बहुत है। नामजप साधना में रुचि और गुरु में पूर्ण प्रेम बढ़ाता है, विज्ञान की कला देता है, प्रेम की प्रतीति देता है। नाम चिंतामणि है। नाम कामधेनु है। नाम कल्पतरु है।

सच पूछो तो नाम वह मन्त्र है जो तुमको श्रीगुरु से मिला है। तुम पूर्ण श्रद्धा के साथ, परम सत्यनिष्ठा के साथ, उसे प्रत्यक्ष भगवान समझकर जपो। *मन्त्र, गुरु, शक्ति और तुम एक हो इस बात को मत भूलो।* कहा है कि मन्त्र जप करनेवाले का रक्षण करता है – **मन्त्राः मननत्राणरूपाः।** मन्त्र को आत्मसात् करके जपा करो। सिद्धगुरु के प्रसादरूप मन्त्र को जपते रहो। मन्त्र में तुम्हारे गुरु मूर्तिमान् होकर रहते हैं। इसलिये तुम चैतन्य गुरुमन्त्र को जपते ही रहो। प्रेम से गाते रहो। स्नेह से ध्याते रहो। तुरन्त ही शक्ति विद्युत्वेग से कार्य करेगी। गुरु के दिये हुए मन्त्र को प्रेम से प्राण-अपान में मिलाकर जपो। फिर देर नहीं। क्रियाएँ अपने आप होंगी। साधना अपने आप होगी। दर्शन अपने आप होगा। संत तुकाराम जी कहते हैं : एक मात्र नामजप से समझ में न आनेवाला समझ में आ जायेगा। नाम की महिमामात्र से न दीखनेवाला सहज ही में दीखेगा। नाम के जपने से अपार लाभ होता है :

न कळे तें कळों येईल उगलें। नामें या विठ्ठले एकाचिया॥ १॥
न दिसे तें दिसों येईल उगलें। नामें या विठ्ठले एकाचिया॥ २॥
अलभ्य तो लाभ होईल अपार। नाम निरंतर म्हणतां वाचे॥ ३॥

ऐसे नाम को एकान्त में बैठकर, निर्मल मन से जपो। तुम जब मन में कुभावों, कुसंस्कारों का चिन्तन करते हो तब तुम्हारा अन्तःकरण उन्हीं दशाओं की अनुभूति करता है। कामविकार के चिन्तन से पूर्ण काममय बनने की तुमको अनुभूति है। तो मन्त्र-चिन्तन कर मन्त्रमय बनने में देर कितनी लगेगी? मन्त्र के साथ श्रीगुरु ने तुम्हारे अन्दर प्रवेश किया है। वे

सर्व अंगों में पसरकर तुमको अपने जैसा बना देंगे। गुरु का यह कितना उपकार है? मैं फिर तुमको याद दिलाता हूँ, मन्त्र का जाप करते रहो। ऐसा करते करते ध्यानावस्था प्राप्त होगी।

हृदय में बैठी गुरुशक्ति ध्यान को बढ़ाती एवं स्थिर करती है। वह ध्यान के आलम्बन के लिये अन्तर से कुछ न कुछ दिखायेगी—ज्योति या नाद या बिन्दु। तदनन्तर तुम्हारा ध्यान गहरा बनेगा।

ध्यान ही चित्तचांचल्य पर विजय प्राप्त करानेवाला अमोघ उपाय है। ध्यान ही इच्छित फल देनेवाला कल्पवृक्ष है। ध्यान ही ईश्वरशक्ति को खींच लेनेवाला लोहचुम्बक है। ध्यान को साधारण मत समझो।

ध्यान योग का हृदय, साधना का मूल, ज्ञान की गुरु-कुंजी, प्रेम का प्रवाह तथा श्रीगुरु की कृपापूंजी प्राप्त करानेवाला महायज्ञ है। ध्यान श्रीगुरु का ही एक रूप है।

ध्यान कैसे करना, किसका करना, कहाँ तक करना, यह एक अत्यंत महत्त्व का प्रश्न है और बड़ा आवश्यक भी। गीता में कहा है—**ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानम्** यानी ध्यान से आत्म-दर्शन होता है। श्रीमद्‌भागवत में कहा है कि **ध्याने ध्याने तद्‌रूपता।** ध्यान में साधक परमात्मरूप हो जाता है। भृंगी के तीव्र ध्यान से कीट भृंगी होता है। वैसे ही साधक परमेश्वर का ध्यान करते करते तद्‌रूपता को प्राप्त करता है।

ध्यान के नाम से डरो मत। तुम्हारे संसार में ध्यान बहुत प्रकार से किया जाता है याने होता है। तुम्हारा कला-कौशल ध्यान द्वारा ही पूरा होता है। डॉक्टर का रोगनिदान, न्यायाधीश का निर्णय, रडार जैसे यन्त्रों के निर्माण की क्षमता, प्रोफेसर का लेक्चर, अन्न को पकाना, ड्राइवर का गाड़ी चलाना, संगीत की तान लगाना, गणित के प्रश्नों का हल करना—ये सब क्या बिना ध्यान के साध्य होते हैं? कुछ ना कुछ मात्रा में सब ध्यान द्वारा ही पूरा होता है। किन्तु इन सब विषयों में तुम्हारा ध्यान सांसारिक क्षेत्रों में है, ईश्वर के प्रति नहीं। तुमने जैसे अपने चित्त को सांसारिक कामों में तन्मय बनाया है वैसे ही चित्त को परमेश्वर में भावपूर्ण बनाना ध्यान है। यह कठिन नहीं है, परन्तु बहुत सुलभ भी नहीं। ध्यान का पूरा पूरा अर्थ है : **निर्विषयं मनः।** मन का मननरहित, चिंतनरहित, प्रज्ञा-स्मृतिरहित

बनना, मन अमन बनना, यह ऊँचे ध्यान का स्वरूप है। इस ध्यान को उच्च कोटि के महात्मा जानते हैं। ध्यान में मन का मननरहित बनके आत्माकार होकर रहना, ऊँची अवस्था का द्योतक है।

ध्यान के विषय में शंका या तर्क नहीं करना चाहिये। सगुण का ध्यान करूँ या निर्गुण का करूँ? सगुण निर्गुण दोनों एक ही फल देनेवाले हैं। तुकाराम, तुलसीदास, नामदेव, मीराबाई, जनाबाई आदि सन्तजन सगुण उपासक थे। इन सन्तों ने सगुण का भी साक्षात्कार किया और निर्गुण का भी। सगुण काल्पनिक नहीं, सत्य है। परमात्मा की अनन्त महिमा है। उसने अपनी ही अनन्त शक्ति के भंडार से शून्य में इस व्यवहारयोग्य जगत को रचा। स्वयं ही जगत बना। जगत की सारी वस्तुएँ आप ही बना। जो अनन्त-रूपा, अनन्त-नामा है, उस परमात्मा को सगुण बनना क्या कठिन है? इसलिये विभिन्न वादों में साधु-संन्यासियों को ही नहीं, मुमुक्षुओं को भी भाग नहीं लेना चाहिये। तुमको जो रुचता हो, वही ध्याओ। सगुण निर्गुण दोनों गोविन्द हैं। जिससे तुम्हारा चित्त शांत, चपलतारहित, आत्माकार बने, उसीका ध्यान करो। ध्यान के विषय में वादविवाद करते करते समय को व्यर्थ नष्ट मत करो। किसी का भी ध्यान करो। सभी देवता ध्यानयोग्य हैं। वे सब एक रूप ही हैं। ध्याते ध्याते अन्तर में जो एक परम शांति का स्थान है उसे प्राप्त करो। जिस स्थान को पहुँचकर साधक दुःखों को भूल जाता है, पूर्णत्व की अनुभूति करता है, जहाँ पर अभाव के दुःस्वप्नों का विस्मरण होता है, तथा जहाँ जन्म-मरण की कल्पना का नाश होता है, उस स्थान को ध्यान द्वारा प्राप्त कर लो। वादविवाद एक रोग है। संसार में मनुष्य ने अनेक रोगों को भोगा है। फिर पछताया है। अब 'ध्यान विवाद' के रोग से वह क्यों नहीं दूर हटता? शून्य चित्त बनो। निद्रा से अभी जागा हुआ पुरुष, नींद में न होने पर भी शून्य चित्त की अनुभूति करता है, वैसे ही तुम्हारे चित्त को शांत, निश्चिन्त बनाकर आत्मा से अभिन्न होने दो। यही ध्यान की प्रगति है। तुमसे एक और बात कहता हूँ। तुम *अपनी आँखों से जो भी देखो, उन सभी को राममय समझ लो। जो जो दृष्टिगोचर होता है वह भगवान से पूरित है, ऐसा समझने से बड़ा ध्यान होता है। यही सत्य दृष्टि है जो जन्म-मृत्यु से मुक्त करती है।* यमराज अपने दूतों से कहते हैं :

सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात्॥
विष्णुपुराण ३।७।३२

यानी 'यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला संसार और मैं एकमात्र परम पुरुष परमेश्वर वासुदेव ही हैं, ऐसी हृदयस्थ परमात्मा में जिनकी निश्चल भावना हो गई है उन्हें, हे दूतो! दूर से ही छोड़ कर निकल जाओ।' कितना ऊँचा ध्यान! कितनी ऊँची भावना! पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आगे, पीछे, ऊपर नीचे परमात्मा का ही ध्यान करने वाले तुरंत जीवन्मुक्ति पाते हैं।

गोपियों ने भी ऐसा ही ध्यान किया था। वे जहाँ भी देखतीं, श्याम ही देखतीं। गोपियों को यमुना श्याम, कुंज और वन श्याम, चहुँ दिशाएँ श्याम, अपने पति श्याम, बालबच्चे श्याम, गाय श्याम, आप खुद भी श्याम, मन में श्याम, तन में श्याम—सर्वत्र श्याम ही था। श्याम से भिन्न और कुछ दीखता ही न था। इस प्रकार का ध्यान गिरि या कन्दरा में जाये बिना ही पूरा होता है। यह ज्ञानोत्तर ध्यान है। इसमें परमेश्वर का ज्ञान मुख्य है। यह पूर्ण सत्य है कि सारा संसार परमात्मा का ही पूर्ण रूप है।

सिद्धपीठ की महत्ता

भगवान नित्यानन्द के पास बहुत जन आते, साधना करते, सभी की एक ही इच्छा थी कि वे नित्यानन्द बनें। सब की अभिलाषा ऋद्धि-सिद्धि तथा सन्मान पाने की और नित्यानन्द बनने की थी। हर कोई कहता, 'मैं बड़ा, मैं बड़ा। मैं नित्यानन्द का अधिक प्यारा। मुझ पर ही उनकी कृपा हुई है। दूसरे को इतना नहीं मिला।' इस प्रकार उपद्रव और पीड़ा पहुंचानेवाले स्वर भक्तों में सुनायी देने लगे, जिससे ईर्ष्या, मात्सर्य, द्वेष, विडम्बना और आडम्बर बढ़ने लगा। जितनी मात्रा में यह सब बढ़ा, उतनी ही नित्यानन्द से प्राप्त मस्ती कम होती चली। ध्यान की मात्रा घटती चली। 'वह क्या बोला?' 'उधर क्या हुआ?' 'उसको क्या आता है?' 'मेरे जैसा कौन है?' 'मेरी बात तो नित्यानन्द भी सुनता है, फिर दूसरे का क्या कहना?' 'हमारी बात स्वामी को माननी ही चाहिये।' 'तुम अपने को

क्या समझते?'—ऐसा भवजाल और भ्रम फैलने लगा। अपने को ही नित्यानन्द मानते मानते भक्तलोग अपने में दर्प और दम्भ की मात्रा बढ़ाते चले। बहुत भारी विघ्न उपस्थित होने लगे। जहाँ सर्व पाप दूर होना चाहिये था, जहाँ निष्पाप और निर्मल बनना चाहिये था, वहाँ ऐसा रोग फैला! अस्तु।

ध्यान करनेवाले साधक को याद रखनी चाहिये कि गुरुप्रेम के प्रभाव से जिस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धता और सात्विकता दिन प्रतिदिन बढ़ती है, उसी प्रकार ईर्ष्या, मात्सर्य तथा विषयाचरण वृत्ति से ये शुभ भावनाएँ दिन प्रतिदिन घटती हैं। मानव के लिये यह बात निश्चित है कि या तो उसका ध्यान और पुण्य बढ़ेगा, तथा उसे शांति और स्वर्ग सुख मिलेगा; अथवा उसके अन्तर में कलह बढ़ेगा, पुण्य घटेगा, पाप की नित्य वृद्धि होगी और विषयासक्त बनते बनते वह नरक का भागी बनेगा।

आश्रम में रहनेवालों को सावधानी से जीवन बिताना चाहिये। सिद्धपीठ गुरुजनों का दरबार, धधकती हुई प्रज्वलित योगाग्नि का केन्द्र है। जैसे यह अग्नि पाप को पूर्णतया जलाकर आप को योगेश्वर बना देगी, वैसे ही आश्रम में रहते हुए साधनारहित, विषयविकारों से युक्त जीवन बिताने से पुण्य को घटाकर निस्तेज भी कर देगी। आश्रम में वासनाओं का विलास कदापि नहीं होना चाहिये। आश्रम में रहनेवालों को अन्य सभी आश्रमवासियों में अपने आत्मरूप गुरुदेव को ही देखना चाहिये, जिससे ध्यान उत्तरोत्तर बढ़ेगा। आश्रम में भक्त बनकर जानेवाले साधक कभी भी दूसरों के गुण-दोष न देखें। जो दोष देखते हैं वे दोषों को बढ़ाते हैं; योग की शक्ति को घटा लेते हैं। फिर ऐसा सोचना कि 'अब इधर मज़ा नहीं, दूसरा आश्रम ढूँढ़ना चाहिये'—यह व्यभिचारिणी वृत्ति है। दूसरे आश्रम जाकर भी उनका ऐसा ही हाल होगा। आश्रम को विलासभूमि नहीं बनाना चाहिये। यह गपशप का या कालेज के लड़के-लड़कियों का विलासस्थान नहीं है। टेनिस खेलने का क्लब नहीं है। चैनबाज़ों का 'व्हिस्की' या 'ब्रैण्डी' का 'बार' नहीं है। आश्रम में जानेवालों को अमर्यादित, स्वच्छन्द, मनमाना व्यवहार करके अपनी प्राप्त शक्ति को नष्ट करके पथभ्रष्ट नहीं होना चाहिये। जहाँ तहाँ मर्ज़ी हो बैठक जमाना, गप्पबाज़ी करना, जिससे लोकनिंदा, संशय या दोषारोपण आवे, ऐसा व्यवहार योगसिद्धि को नष्ट कर

देता है। आश्रम के प्रति निष्ठा, श्रेष्ठ आचरण, सत्कर्म, नियमित जीवन होने से चिति के अन्तरकार्य, कुण्डलिनी के विलास का महान अनुभव दूर नहीं। अभी अभी की बात है। साधना करनेवाली एक लड़की ने ध्यान की उच्च अवस्था को प्राप्त किया है। यद्यपि उसको आये अभी एक महीना भी पूरा नहीं हुआ, उसको उच्च ध्यान लगता है। अनेक मुद्राएँ होती हैं। वह ध्यानावस्था में ध्यान से भागकर मेरे पास आयी। वह बायें हाथ से दाहिने हाथ की बीच की अंगुली पकड़े हुए थी। बोली, 'बाबाजी, यहाँ मुझे सर्प ने काट लिया है। इसलिये मैं उठकर ध्यान छोड़कर आपके पास आ गयी हूँ।' क्या ऊँची अनुभूति है! थोड़े ही समय में उसने कितनी मंजिलें पार कर लीं! सिद्धयोग में दाहिने हाथ की मध्यमा अंगुली को सर्प का डँसना महान मोक्षधर्मसिद्धि का चिन्ह है। सिद्धयोग के अभ्यासी को स्वप्न में भी यदि सर्प काटे तो उसके लिये मोक्ष निश्चित है। यदि ध्यान-काल में ऐसी अनुभूति हो तो महान श्रेष्ठ है। अस्तु।

पराशक्तिमयी श्री कुण्डलिनी महाविद्या को *सिद्धविद्या* कहते हैं। इस मार्ग का साधक *सिद्ध विद्यार्थी* कहलाता है। इस मार्ग को *सिद्धमार्ग* या *सिद्धपंथ* कहते हैं। *सिद्धपीठ* एक ऐसा स्थान है, जो सर्वत्र चिति प्रेरित परमाणुओं से भरा होता है। सिद्धपीठ में दी गई कुण्डलिनी दीक्षा शाम्भवी दीक्षा कहलाती है। हंस गायत्री एवं हंस प्रणव इसके जपमन्त्र हैं। प्राणापान द्वारा हंसानुसन्धान ही इस मार्ग का प्राणायाम है। ऐसे सिद्धपीठ या आश्रम का रक्षण, वहाँ का सर्व योगक्षेम सिद्धलोक के वासी समस्त महापुरुष करते हैं। इसमें परमपुरुष सिद्धेश्वर और उनके परम्परागत सिद्धयोगी और सिद्धयोगिनियाँ शक्ति प्रदान करते हैं। सिद्धमार्ग के ध्यान-साधन के काल में यदि आप सिद्धाश्रम में रहें तो आप को सिद्धलोक के वासियों, अनेक ऋषि-मुनि-योगियों के दर्शन अवश्य होंगे। दिव्यनाद, महानिद्रा, लोक-लोकान्तर के दृष्टान्त आदि सिद्धियों की प्राप्ति होगी। सिद्धविद्यार्थियो और सिद्धविद्यार्थिनियो! अपने शरीर में सिद्धप्रेरित सिद्धशक्ति के प्रसरण को सावधानी से सम्भालो। परस्पर एक दूसरे को क्रोध, रोष, पापदृष्टि, भेददृष्टि से कभी न देखो। स्वप्न में भी दोषाचरण न करो। न दोष बढ़ावो न सिद्धाचरण के विरुद्ध कोई व्यवहार करो। सिद्धगति को समझ के चलो। नहीं समझने से वह उतनी ही हानिकारक है। अनादि, अनन्त, अपार,

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली परमपुरुष परशिव से लेकर आज तक, अर्थात् आज के सिद्धविद्यार्थी-सिद्धविद्यार्थिनियों तक, सिद्धविद्यारूप से—पिता से पुत्र और पुत्र से भावी पिता, माता से पुत्री और पुत्री से भावी माता जैसे रस, रक्त, रूप, लिंगादि से अभेद अभिन्न हैं, वैसे ही उस अनादि, अगोचर, अविचल, अविकारी, सत्-चित्-आनन्दमय परमगुरु की ही शक्ति शक्तिपातरूप में पूर्ण व्यापी है। वह चितिशक्ति अनादि होने पर भी नित्य नूतन है। इस शक्ति को शिवजी ने 'शिवसूत्र' में **इच्छा शक्तिरुमा कुमारी** कहा है। वह परमेश्वर की आत्मरूप अपनी पवित्र इच्छा शक्ति है। वह उमा है। अर्थात् साधकजन को उत्तरोत्तर मार्गदर्शन करनेवाली कुमारी है। वह महामहिमामयी चितिशक्ति, परमेश्वरी गुरुकृपारूप शक्ति बनकर सिद्ध विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों में व्याप्त रहती है।

वस्तुतः कोई सिद्धविद्यार्थी एवं विद्यार्थिनी सिद्धमार्ग में आगे बढ़े तो सम्माननीय है। उसका सम्मान पराशक्ति का सम्मान है। उसके प्रति अपमान या कुभावाचार ठीक नहीं, क्योंकि वह कुभाव उन पराशक्ति परमशिव श्रीगुरु के प्रति ही होगा। साधक योगी और योगिनी परस्पर यही एक दृष्टि रखें कि उनमें मेरे पूज्य श्रीगुरु की परमशक्ति ही व्यापी है, क्योंकि साधकों में व्यापी शक्ति और उनमें व्यापी शक्ति एक चिति की है। किसी के प्रति अवहेलना, अपमान, कुदृष्टि, दोषदर्शन आदि मत करो। सावधानी से चलते हुए अन्तर में समझो कि जो पराशक्ति श्रीगुरु में है वही उसमें है। वही मुझमें है। यदि ऐसा नहीं किया तो तुम्हारा साधन, प्रसादरूप से प्राप्त भिन्न भिन्न दृष्टान्त रुक जायेंगे। दूरदर्शन, दिव्यदर्शन रुक जायेंगे। तुमको अनेक प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति नहीं होगी। एकमात्र तुममें व्यापी हुई पारमेश्वरी शक्ति से मित्रता, गुरुकृपाशक्ति से दोस्ती, साधनक्रियाओं से संगति करो। भिन्न भिन्न अन्तर अनुभूतियाँ तुमको बहुत होंगी, उनमें ही रमो। उन्हींका प्रेम से स्मरण करो। अन्तःकरण की अपनी पवित्र वृत्ति, कुभावना एवं अनाचार से मत बिगाड़ो। याद रखो कि महाशक्ति को सम्भालने की महान तपस्या तुमको ही करनी होगी। जैसे यदि एक गर्भिणी अनियमित खानपान, विलास, स्वच्छन्दता, भ्रष्टाचार से दूर रहकर अपने गर्भ को जागरूकता और सावधानी से नहीं सम्भाले तो वह गर्भ गिर जाता है, दोष आ जाता है या पिण्ड बलवान नहीं होता;

जैसे धनवान धन को, गुणवान गुण को नहीं सम्भाले तो उसका धन या गुण थोड़े काल में ही नष्ट हो जाता है; वैसे ही यदि कोई साधक संयमहीन रहता है तो शक्ति क्षीण हो जाती है।

सिद्धों की संगति में तथा सिद्धपुरुषों के आश्रम में जागरूकता से रहना चाहिये। सिद्धयोग के विद्यार्थी एवं विद्यार्थिनियों का परस्पर व्यर्थ बातें करते रहना, मृषा वार्तालाप और स्वच्छन्दाचरण करते रहना, सिद्धनीति के विरुद्ध है। सिद्धयोग के साधक को किसी का भी उच्छिष्ट भोजन नहीं खाना चाहिये। न ही किसी का अनावश्यक अंगस्पर्श करना चाहिये। चिति की महिमा महान है। वह परम पवित्र है। अर्थात् परमशुद्धता के आचरण का अर्थ जातिभेद, छुआछूत तथा उच्च-नीच की भावना नहीं, सजावट नहीं। उसका अर्थ मुख्यतः पवित्रता से है। मानव के हृदय में दिव्यशक्ति का बल सहज तैयार होता है। अनावश्यक गप्पें, गुणहीन जनों की संगति उस शक्तिभंडार को नष्ट कर देते हैं।

मानव के मनोराज्य में अनेक प्रकार के शक्तिपुंज नित्यप्रति उदय-अस्त होते रहते हैं। मानव जो जो व्यवहार करता है उसके अनुसार वह हो जाता है। इसीको '**क्रतुमय पुरुष**' कहते हैं। तुमने पवित्र भावना से ध्यान द्वारा चितिशक्ति के जिस पुंज को जमाया वह नित्यप्रति बढ़ते बढ़ते पूर्णत्व तक पहुंचना चाहिये। आधे में ही नहीं रुक जाना चाहिये। सिद्धविद्यार्थी और सिद्धविद्यार्थिनियाँ विशेषकर इस शक्ति को बढ़ावें। यह शक्ति संसार और परमार्थ दोनों में काम देती है। यहाँ मैं एक श्लोक लिखता हूँ जो सिद्धयोग के फल का कथन करता है :

यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगो यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः।
श्रीसुंदरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थावैव॥

अर्थात् जहाँ मोक्ष है वहाँ सांसारिक भोग नहीं, जहाँ भोगसाधन है वहाँ मोक्ष नहीं। परन्तु जहाँ श्रीसिद्धविद्यारूप परम सुंदरी कुण्डलिनी की उपासना होती है, वहाँ भोग और मोक्ष दोनों एक साथ रहते हैं। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है।

इस चराचर जगत का मूल आदिशक्ति भवानी है। भगवान श्रीकृष्ण गीता के तेरहवें अध्याय में यही कहते हैं :

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

जो कुछ भी दीखने वाली वस्तु, सर्वकर्म और क्रियाएँ हैं, वे परा प्रकृति भवानी ही करती है, ऐसा जो देखता है, वह सत्य देखता है। महर्षियों ने उस परतर आनन्दमयी माता श्री चिति भगवती से ऐसी प्रार्थना की है: '**त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी**।'-हे जननी। तुम एक ही सब की माता हो। मूलप्रकृति हो। 'स्पन्दशास्त्र' का कथन है:

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।

जो परशिव की पराशक्ति है उसी संवित्ति की क्रीड़ा अथवा विलास यह सारा जगत है ऐसे देखनेवाले ही यथार्थदर्शी हैं। वही शक्ति कुण्डलिनी, वही अन्तर-साधना क्रियाशक्ति है। इस शक्ति का विकास 'जगत' है। सिद्धयोगियों की शक्तिपात की वही शक्ति है। इसलिये साधकजन आश्रम में विचारशीलता से रहें। अपना व्यवहार ऐसा रखें कि जिससे गुरुकोप न हो जाये या शक्ति क्षीण न हो जाये। जागरूकता से रहें। जितनी पवित्रता से रहेंगे उतनी ही दिव्यता प्राप्त करेंगे। आप जितनी दिव्यता बढ़ायेंगे उतनी ही शक्ति की प्रभा आप को जहाँ तहाँ दिखेगी। गुरुपीठ के आसपास वृक्ष, लता, फलफूल, पशु-पक्षी में, अन्दर-बाहर शक्तिपुंज निवास करते हैं तथा इस परम्परा के महासिद्ध-समुदाय की कृपादृष्टि रहती है। सिद्धपीठों में गुरुजनों की परम्परा के सभी महात्मा साधकजनों को देखते रहते हैं यह कभी नहीं भूलना चाहिये।

गुरुध्यान

सिद्धयोग में अपने इष्ट के एकाग्रतायुक्त ध्यान का महान स्थान है। परम गुरु ने अन्तरशक्ति जगायी, मन्त्र बताया, आसन सिखाया। अब शांति से सूर्योदय से पूर्व उठकर स्नान करके ध्यान करो। पूर्व दिशा की ओर मुख करके, या जो भी दिशा है, उसको श्याम की ही समझकर, शांत होके, आसनस्थ बैठ जाओ। याद करो उस पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति की। याद करो मन्त्र की। अन्दर जाते हुए और बाहर आते हुए प्राण के

साथ मन्त्र जोड़कर जप करो। चित्त को मन्त्र में मन्त्रमय बनाओ। मन यदि इधर उधर को दौड़ने लगे, तो उसे लौटाकर ध्यान में लगा दो। तुमको एक और उत्तम प्रक्रिया बताऊँ क्या! सुनो। पतंजलि ऋषि का एक सूत्र है—**वीतरागविषयं वा चित्तम्**। अपने चित्त को अपने प्यारे गुरु के ध्यान में लगाओ। *यह सिद्धयोग या कुण्डलिनी महायोग का प्राण है। ध्यानयोग का रहस्य है। आत्मलाभ की गुरु-कुंजी है।*

मानव जिस जिस का ध्यान करता है उस उसके अनुरूप बनता है। जिस वस्तु को वह हृदय में प्रेम से धारण करता है उसी वस्तुमय वह बन जाता है। सिद्धगुरुजनों का ध्यान बहुत सुलभ है, क्योंकि एक तो हम लोग श्रीगुरु के नख से शिखा तक पूर्ण परिचित होते हैं। हम अपने प्यारे गुरु से बारबार मिल चुके होते हैं। उनके साथ फिर चुके होते हैं। उनसे अनेक विधि-विधानों को सुन चुके होते हैं। कुछ मस्ती भरी यौगिक क्रियाएँ, उच्च तत्त्वज्ञान की बातें, नानाविध और विचित्र साधनों का ज्ञान, अनेकानेक संतमहात्माओं के चरित्र हम श्रीगुरु से श्रवण करते हैं। यह सब जो जो भी हमारी मानसिक क्षेत्र की सृष्टि में है वह पूरा पूरा स्मरण करने या कभी कभी स्मरण न करने पर भी हमारे सामने आ जाता है, यह सभी का अनुभव है।

एक बार एक नवयुवक मेरे पास आया और बोला, "बाबाजी, मैं बहुत परेशान हूँ। मेरा समाधान कीजिये। बात यह है कि मेरा एक युवती से प्रेम हो गया। हमने परस्पर एक दूसरे को पसन्द किया और विवाह करने का निश्चय कर लिया। परन्तु शादी की बात ठहरते ठहरते बिगड़ गयी। उस लड़की ने इसी बीच किसी और को पसन्द कर लिया और उससे शादी कर ली। इस कारण से बाबाजी मैं बहुत कष्टी हूँ। अपनी वेदना मुझसे सही नहीं जाती।"

मैंने कहा, "अरे, इसमें शोच की क्या बात है? तुम भी कोई दूसरी लड़की देख लो और उससे शादी कर लो।"

वह बोला, "यह तो ठीक है, परन्तु वह लड़की मेरे मन में इतनी बैठ गयी है कि निकालने के लाख प्रयास करने पर भी नहीं निकलती।'

मैंने पूछा, "तुम उसकी याद क्यों करते हो?"

उसने कहा, "याद मैं थोड़े ही करता हूँ। स्वयं ही उसका स्मरण चित्त

में आ जाता है। अपने आप ही उसकी मूर्ति मेरी आँखों के सामने घूमने लगती है।"

अहा, क्या बात बतायी! उसने उस लड़की का विधि-विधान से दीर्घकाल तक अनुष्ठान नहीं किया था। प्रत्येक अंग के बीजमन्त्र को लेकर उसका ध्यान नहीं किया था। न किसी उच्च स्तर के सिद्धमहात्मा से उस लड़की के नाम का कोई मन्त्र लिया था। फिर भी उसका चित्र युवक के मन से नहीं निकलता! निकालने का उपाय पूछने के लिये बाबाजी के पास आता है! देखा, संगति का कितना परिणाम है? जब हम किसी को प्रेम से हृदय में बिठाते हैं तब वह निकालने से भी नहीं निकलता। 'मन से निकल जाओ' ऐसा कहने पर भी नहीं जाता। प्रेमयुक्त ध्यान का ऐसा फल होता है। तो फिर तुम अपने गुरुदेव को क्यों नहीं इसी भाँति प्रेम से ध्याते? उनके एक ही बार तुम्हारे अन्तःकरण में प्रवेश करने से वे मूर्ति बनकर वहाँ बैठ जायेंगे। फिर निकालने से भी नहीं निकलेंगे।

जगत के सारे सांसारिक जन यही गीत रात-दिन गाते हैं, "बाबाजी, मैं ध्यान में बैठने का प्रयास करता हूँ। पर बैठते ही वही संसार की बातें सामने आ जाती हैं। वही ऑफिस। वही फैक्टरी। वही बालबच्चे। क्या करूँ, बहुत परेशान होता हूँ। ध्यान लगता ही नहीं।"

मैं कहता हूँ, "अरे ध्यान तो अच्छा लगता है। तुम्हारे ऑफिस का अन्तर में स्फुरण होना ध्यान ही तो है। कारखाने का स्फुरण होना ध्यान का ही एक भाग है। ध्यान में तुमको अपने बालबच्चों के भी दर्शन होते हैं। क्या तुमको अपनी साधना का फल पाकर भी समाधान नहीं! तुमने व्यावहारिक जीवन में जो प्यार से साधना की, जिन जिन चीज़ों को गले लगाकर प्यार किया, जिस जिस का चिन्तन किया, वे सब तुमको फल दे रहे हैं। कभी कारखाने के दर्शन, कभी ऑफिस के दर्शन, कभी बालबच्चों के दर्शन होते रहने पर भी तुम इसे ध्यान नहीं समझते! देखो भैय्या, हमारी ऐसी ही गति है। हमने सद्‌गुरु नित्यानन्द का ध्यान किया। साधना के अंगों से प्यार किया। प्यारे गुरुदेव के चरणों को गले लगाकर चुम्बन किया। अब वह साधन बार-बार हृदय में स्फुरता है। उनको न सोचते हुए भी 'गुरुदेव, गुरुदेव' ऐसा जाप अन्तर में उठता है।

अंग प्रत्यंग में श्रीगुरु उमड़ने लगते हैं। स्वप्न में भी वे ही दीखते हैं, उनका ही साक्षात्कार होता है।"

जिस विषयका हम चिन्तन करते हैं उसकी हृदय में स्फुरणा होना ही ध्यान है। जब उस स्फुरणा के स्फुरते स्फुरते उसकी भी विस्मृति हो जाती है तब वह उच्च स्तर का ध्यान है। इसीलिये शास्त्र हमें परमात्मस्वरूप श्रीगुरु का सतत चिन्तन करने का आदेश देते हैं। चित्त को सतत उच्च चिन्तन में लगाओ। श्रीगुरु-ध्यान महान अलक्ष्य फल देनेवाला है। चित्त चैतन्य बन जाने से तुम परमानन्दमय की दीक्षा पाओगे।

प्यारे जनो! एक बात सोचो। हमारे बड़े बड़े तत्त्वनिष्ठ महात्मा सभी को ध्यान में लगने की क्यों प्रेरणा देते रहे हैं? इसका क्या कारण है? इतना समय ध्यान में खर्च करने के लिये क्यों कहते हैं? ऋषियों का कहना ठीक है, यथार्थ है, प्राणीमात्र के मंगल के लिये, सर्वकल्याण के लिये, व्यवहार की दिशा में परमार्थ लाने के लिये है। वे जगत में राम, राम में जगत दिखलाते हैं। संसार में सुख पाने का मूल साधन चित्त है। इसी कारण वे ऐसा कहते हैं, 'ध्यान करो। परमेश्वरका ध्यान करो। चित्त चिन्मय है। उसे देखो।'

चित्त

मानवजीवन में परमात्मा को पाने के लिये साधनरूप में अनेकानेक सम्पत्तियाँ हैं। *सभी सम्पत्तियों में चित्त एक महानतम सम्पत्ति है, अनमोल है।* जगत में हमें सारी चीजें मिल सकती हैं परन्तु चित्त यदि एकबार चला जाय तो फिर से मिलना महाकठिन। चित्त गया सो गया। फिरसे तुमको प्राप्त नहीं होगा। इसीलिये चित्त को मज़बूत, दृढ़, निर्मल, शक्तिशाली, दीर्घकाल तक सत्य-स्फुरणयुक्त बनाने के लिये ही हमारी आर्य संस्कृति में उपासना बतलायी गयी है। मन्त्रपाठ, स्तोत्रपाठ, ईश-चिन्तन जो भी कुछ तुम्हारी उपासना है, वह सब **चित्तपूजन** है।

एक बार एक बड़े उद्योगपति मेरे गुरुदेव नित्यानन्द बाबा जी के पास आये थे। उनको सम्भालने के लिये दो कर्मचारी, दो नर्सें और एक डॉक्टर थे। कारण वे 'मेण्टल केस' अथवा नष्टचित्त हो गये थे। चिन्तन कर कर वे चित्तशून्य हो गये थे। स्फुरण नष्ट हो गया था। निद्रा हट गयी थी।

बुद्धि नष्ट हो चुकी थी। वे पागल-से बन गये थे। एक चित्त के जाने पर उनका अस्तित्व ही मिट गया था। उनके बहुत कारख़ाने थे। चीनी की फैक्टरी थी। कपड़े की मिलें थीं। वे बहुत प्रतिष्ठाप्राप्त सम्माननीय व्यक्ति थे; परन्तु एक चित्त के कोप होने पर, 'चित्तेश्वर' निकल जाने पर जीते हुए भी मरे का-सा जीवन बिता रहे थे। केवल एक चित्त के सहारे, एक चित्त की कृपा से, एक चित्त की मित्रता से उन्होंने देश विदेश में काफी बड़ा व्यापार चलाया था। अब उनका चित्त उनसे रूठकर चला गया था। चित्त की मित्रता न रही थी। इसी कारण उनके उच्च स्थान की कैसी दुर्दशा हुई!

चित्त सब से अधिक महत्त्व का है। चित्त में सब कुछ है। एक बार एक विदेशी लॉर्ड हमसे मिलने आये थे। आश्रम में कुछ काल ठहरे भी थे। एक दिन वे बोले, "स्वामी जी, चित्त में शांति नहीं है। बेचैन हो गया हूँ। निद्रा अच्छी नहीं आती। जीवन रसहीन हो गया है। मेरे पास बहुत धन है। अपार सम्पत्ति है। अपने देश में मेरा भारी सम्मान है। फिर भी मुझे शांति नहीं, समाधान नहीं। मुझे बड़ी चिंता लगी रहती है। क्यों इतना चिन्तित हूँ यह समझ में नहीं आता। आप कृपा करके कुछ उपाय बतलाइये। भारत में ध्यान की बड़ी महिमा है ऐसा जानकर मैं यहाँ आया हूँ। आते आते दिल्ली में एक पवित्र संतमाता से मिलना हुआ। उनसे सत्संग करके बहुत प्रसन्नता हुई। उन माता ने आपका परिचय दिया और मुझे आप से मिलने को कहा। अब आप मुझे ऐसा साधन बताइये जिससे चित्त स्थिर, शांत और स्फुरणयुक्त बने।"

चित्त की महान कीमत है। चित्त को साधारण मत समझो। चिति या चित्प्रकाश की संकोचदशा चित्त है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का एक सूत्र है: **चेत्यसंकोचिनी चित्तम्**। उसके भाष्य में लिखा है : **न चित्तं नाम अन्यत् किंचित् अपि तु सैव भगवती तत्**। चित्त प्रत्यक्ष भगवती है। यानी भगवती चिति कुण्डलिनी है। चित्त के सहारे ही समष्टि जगत हुआ है। चित्त के ही सहारे व्यष्टि जगत में जीव-प्रपंच है। चित्त चितिशक्ति की एक स्फुरणा है। चित्प्रकाशरूप परमेश्वर अनन्त शक्ति के भंडार हैं। उन परमात्मा में वह शक्ति अनन्त प्रकार के अनन्त कार्य करनेवाली अभेदरूप में स्थित है; जैसे कि सूर्य की अनन्त किरणें अनन्त प्रकार की होते हुए भी सूर्य के अनुरूप होकर उसमें एकाकार रहती हैं।

यह शक्ति अनन्त कार्य करते हुए भिन्न भिन्न रूपों में दीखने पर भी निर्विकार है। जैसे म्यान में तलवार निष्क्रिय रूप में रहकर संग्राम में मात्र छेदन कार्य करती है, वैसे ही चिति इस जीवात्मा को अपने कर्मफल भुगवाने में अर्थात् कर्मफल देने में सहायक होने के निमित्त चित्त होकर रहती है। चित्त को एक सामान्य वस्तु समझकर उसकी अवहेलना मत करो। मनमानी, व्यर्थ, गन्दी बातें सोचना, निशिदिन पाप चिन्तना, मन की गति अशुचिमय बनाना, मति तर्कयुक्त बनाना, यही घोर नरक की साधना है। *परमेश्वर चित्त रूप से तुममें रहकर तुमको अपने कर्मों का फल देता है।* जरा सोचो, तुम्हारे कौन से गुप्तकर्म परमेश्वर से छिपे रहते हैं! इसीलिये ध्यान करो। चित्त में उच्च भाव से श्रीगुरु-चिन्तन करो।

चित्त जैसा चिन्तन हो, वैसा फल देनेवाला है। मानव चित्त से ही शांत, चित्त से भ्रान्त, चित्त से मेधावी, चित्त-प्रसाद से कवि, चित्त से बुद्धिवान, चित्त से उच्च कलाकार, चित्त से महान संगीतकार, चित्त से योगी होता है। चित्त से शास्त्रों में उपाधि और चित्त से ही समाधि प्राप्त है। चित्त ही गुरु, चित्त शक्ति-संचालक और चित्त ही निर्विकल्प पद है। चित्तभ्रष्ट सदा कष्टी, कर्माचार-भ्रष्टी, मोक्षमार्ग-नष्टी होता है। मलिन चित्त ही घोर नरक है।

चित्त को सम्भालो। चित्त तुम्हारा सुखद मित्र है। गुरुजनों के परम प्यार का अधिकारी शुद्ध चित्त है। इसलिये तुम शांत चित्तसे ध्यान करो। चित्त में रहनेवाला परमेश्वर तुरंत प्रसन्न होके तुमको अपना पूरा विश्वरूप ध्यान में दिखलायेगा। इस चित्तप्रसाद से तुम आत्म-विमर्श सहज में पाओगे। तुम्हारे पास चित्तरूप कितनी बड़ी सम्पत्ति है! इतनी महान आश्चर्यमय चितिशक्ति तुम्हारे पास होते हुए तुम क्यों चिल्लाते हो? क्यों दुःखी हो? क्यों हीन हो? क्यों दीन हो? चित्त में सतत रहनेवाली चितिशक्ति की पूजा करो। चित्त में अन्तर-स्फुरणरूप में स्फुरनेवाले आत्मतत्त्व को सदा याद रखते हुए व्यवहार करो। अस्तु।

परमात्मा सभी में चिद्रूप से व्याप्त होने से वह तुम्हारे प्रपंच को, तुम्हारे ध्यानावस्था में होते हुए भी, आनन्द से संपन्न करायेगा। अभी अभी की एक घटना है। एक ऊँचे सात्त्विक पंडित घराने का लड़का माता-पिता के साथ सहज आश्रम में आया करता है। उसके माता-पिता

भी पवित्र, सदाचारी और पुरोहित घराने के हैं। बालक अपने आप ध्यान करने लग गया। ध्यान करते करते अन्दर की चितिशक्ति का विकास हो गया। वह लड़का प्रेम से मन्त्र जाप करता रहता। परमगुरु परशिव की शक्ति से सम्पुटित होकर मिलने वाला मन्त्र, मन्त्र ही नहीं, एक महामहिमामय सार्वभौम गुप्त दिव्य शक्ति है। मन्त्र में परशिव और गुरु एक होके रहते हैं। इसीलिये मन्त्र चैतन्य है। उसमें सर्वज्ञत्व आदि का बल रहता है –'**मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः**'। मन्त्र को जपते जपते उस बालक को ध्यान में अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होने लगीं। छोटा-सा बालक मन्त्रस्फुरण की महिमा से ध्यान में मन्त्रदेवता से कुछ भावी घटनाओं का ज्ञान पाने लगा।

एक दिन जब उसकी परीक्षा समीप थी, ध्यान में मन्त्रदेवता प्रकट हुए और उन्होंने कहा, 'तुम्हें एक मोटरदुर्घटना में चोट लगनेवाली है जिस से तुम परीक्षा में नहीं बैठ सकोगे।' जब उस बालक ने यह वृत्तान्त अपने माता-पिता को बतलाया तो वे हंसने लगे और बोले—'तुम्हें पढ़ना नहीं, इसलिये बातें बनाते हो।' परन्तु तीसरे ही दिन जैसा उसने कहा था ठीक वैसा ही हुआ। उसके दाहिने हाथ को मोटरदुर्घटना में चोट लगी और वह परीक्षा नहीं दे सका।

पुनः एक सप्ताह के पश्चात् दूसरी एक आश्चर्यजनक घटना घटी। वह अपने भाइयों के साथ एअरगन लेकर खेलने के लिये अपने फार्म पर गया। प्रातः ही तन्द्रावस्था में मन्त्रदेवता फिर प्रकट हुए और चेतावनी दी, 'तुम्हारी बन्दूक मनुष्य का रक्त चाहती है।' उसने इस बात पर ध्यान नहीं दिया। उस दिन शाम को वह एअरगन लेके भाइयों के साथ खेलने गया। फार्म से लौटने के बाद एअरगन को दोनों घुटनों के बीच सीधी रखकर झुकके वह कमरे का ताला खोलने लगा। इतने में बन्दूक फिसल गयी। पास खड़े हुए लड़के ने उसको पकड़ने का प्रयत्न किया तो अकस्मात् उसका घोड़ा दब गया और कारतूस उसकी छाती में घुस गयी। इससे उसके दाहिने फेफड़े के निकट ढाई इंच लम्बा ज़खम आया। परन्तु उसकी चित्तवृत्ति लेशमात्र भी नहीं बिगड़ी; क्योंकि वह ध्यानस्थ रहा। एकदम शांत और स्थिर रहा। उसे डॉक्टर के पास ले जाया गया। जब उसको ले जाया जा रहा था, तब मन्त्रदेवता ने फिर दर्शन दिये और उससे कुछ गुप्त रहस्य कहे। उसने अपनी घायलावस्था में ही उन बातों को एक पत्र में लिखा और

बाद में वह पत्र मुझको दे दिया। डॉक्टर ने ऑपरेशन किया। यह घाव बड़ा ख़तरनाक हो सकता था, परन्तु परशिव ने उसकी रक्षा की। ऑपरेशन के पश्चात् उसे छाती में दर्द होने लगा तो उसे ध्यान की तन्द्री लग गयी, जिसमें एक महात्मा प्रकट हुए। उन्होंने उसकी छाती पर हाथ फिराया। दर्द फौरन मिट गया। इससे तुम समझ सकोगे कि ध्यान सांसारिक बातों में भी कितना उपयुक्त एवं आचरणीय है।

ध्यान परमार्थ का ही नहीं, बल्कि हमारे प्रपंच का भी महान मित्र है। इसमें कुछ सन्देह नहीं, कुछ असत्य नहीं। ध्यान से चित्त निर्मल होने से विद्यार्थी उच्च श्रेणी में पास होता है। ध्यानकाल में चित्तनिरोध के कारण थोड़ा थोड़ा कुम्भक होने से स्नायु का बल बढ़ता है। रुधिराभिसरण ठीक होता है। खाया हुआ अन्न पूर्णरूप से पच जाता है। रक्तकण बढ़ते हैं। ध्यान से चपलता बढ़ती है। नित्यप्रति ध्यान करनेवाले की साधारण छोटी मोटी बीमारी ठीक हो जाती है। मैंने अपने परिचय के बहुत बालक-बालिकाओं को ध्यान में उच्च स्फूर्ति, स्फुरण, पवित्रता, चरित्रता पाके उन्नत होते हुए देखा है। ध्यान से चित्त शांत और मन सहज ही स्थिर होता है। प्राण की गति साधारण गति से मन्द मन्द हो जाती है। अन्तरशांति प्राप्त होने पर जीवन में एक नयी स्फूर्ति आती है।

मेरी ध्यानसाधना

ध्यान कैसे करें इस विषय में बहुत विस्तार की आवश्यकता नहीं। इससे पहले मैंने कहा है कि चित्त को जल्दी स्थिर करने के लिये पतंजली के सूत्रानुसार—**वीतरागविषयं वा चित्तम्**—यह विधि बहुत ऊँची है। अपने गुरुदेव का ध्यान बहुत श्रेष्ठ है, श्रेष्ठतम है, अति उत्तम है। मैंने बहुत प्रकार की साधनाएँ, प्राणायाम, ध्यान, मन्त्र आदि के अनुष्ठान किये, परन्तु अन्त में मैं अपने प्यारे गुरुदेव के ही ध्यान में लग गया। गुरुध्यान सर्व ध्यान-प्रक्रियाओं का मूल है। जब मैंने 'गुरुगीता' में पढ़ा :

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥

तो मुझे महामन्त्र मिल गया। इसको अत्यन्त प्रेम से अपनाया। वस्तुतः यह

मन्त्रभाव सर्व यज्ञों से, सर्व पूजाओं से ऊँचा है। संत तुकाराम जी का एक मन्त्रतुल्य अभंग है :

गुरुचरणीं ठेविता भाव । आपे आप भेटे देव ॥
म्हणुनी गुरुसी भजावे । स्वध्यानासी आणावे ॥
देव गुरुपासी आहे । वारंवार सांगूं काये ॥
तुका म्हणे गुरुभजनीं । देव भेटे जनीं वनीं ॥

इस अभंग में तुकाराम महाराज सत्य ही कहते हैं कि 'गुरु में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, गुरुचरणों में पूर्ण भाव हो जाने पर परमात्मा सहज मिल जाता है। इसलिये गुरु की महापूजा करो, गुरु का ध्यान करो। परमेश्वर गुरु के पास रहता है। बारम्बार क्या कहूँ? श्रीगुरु के नाम-स्मरण से परमेश्वर वन में, जन में सर्वत्र मिलेगा।' यह एक ही अभंग मेरा दैवत बना। अभंग के भावार्थ से मित्रता करने का पूर्ण फल मैंने पाया। श्रीगुरु नित्यानन्द का ध्यान करने का पूर्ण निश्चय किया। गणेशपुरी के हॉल में दूर एक कोने में, जहाँ कलह कम हो और जहाँ से मुझे श्रीगुरुदेव दीखें, बैठकर बहुत काल तक एक दृष्टि से गुरुदेव को देखने लगा।

क्या मस्त कृष्ण वर्ण काया! सर्वांग सुन्दर सादा शरीर, रस-रक्त से पूर्ण, कृष्ण-स्फटिक जैसी चमकीली अंगकान्ति, छोटे छोटे मोतियों की नाईं दांत, व्याघ्रतुल्य लम्बी अंगुलियाँ, सहज कुम्भक से पूर्ण पुष्ट हुआ पेट, शरीर पर सिर्फ एक स्वच्छ सफेद लंगोटी, दाहिने हाथों की अंगुलियाँ चिन्मुद्रा में, बायें हाथ की अंगुलियाँ खुली हुई अभय मुद्रा में, कण्ठ से हुंकार की दिव्य ध्वनि, मस्ती से हिलती हुई गर्दन, झूमता हुआ शरीर, रोम रोम में परमानन्द की लहर-बहर, अंग अंग से निकलती हुई दिव्य तेज की रश्मियाँ, चारों दिशाओं में प्रकाश बिखेरती हुई हँसी—ये सब मेरे हृदय पर अंकित हो गये। मैं एकटक उनकी दिव्य सुन्दर मूर्ति देखता रहता। हरेक बार उसमें एक नया आकर्षण, नया जादू पाता।

गुरुदेव गरम कम्बल बिछाये हुए एक लकड़ी के पलंग पर विराजमान होते थे। पलंग के आगे पीछे बच्चों के लिये मीठी गोलियों और बिस्कुटों से भरे डिब्बों का ढेर लगा रहता। दोनों तरफ़ एक एक खाट होता था—एक प्रसाद के लिये फलों से भरा रहता था तो दूसरा कपड़ों से। इन

सब के बीच मैं मंगलमय योगीराज, समर्थ श्रीगुरुदेव को निहारता रहता। कोई आता, कुछ पूछता। प्रश्नों के उत्तरों का भी मनन करता रहता।

गुरुदेव अपने करकमलों को कभी आगे-पीछे, कभी ऊपर-नीचे हिलाते रहते। उनके विशाल दिव्य नेत्र मस्ती से भरे रहते। कभी नेत्र अर्धोन्मीलित रहते। कभी कभी उनके अधरों पर स्थिरभाव की मुस्कान खेलती। उनकी मनोगति सर्व जंजाल, भेदभाव, ग्रहण-त्याग, स्व-पर, जाति-व्यक्ति, द्वैत-अद्वैत, धर्म-अधर्म से मुक्त यानी सदा निष्क्रिय रहती थी। वे सदा उन्मनी भाव में स्थिर रहते थे। उनको कभी मैं पूरी खुली आँखों से देखता तो कभी आँखें मीचकर। बाहर देखे हुए को आंतर-ध्यान में लाता। उनको देखते देखते, उनका ध्यान करते करते मैंने पहले की सब ध्यान-प्रक्रियाएँ त्याग दीं। ध्यान करते करते मैं गुरुदेव के दिव्यभाव में तन्मय हो जाता।

कभी चिन्मुद्रा, कभी आश्वासनयुक्त अभय मुद्रा, कभी पूर्ण आशीर्वाद युक्त हस्तों की मस्ती भरी क्रियाएँ, झूमती गरदन, हँसते हँसते पूर्णानन्द की परम मस्ती में मस्त होके गाया हुआ ओंकार का स्वर, 'आ....आ....' करती हुई निकलनेवाली अन्तर-दीक्षारूप मन्त्र की ध्वनि—इन्हीं भावों का मैं ध्यान करता था। कुछ काल ऐसे ही गया। ध्यान में श्रीगुरुदेव कभी स्पष्ट, कभी अस्पष्ट दीखने लगे। जैसे जैसे ध्यान गहरा होते चला वैसे वैसे ही अन्तर-आनन्द, धैर्य, बल, तेज बढ़ना शुरू हो गया। ऐसा करते करते ध्यान में गुरुभाव आने लगा। *श्रीगुरुध्यान महान फल देनेवाला है*, ऐसा मैं वारम्बार कहता आया हूँ। इस विषय में कितना भी कहो, थोड़ा है।

प्यारे श्री गुरुदेव मन के भाव को जानते थे। कभी कभी सूक्ष्मता से प्रतीति भी करा देते थे। मैं गुरुदेव की समस्त क्रियाओं को ध्यान से देखता—कैसे वे प्रातः तीन बजे से पूर्व ही उष्ण तीर्थ में स्नान करने जाते, कैसे स्नान करते, स्नान से लौटकर सुखासन में बैठकर कैसे अपने आप को ही पूजते, कैसे अपने आप को ही ध्याते, कैसे अपने आप को ही परमानन्द-मय देखकर अपने आप ही हँसते, कैसे अपने आप ही गुनगुनाते, कैसे अपने से ही कुछ बोलते, कैसे अपने को आप ही सुनाते, कैसे अपनी मस्ती में अपना ही विलास देखते। इस तरह भगवान नित्यानन्द के इन सब भावों का मैं पूर्ण अभ्यास करता। इससे अन्तरंग में कभी मुझे 'पूर्ण नित्यानन्द ही मैं हूँ' 'मै नित्यानन्द हूँ' ऐसा भावावेश आने लगा। उस भावावेश में छिपी

हुई एक महान महिमा की मैं अनुभूति करता। उस समय मेरे अन्तःकरण की भावना न जाने कितनी अलौकिक दशा को प्राप्त करती। दिव्य आत्मानन्द की मस्ती में मैं इतनी उन्मत्त दशा की अनुभूति करता कि कभी कभी 'पूर्ण हो गया, पूर्ण हो गया' ऐसा एक अन्तरभाव उदित हो जाता। कभी श्रीगुरु नित्यानन्द के तटस्थ अमनस्क भाव का अभ्यास करता। वे मेरे परम गुरु दीर्घ काल तक एक ऐसे भाव में स्थिर रहते कि मन तटस्थ, दांत से दांत मिचे हुए, होंठ पर होंठ पूर्ण दबे हुए, आँखें अर्धोन्मीलित, मुख की मुद्रा गम्भीर तथा प्राण स्थिरता से बहता हुआ होता। ऐसे भाव का मैं भी मननपूर्वक अभ्यास करता। मेरी भी आखें अर्धोन्मीलित होके स्थिर हो जातीं, दांत में दांत मिच जाते, होंठ अपने आप दब जाते। ऐसा होते ही प्राण मन्द मन्द बहने लगता। चित्त पूर्ण स्थिर होने लगता। तदनन्तर भगवान नित्यानन्द के सदृश मस्तक धीरे से आगे पीछे हिलने लगता मानो मेरे अन्तर और बाहर के भाव पूर्णतया श्रीगुरुदेव की भावमस्ती में मस्त हो गये हों।

मुझे उन दिनों मुक्तानन्द-भाव बहुत कम और नित्यानन्द-भाव बहुत ज़्यादा स्फुरते थे। उस समय यदि कोई मेरे समीप आ जाता या परिचय के लोग कुछ वार्तालाप करते तो मैं भगवान नित्यानन्द की तरह क्रुद्ध हो जाता। कभी उनकी तरह गाली भी दे देता। उस समय मेरे अन्दर दो भाव, मुक्तानन्द-भाव और श्रीगुरु नित्यानन्द-भाव, क्रियाशील होते थे। दोनों भावों की मुझे पूरी जानकारी रहती थी। जब भगवान नित्यानन्द-भाव का ध्यान पूर्ण हो जाता, तो मैं ध्यान से उठ जाता। फिर थोड़ा-सा अपने स्थान में इधर उधर फिरता था। उस समय 'मुक्तानन्द' फिरता था। 'नित्यानन्द' भाव नहीं रहता। तब केवल अपने ध्यान के भाव की स्मृति ही शेष रहती। मैंने किसको गाली दी और डांटा, किसको मारने दौड़ा, यह सब स्मरण कर मन खिन्न हो जाता। अपनी संयमहीनता पर थोड़ा पश्चात्ताप भी होता। इस प्रकार मैं श्रीगुरुध्यान—'**ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः**' इस मन्त्र का पूरा अभ्यास करता रहा। मुझको कभी कभी गुरुभाव में साधना करते समय क्रोध आ जाता तो बड़ा परेशान होता। एक दिन बड़े धैर्य के साथ श्रीगुरुदेव से पूछा। मैंने 'अप्पा' कहकर उनको पुकारा। 'अप्पा' शब्द का हमारी भाषा (कन्नड) में 'बाबा' अर्थ होता है। मैं बोलता जाता और बाबा 'हुंकार' ध्वनि करते जाते।

मैंने कहा, "मुझे कभी कभी ध्यान के समय किसी किसी पर क्रोध आ जाता है और गालियाँ भी दे देता हूँ। मुझे बड़ी लज्जा आती है।"

तब श्रीगुरुदेव बोले, "वो तू नाहीं, तू नाहीं। वो एक भाव है। ओ–वो तुम नाहीं रे।"

इस बात को समझने में मुझे बड़ा कष्ट हुआ। 'तू नाहीं, तू नाहीं, ओ–वो तुम नाहीं रे'—इसको समझने का प्रयत्न करते हुए आठ दिन तर्क-वितर्क में चले गये। फिर भी समझ नहीं पाया। अब प्रश्न उठा— क्या करूँ? मैंने भगवान नित्यानन्द से मन ही मन प्रार्थना की।

मेरी तो उपास्य मूर्ति श्रीगुरुदेव ही थे। मेरी सगुण पूजा, सगुण ध्यान, सगुण उपासना का लक्ष्य एक मात्र परम गुरु नित्यानन्द थे। नित्यानन्द मेरा सगुण दैवत था। मैं श्री सीताराम, श्री राधाकृष्ण, श्री गिरिजाशंकर, गुरु श्री दत्तात्रेय, सभी को श्रीनित्यानन्द ही समझ कर उपासना करता था। मेरे मन में अन्य देवता के बारे में कभी कोई प्रश्न नहीं उठता था। 'मैंने राम नहीं जपा, कृष्ण नहीं पूजा या शिव को नहीं ध्याया'–ऐसी शंका नहीं उठती थी। मेरा पूर्ण विश्वास था कि श्रीगुरु सर्व देवतामय हैं। इसलिये श्रीगुरुपूजा सर्व देवतापूजा, श्रीगुरुध्यान सर्व देवताध्यान और श्रीगुरुनामजप सप्त कोटि महामन्त्र का पुरश्चरण है, ऐसी मेरी पूर्ण धारणा थी; क्योंकि मैंने श्री सिद्धारूढ स्वामी, श्री झिप्रुअण्णा, श्री हरिगिरी बाबा, श्री मडिवाला स्वामी, अथणी शिवयोगी, पंढरपुर के श्री नरसिंग स्वामी और श्री बापू माई इत्यादि बड़े बड़े साठ महापुरुषों का दर्शन पाया था। उन सब से यही एक बात सुनी : 'गुरुध्यान, गुरु आज्ञापालन, गुरुसेवा, इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं है।' मैं और भी कई साधु-संन्यासियों से मिला। कुछ उच्च कोटि के वैष्णवों से मिला, हिमालय में कुछ वर्षों से रहनेवाले दिगंबर अवधूतों से भी मिला। सब ने अपने व्याख्यान के अन्त में गुरुदेव का ध्यान, उनकी सेवा, उनका आज्ञापालन यही श्रेष्ठ बतलाया। गुरु में अपने को खो देना सर्वश्रेष्ठ साधन है यह बारंबार सुना। तदनन्तर कई शिव महायतियों से मिला जिनके सिद्धांत शिवमय, जिनका ध्यान शिवभाव, जिनकी दीक्षाविधि शक्तिपात थी। उन्होंने भी उसी तत्त्वको दोहराया : 'गुरु के पास जाओ। गुरु की उपासना करो। गुरु के साथ रहो।' मैंने बहुत संतों के ग्रंथ भी पढ़े। एकनाथ महाराज ने लिखा है:

'गुरुध्यान करो'। श्री ज्ञानेश्वर ने भी कहा है : 'गुरु ही मन्त्र, गुरु ही तन्त्र, गुरु ही सब कुछ है।' श्री गोरखनाथ, श्री नानकदेव, श्री कबीर साहब, सब ने *गुरु-महिमा ही गायी है।* अब मेरे मन को पूर्ण विश्वास हो गया कि गुरुध्यान ही सर्व श्रेष्ठ है।

मैं श्रीगुरु की सगुणोपासना में सदा लगा रहा। मैं नित्यानन्द ध्याता, नित्यानन्द गाता, नित्यानन्द गुरुमन्त्र जपता। गुरुदेव नित्यानन्द के स्नान के पश्चात् कुण्ड के पानी को तीर्थ समझकर पीता। दोहपर को भगवान नित्यानन्द के भोजनघर में किसी को भी प्रवेश नहीं मिल सकता था। उच्छिष्ट प्रसाद मांगने से भी नहीं मिल सकता था। इसलिये मैंने भगवान का भोजन बनानेवाले करीयण्णा शेट्टी और मोनपण्णा जहाँ बरतन धोकर झूठन फेंकते थे, उस स्थान का पता लगाया। मैं चुपचाप उधर जाता और वहाँ से एक दो अन्न के कण प्रसाद रूप में पा लेता। मन आनन्द से भर जाता कि मैं श्रीगुरु का उच्छिष्ट भोजन कर सका हूँ। जहाँ भगवान नित्यानन्द जी बैठते थे उस स्थान के रजकणों को अंग में लगा लेता। इस तरह मेरी सगुण पूजा, सगुण उपासना, सगुण ध्यान नित्यप्रति बढ़ता रहा। मैं गुरु के प्रति द्वेषभावना, दोषभावना या तर्क-वितर्क नहीं करता था। कदापि कहीं भी श्रीगुरुनिन्दा नहीं सुनता था। कभी कभी अंग दबाने या पादसेवा करने का भी अवसर मिल जाता था। ऐसा साधन करते करते भाव बढ़ते चला। श्रद्धा बढ़ती चली। निष्ठा पूर्ण बनी।

भगवान नित्यानन्द जी कभी कभी मेरे मन के भाव जानकर अपने आप कुछ बोला करते थे। एक दिन सायंकाल साढ़े चार बजे शांत वातावरण था। पुराने हॉल में मैं और अन्य लोग बैठे थे। भगवान स्वयं ही बोल उठे—"गुरुध्यान संजीवनी। गुरुध्यान गुह्यध्यान। पूरा योग, सर्वज्ञान। सर्वज्ञान गुरुध्यान में, गुरुध्यान में। गुरु की महापूजा, महाध्यान 'ज्ञानसिन्धु' में हैं। बड़ा अच्छा ग्रन्थ है।" इतना कहकर चुप हो गये। मैंने उनकी इन बातों का मन्त्रतुल्य पूर्ण मनन किया। मेरी भगवान नित्यानन्द जी के शब्दों में मन्त्र-भावना थी। शब्दों का पूरा पूरा मनन करके मैं बाहर पूर्व दिशा में कुण्ड की ओर गया तो देखा बम्बई का एक भक्त कन्नड भाषा में रचित 'ज्ञानसिन्धु' पुस्तक लेकर बैठा था। वह कहने लगा, "स्वामी, मेरे पास एक 'ज्ञानसिन्धु' नाम का ग्रन्थ है। यह पढ़ते पढ़ते मेरा दिमाग खराब

हो जाता है। चलो यह नित्यानन्द बाबाजी के पास रखेंगे। " मैंने 'हाँ' कह दिया। हम दोनों अन्दर गये। उस भक्त का नाम था कृष्ण शेट्टी। उसने पुस्तक बाबाजी के सामने रख दी। भगवान नित्यानन्द जी ने 'हूँ' करके हुंकार ध्वनि की और मुझसे कहा, "तुम लो।" मैंने वह पुस्तक ले ली; समझा, प्रसाद है। मैं गुरुदेव की दी हुई किसी भी वस्तु को प्रसाद रूप में देखता था। कभी कुछ फल मिलता तो उसमें से फल की भावना हटा लेता और शक्ति-प्रसरण का प्रसाद समझकर महान भक्ति से उसे खा लेता। खाकर थोड़ा ध्यान करता। वैसे ही पुस्तक लेके सिर को लगायी। इस ग्रन्थ को मैं पहले भी दो बार पढ़ चुका था। नयी न होने पर भी नया गुरुप्रसाद समझकर पुस्तक को खोला। बीच में से वह अध्याय निकाला जिसमें आदिगुरु की महापूजा का वर्णन है। वहाँ से हॉल के एक कोने में जाकर बैठा। बड़े ध्यान से उस अध्याय को पढ़ा। वह अध्याय महान अर्थपूर्ण था।

इस पुस्तक के रचयिता एक महान सिद्ध पुरुष थे। परम अवधूत थे। उनका नाम था श्री चिदानन्द अवधूत। वे बगलामुखी देवी के सगुण साक्षात्कारी पुरुष थे। उनका स्थान हम्पी से आगे तुंगभद्रा नदी के किनारे बगलामुखी पर्वत पर था। मैंने वह अध्याय तीन बार पढ़ा। उसमें गुरुध्यान की विधि यों बतलायी गयी है कि श्रीगुरु को अपने में धारण करके, स्वयं गुरुरूप होके, गुरु का ध्यान करना है। इस ग्रन्थ में परशिव और कार्तिकेय के बीच संवाद है। प्यारे गुरुभक्तो, अब ध्यान से सुनो। यह अध्याय इस प्रकार शुरू होता है :

"**अथ श्री गुरुध्यानम्** : परशिव उवाच—'हे परम गुरुभक्तशिरोमणि कार्तिकेय, श्रीगुरुध्यान महान है। सिद्धजनों की परम गोपनीय साधना है। गुरुध्यान भोग और मोक्ष दोनों का दाता है। इतना ही नहीं। ध्यान करने-वाला ध्यान करते करते अन्त में परतर-आनन्दमय, परतेजस्वरूप, परमगुरु ही बन जाता है। हे कार्तिकेय, श्रीगुरु एक आकार रूप में दीखने पर भी आदि-अन्तरहित हैं। उनकी अलक्षगति है। गुरुतत्त्व आदितत्त्व है जो परमानन्दमय होकर रहता है, जो स्पन्द का मूल कारण परम निःस्पन्द है, जहाँ वृत्ति की समाप्ति है, आवागमन की गति जहाँ गतिहीन बन जाती है, स्थावर-जंगमात्मक जगत को जहाँ आश्रय मिलता है, जो ओंकार का

लक्ष्य है, सिद्धपुरुषों का जहाँ निवास है, हे गुरुभक्तिप्रिय षडानन, सगुण-निर्गुण का विवाद जहाँ निर्विवाद होके मिट जाता है, जिस स्थान पर एक गुरु बिना और कोई नहीं जा सकता और जहाँ जाने पर फिर से आना नहीं होता, जो देवों के देवता हैं, ऐसे सभी के आश्रय, सभी की गति, सर्वान्तरात्मा श्री गुरुदेव हैं। वे समय समय में मानवरूप में बाहर और गुरुरूप में अन्दर रहकर शिष्यों को अनुग्रह-निग्रह से अपना रूप एवं अपनी गति देते हैं। ऐसी चिन्मय गुरुमूर्ति का ध्यान परमफलदायक है। हे योगनिष्ठ कार्तिकेय! निर्गुण, निराकार, सत्ता-संभूतिरूप जो परतेज है वही परम श्रीगुरुदेव है। पंचभूतनिर्मित सर्व दिशाएँ, आकाश, पर्वत, वन, नदियाँ, समुद्र, पृथ्वी के विशाल क्षेत्र, ये सब श्रीगुरु के ही रूप हैं। पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण, ऊपर से नीचे, पाताल से लेकर स्वर्ग, कैलास, वैकुण्ठलोक और मुक्तों की परमगति—ये सब परम आनन्दमय श्रीगुरु हैं। सब कुछ आप ही बनकर, सबसे जुदा हैं। वे न किसी के हैं, न उनका कोई है।'

'श्रीगुरु ही सोऽहम् के परमलक्ष्य सोऽहम् रूप हैं। वे चराचर हैं। पिण्डब्रह्माण्डरूप हैं। वे ही मानव आकार लेकर अपनी प्रजा को, अपनी संतान को, अपने आत्मीयों को, अपने प्यारे भक्तजनों को अपनी शक्ति प्रदान करने के हेतु गुरुरूप में आते हैं। वे गुरु सिद्धमार्ग के प्रवर्तक होते हैं। उनकी गति-मति, रीति-नीति बड़ी विलक्षण होती है। वे गुरुजन न पुरुष होते हैं, न नारी। वे गुरु, गुरु ही हैं। उनका शरीर कुण्डलिनी योगाग्नि से तपा हुआ होता है। उनके सप्तधातु चितिमय हैं। उनके प्राणों में प्रणव सोऽहम् होके विलसता रहता है। जगत का प्रपंच उन गुरुजनों का चिति विलास है।'

'ऐसे श्रीगुरु का, अपने अंग-प्रत्यंग में उन्हींकी भावना करके ध्यान करो। हे गुरुभक्त, यह महापूजा है। शांत होके चित्तविकारों को हटा कर चित्त को निरालम्ब बनाओ। चित्त के चिंतनरूप सब दोष निकाल दो। श्रीगुरु के सामने बैठो। प्रथम सर्वदेवमय, सर्वमन्त्रमय, सर्वसंतमय, सर्व ऋषिमुनिरूपधारी उन परम गुरु को नमस्कार करो। सब दिशाओं में उनको नमस्कार करो। कहो, हे गुरुदेव, आप सर्वमय हैं। आप ही विश्वरूप हैं। आप जिस जिस रूप में जैसे जैसे हैं वैसे वैसे मेरे आप को अनन्त

प्रणाम हैं। ऐसे मन ही मन प्रणाम करके, हे षडानन, तुम्हारे आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, सर्व दिशा में पूर्ण गुरुतत्त्व ही है ऐसा जानकर गुरु का ध्यान करो। तदनन्तर अपना शरीर गुरुमय बनाओ। याद रखो, वस्त्र में जैसे तन्तु ओतप्रोत हैं, तन्तु तन्तु में वस्त्र है, वैसे ही तुम में गुरु, गुरु में तुम हो। इस दृष्टि से दोनों को एक रूप में देखो। मृत्तिका से मटका भिन्न नहीं होता, वैसे ही तुम से तुम्हारा गुरु भी अन्य नहीं है; ऐसा जानकर पूर्ण शांति से आसनस्थ होकर अपने सिर को हाथ से स्पर्श करके वहाँ श्रीगुरु के सिर का भाव करो। फिर कपाल में, दोनों आँखों में, दोनों कानों में, नाक, जिह्वा, गले और दोनों स्कन्धों में अपने हाथ से स्पर्श करते हुए ऐसी भावना करो कि ये सब गुरु के ही अंग हैं। ऐसे ही छाती, हृदय, पेट, पीठ, कमर, जंघा, घुटने, पिंडली, पाद, इन सभी अंगों को स्पर्श करते करते गुरु के हैं, गुरु के हैं, ऐसी धारणा करते जाओ। अन्त में पांव की अंगुलियों को भी गुरु हैं इस भाव से स्पर्श करो। साथ ही साथ ऊपर से नीचे आते हुए मन में 'गुरु ॐ' 'गुरु ॐ' 'गुरु ॐ' ऐसा जपते रहो। सब छोटे मोटे अंग-प्रत्यंगों को स्पर्श करते हुए 'गुरु ॐ' का ही उच्चारण करो। हे गुरुप्रिय कार्तिकेय, तदनन्तर नीचे पाँव की अंगुलियों से लेकर ऊपर तक उसी विधि से प्रत्येक अंग—पाद, पिंडली, घुटने, जंघा, कमर, पेट इत्यादि को स्पर्श करते करते 'गुरु ॐ' का जप करते जाओ। इस प्रकार सभी अंगों में गुरु की धारणा करके अन्त में सिर को 'गुरु ॐ' कहते हुए स्पर्श कर, स्वयं ही गुरु, स्वयं ही मन्त्र, स्वयं ही सब कुछ है, गुरु में तुम, तुम में गुरु, ऐसी भावना धारकर ध्यान शुरू करो। नित्य प्रति इसी विधि से ध्यान करो, मुझमें गुरु, गुरु में मैं, ऐसा समझने में अणुमात्र भी सन्देह मत करो। ध्यान करते करते 'गुरु ॐ' जपते जपते अपने आप को भूल जाओ।'

तदनन्तर परमेश्वर कहते हैं, 'हे स्वामी कार्तिकेय, तुम स्नान करते समय भी अपने अंग-प्रत्यंगों में गुरुमूर्ति का निवास जानकर स्नान करो। भोजन के समय हृदयस्थ श्रीगुरुदेव ही मेरे भोजन का भोग लेते हैं ऐसा समझकर गुरु अर्पित भोजन करो। स्नान में श्री गुरुमूर्ति का स्नान, भोजन में गुरु अर्पित भोजन तथा अपने अन्य सभी कर्म मंगलमय गुरु को अर्पित करके गुरु दाता, गुरु भोक्ता, गुरु यजता, गुरु ही सर्व यज्ञ, इस तरह सर्व

गुरुरूप होके 'गुरु ॐ' गुरु ॐ' 'गुरु ॐ' नित्यप्रति जपते रहो। यही महागुरुपूजा है।'

पुनः परशिव बोले, 'हे षण्मुख, गुरुभजन से शिष्य तुरंत गुरुरूप ही बनता है। जो जिसका भजन, ध्यान, पूजन करता है वह उसी के अनुरूप बनता है। गुरुध्यान, गुरुपूजा, गुरुमन्त्रस्मरण, रोम-रोम में गुरु की धारणा—ऐसी सगुणोपासना शिष्य के हृदय को तुरंत पलट देती है। इसलिये तुम एकान्त में गुह्य भाव से परम गुरु को गुरु होके ध्याओ। यह सिद्धजनों का गुप्त साधनामार्ग है। सद्गुरुओं की गुरु-कुंजी है। गुरुभक्तों के लिये आत्मविश्रान्ति की दिव्य सुखद शय्या है। यह मुक्तिनगर का सोपान है। यह विषय उन लोगों को नहीं रुचेगा जिनमें गुरुभक्ति नहां है। हे स्वामी कार्तिकेय, जिनपर गुरुकृपा होती है उन्हीं की समझ में आनेवाला यह रहस्य है। परमेश्वर के अनुग्रह बिना गुरुपूजा नहीं रुचेगी, समझ में नहीं आयेगी।' इसतरह गुरुमहिमा, गुरुपूजा, गुरुध्यान का वर्णन करते हुए महादेव जी कैलास चले गये। तदनन्तर श्री कार्तिकेय गुरु के ध्यान में मग्न हो गये।"

यह 'ज्ञानसिन्धु' का विषय है। मेरी भी ऐसी ही साधना हो रही थी। पूज्य गुरुदेव की दी हुई पुस्तक में गुरुपूजा का विषय पढ़कर मैं समझ गया कि यह मेरे लिये भी एक सूचना है। मेरे लिये साधना करने की यह एक आज्ञा है, ऐसा समझकर उस दिन मैं अपने स्थान को नहीं गया। मैं गुरुदेव नित्यानन्द के समीप आश्रम में ही रहा। रात हो गयी। वहाँ का कार्यक्रम समाप्त हो गया और वातावरण शांत हो गया। गुरुदेव अपने कमरे में चले गये। मैं बड़े हॉल में गया। पूर्वाभिमुख आसन लगाकर मैंने ध्यान आरम्भ कर दिया। 'ज्ञानसिन्धु' में भगवान परशिव ने कार्तिकेय को जो उपदेश दिया था, उसका मनन करके उसी तरह ध्यान करने लगा। शांत बैठा। सर्वव्यापक चैतन्य को नित्यानन्द मान लिया। पंचतत्त्वों को, नदी-समुद्र-गिरि-कन्दराओं को श्रीनित्यानन्दरूप समझ के दृढ़ता से धारण कर लिया। आकाश नित्यानन्द का मस्तक, पृथ्वी उनके पाद, दिशा कर्ण तथा सूर्य-चन्द्र उनके नेत्र मान कर सर्वव्यापक नित्यानन्द का ध्यान आरम्भ किया। ध्यान में वृत्ति स्थिर होती चली। समष्टिरूप बाह्य जगत को पूरा पूरा नित्यानन्दमय समझ के ध्यान किया। फिर भी थोड़ी-सी जो

वृत्ति बची रही थी उसे व्यष्टिरूप में अन्तर में नित्यानन्द के ध्यान में लगा दिया। प्रथम सिर को हस्त से स्पर्श करके प्यारे श्रीगुरु नित्यानन्द का ध्यान आरम्भ किया। सिर में नित्यानन्द, कपाल में नित्यानन्द, दोनों कानों में मेरे प्यारे नित्यानन्द, मेरी दोनों आँखों की ज्योति में नित्यानन्द, कंठस्थान में श्रीगुरु नित्यानन्द, मेरी भुजाओं में नित्यानन्द, मेरे करों में नित्यानन्द, मेरी अंगुलियों में बाबा नित्यानन्द, मेरे हृदय में आत्मारूप नित्यानन्द; मेरे पेट में श्री नित्यानन्द, मेरी कमर में श्री योगेश्वर नित्यानन्द, मेरी दोनों जंघाओं में श्रीगुरु नित्यानन्द, मेरे घुटनों में नित्यानन्द, मेरी टांगों में नित्यानन्द, मेरे पादों में नित्यानन्द, इस प्रकार सब अंग-प्रत्यंगों में भगवान नित्यानन्द को ही धारण किया। अंग स्पर्श करते समय 'गुरु ॐ' 'गुरु ॐ' जपते जपते अंग-अंग में श्रीभगवान नित्यानन्द का ध्यान जमाया। वाह! वाह! हृदय शीतल होने लगा। ताप मिटता चला। शीतल सुखद स्फूर्ति का प्रवाह बहने लगा। बड़ा मस्त होते चला। मस्तानों का ध्यान मस्त ही बनाता है। एक गीत सुना था :

सफ़ा से मिला तो सफ़ा हो गया मैं,
खुदी मिट गई, खुद खुदा हो गया मैं।

ऐसे अंग-प्रत्यंगों में भावना से, प्रेम से, गुरु की स्थापना करके भावमय पूजा में पूर्ण भावित हो गया। क्या जाने किस सुखद शय्या पर मैं निश्चिन्त सो रहा था! कौन से षड्रसपूर्ण पक्वान्न खाकर तृप्त हो रहा था! किस दिव्यलोक का वासी हो गया था! ऐसे आनन्द की किल्लोलों में मस्त होकर, श्रीगुरु परमानन्दमय सुखद समुद्र में, प्रेम-नाव में बैठकर, शीतल वायु की हिलोरों में उल्लसित होता रहा।

इतने में बारह बजने की घण्टी हुई। मुझे ध्यान में बैठे तीन घण्टे हो गये थे। परन्तु अभी तो ध्यान की विधि अर्धमात्रा में ही हुई थी, पूरी नहीं हुई थी। मैंने अब नीचे से ऊपर की ओर ध्यान की प्रक्रिया आरम्भ की। मैंने अपने चरणों को स्पर्श किया और कहा : 'हे गुरु, आप यहाँ स्थित होइये।' मेरे पादों में नित्यानन्द, घुटनों में नित्यानन्द, जंघाओं में व्याप्त श्रीनित्यानन्द, कमर में मेरे श्रीनित्यानन्द, पीठ में भगवान नित्यानन्द, पेट में सद्गुरु नित्यानन्द, नाभि में बाबा नित्यानन्द, पसलियों में नित्यानन्द, हृदय-कमल

के बीच परात्पर परमानन्दमय भगवान नित्यानन्द, गले की रुद्राक्षमाला में नित्यानन्द, दोनों बाहुओं में नित्यानन्द, कण्ठ में गुरु नित्यानन्द, मुख में नित्यानन्द, जिह्वा में नित्यानन्द, नाक में नित्यानन्द, आँखों में नित्यानन्द, मस्तक में नित्यानन्द, ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार की चमक में श्रीसद्‌गुरु नित्यानन्द– इस प्रकार नीचे से ऊपर तक पुनः परमगुरु नित्यानन्द का ध्यान किया। ध्यान करते करते हृदय में ध्यान जम गया। हृदय में प्राण शांत भाव से स्थिर हो गया। वहाँ ध्यान शुरू होते ही पीछे मूलाधार में बड़ी वेदना हुई। ऐसा लगा मानो वहाँ किसी दिव्य बिजली का प्रहार हुआ हो। सर्वांग में वायु का कुछ वेग, अनन्त प्रकार की नाड़ियों में स्पन्दन होते होते ध्यान में मस्त हो गया।

तीन बजे नित्यानन्द बाबाजी की आवाज़ सुनी। वे कह रहे थे, 'उठो'। मैं उठ गया। मस्ती में डूबा हुआ था। धीरे-धीरे तन्द्रा मिटती चली। बाबाजी ने गरम पानी के कुण्ड में स्नान किया। तदनन्तर मैंने भी स्नान किया। फिर वही ध्यानस्थ अवस्था। ध्यान उत्तम रूप से चढ़ने लगा। गुरुभाव बढ़ता गया। अन्तर में शांति-किरण चमकने लगी। प्रातःकाल हो गया। भगवान नित्यानन्द जी बाहर आकर अपने पलंग पर बैठे। सभी लोग दूर से दर्शन करते थे। प्रायः मेरी बारी आखिर में आती थी। मैं दर्शन करके वहीं खड़ा हो गया। बाबाजी बोले, "बरोबर! ओ ध्यान।" एक हस्त उठाकर चिन्मुद्रा धारण करते हुए कह रहे थे, "ओ ध्यान रे.... ओच्....ओच्....ध्यान, ज्ञान, शान....ओ पूजा....ओ मस्ती रे....मस्ती ओ....सूक्ष्म....हा....ओ पूरण ध्यान" यह कहते कहते गाने लगे। मैं समझ गया कि उन्होंने मुझे ध्यान की पूर्ण दीक्षा दे दी है।

मैंने गुरुध्यान को अपना इष्टध्यान मान लिया। तदनन्तर प्रतिदिन ब्रह्ममुहूर्त में तीन बजे उठता जबकि जगत पूर्ण निःशब्द होता है। यह समय भजन एवं ध्यान के अनुकूल होता है। नित्यप्रति स्नान करता। सर्वात्म भाव से सब दिशाओं को नमस्कार करता। फिर मेरे प्यारे श्रीगुरु का ध्यान आरम्भ कर देता। दिव्य ध्यान होने लगता। फिर रात्रि के निःशब्द समय में पुनः ध्यान शुरू कर देता। ध्यान दोनों समय होते चला। कभी कभी स्नान न भी होता तो हाथ, पांव, मुख धोकर, जिह्वा साफ करके, स्वच्छ होके ध्यान करने लग जाता। ध्यान के बाद एक चक्कर लगाता। ध्यान

के स्थान पर सिद्ध महात्माओं के और गुरुदेव के फोटो आगे-पीछे चारों दिशाओं में मैंने लगाये थे। उनके बीच में बैठकर ध्यान करता था। मैं फोटो को जड़ भावना से नहीं देखता था। जैसे बाबा के सान्निध्य में भय से, मर्यादा से, पवित्र भाव से रहता था, वैसे ही ध्यान के कमरे में जहाँ उनका फोटो लगा रहता था, मर्यादा से रहता। कभी भी फोटो के सामने पांव फैलाकर नहीं बैठता। जिस कमरे में ध्यान करता उसमें पवित्र भाव से व्यवहार करता। चलते हुए भी संभलकर पांव रखता। कारण यह है कि चिति-मरीचि के किरण-पुंज, विशेष रूप से ध्यानकाल में, प्रसरित होके वहाँ फैले हुए रहते हैं। फिर जहाँ गुरुदेव का पूजा का फोटो होता है, वहाँ श्रीगुरु का पूर्ण अस्तित्व रहता है; साथ ही मैं ध्यान काल में कमरे के अन्दर सभी सिद्धजनों का आवाहन करता था। उसकी रीति इस प्रकार है : जिन्होंने श्रीगुरुचरणोपासना द्वारा गुरुप्रसादरूप परशिवपद प्राप्त किया है, ऐसे जो पहले हो गये, अब जो हैं, आगे जो होंगे, वे सब सिद्धजन मेरा रक्षण करें और मुझे पूर्ण शक्ति प्रदान करें। इस प्रकार मैं अपने कमरे में सर्व सिद्धों की महिमा का आवाहन करते रहता।

मैं ध्यानकाल में सर्वसाधारण जनों से दूर दूर रहता था; क्योंकि मानवों के अपने अपने भावों के अनुरूप परमाणु उनके साथ फिरते रहते हैं। जहाँ काकभुशुंडी का आश्रम था, वहाँ कोसों दूर तक नाम का भावपरिणाम व्याप्त था। भुशुंडी जी के आश्रम के अन्दर प्रवेश करते ही जड़-मूढ़ मन्द भी राम नाम के उपासक बन जाते थे। राम नाम जपने लग जाते थे। मेरे परम पूज्य गुरु श्रीनित्यानन्द जी जहाँ रहा करते थे, वहाँ के आसपास के सभी स्थान स्तब्ध, मौन, त्यागपूर्ण, विचाररहित ही रहते थे। जो कोई भी बम्बई से आता वह आश्रम के दर्शन करने पर विचारशून्य हो जाता। कारण था मेरे गुरुदेव श्री नित्यानन्द के वायुमण्डल का प्रभाव। बम्बई के सभी चंचल जन, चाहे वे किसी भी प्रकार के क्यों न हों, एक बार उष्णतीर्थ में स्नान करके जैसे ही गुरुदेव के सम्मुख आते, अपनी चंचलता छोड़कर स्तब्ध शांत हो जाते थे। भगवान नित्यानन्द के जो भाव थे, उन्हींका साम्राज्य वहाँ छाया रहता। उनकी पूर्ण तटस्थता, मौन, मितभाषण, स्तब्ध शांतस्थिति के प्रभाव के कारण सभी शांत बैठ जाते थे, अनुशासन का भी पूरा पालन करते थे। गुरुदेव तटस्थता, स्तब्धता,

निर्विकारता, मौन के मूर्तिमंत विग्रह थे। उनके सान्निध्य में सभी का ध्यान सहज लग जाता था। नित्यप्रति ध्यान करते करते मेरा उत्साह और अनुभूति बढ़ते चले, मानो मेरी दिव्य परमार्थयात्रा तीव्र वेग से हो रही थी।

२

मेरी साधनकाळ की अनुभूतियाँ

साधारणतया भगवत्कृपा-प्रसादरूप दिव्यानुभूति गुप्त रखने का विषय है। किन्तु साधकों के लाभार्थ मैं यहाँ अपनी कुछ अनुभूतियों का कथन करना चाहता हूँ :

दिव्य दीक्षा

जैसे पहले बताया गया, मैं गुरुपूजन, गुरुध्यान किया करता था। एक दिन सायंकाल मैं भगवान नित्यानन्द के दर्शन को गया। दर्शन के बाद गुरुदेव मुझको हमेशा 'अब जाता' ऐसा पूछते थे। आज कुछ नहीं पूछा। सो मैं वहीं ठहर गया। श्रीगुरु-ध्यान के परम आनन्द में रात बीती। १५ अगस्त १९४७ की सुबह आयी। क्या जाने वह कौन शुभ दिन था! कितना अमृतभरा था! कितना दिव्य! कौन पुण्य और किस महाभाग्य को लिये हुए था! हमारे जीवन का सुदिन! आयुष्य का मंगलमय दिन! बहुत काल में, बहुत जन्म में वही एक दिन था। वह परम पुनीत, हाँ.... हाँ वह 'मंगलानां च मंगलम्' दिन उदित हो गया।

सूर्य उदय होकर किंचित् ऊपर आया था। वातावरण शान्त था। पूर्व कोने में मैं श्रीगुरुचिन्तन में खड़ा था। हॉल के पश्चिम कोने में गुरुदेव का भोजन तैयार करनेवाला मोनप्पा खड़ा था। अन्दर ध्यान-कक्ष में श्रीगुरुदेव अपने स्व-स्वरूप ध्यान से उठने की पूर्वतैयारी सूचक हुंकार करते थे। थोड़ी देर में गुरुदेव बाहर आ गये। आज तो कुछ नया ही रूप था। कभी भी ऐसा रूप नहीं देखा था। मैंने देखा कि वे एक सुन्दर पादुकाओं की जोड़ी पांव में डाल रहे हैं। वे आगे पीछे जाते। मुस्कराते। एक बार उस कोने में जाते और कुछ न कुछ गुह्य मन्त्रों को गाते। मेरे सामने आकर फिर मुस्कराते। गाना गाते। वे एक सफेद शॉल ओढ़े हुए थे। नीचे सिर्फ एक लंगोटी और पांव में पादुकाएँ थीं। वे बार-बार

मेरे सामने खड़े होकर जोर से 'हूँ' शब्द करते। ऐसे ही एक घण्टा बीत गया।

तदनन्तर गुरुदेव पास आ गये। उन्होंने मेरे अंगों से अपने अंग सटा लिये। मेरा शरीर एक नये आश्चर्य को पाकर स्तब्ध हो गया। सामने पश्चिम की ओर मुख करके मैं खड़ा था। मेरे शरीर से लगकर पूर्व की ओर मुख करके गुरुदेव खड़े थे। मैं नेत्र खोल कर देखने लगा। देखा कि गुरुदेव के शाम्भवी मुद्रा में पूरे खुले हुए नेत्र मेरे नेत्रों में एकाकार हो गये थे। मेरा शरीर शून्य हो गया। आँखें बन्द नहीं कर सका, क्योंकि उनको खोलने या मीचने की स्वतंत्र शक्ति मुझमें नहीं थी। गुरुदेव की आँखों के दिव्य तेज से मेरी आँखें पूर्ण स्थिर हो गयीं। ऐसा थोड़े काल तक रहा। फिर 'हूँ' रूप में गुरुदेव का दिव्यनाद सुना। गुरुदेव दो फुट पीछे हट गये थे। मैं थोड़ा होश में आया।

"ये लो, तुम ये खड़ाऊ डालो", उन्होंने ऐसा कहकर पूछा "मेरे ये खड़ाऊ डालेगा?"

मैंने आश्चर्य, आदर और धैर्य से कह दिया, "गुरुदेव, ये खड़ाऊ मेरे पांव में डालने के लिये नहीं। बाबाजी, ये तो मेरे जीवन में पूजने योग्य हैं। यदि आप कृपा करें तो मैं आंचल पसारता हूँ, आप उन्हें अपने ही पाद से उसमें रख दीजिये।"

पूज्य गुरुदेव ने बात मान ली। 'हूँ' 'हूँ' ध्वनि करके प्रथम अपना बाँया पांव खड़ाऊ सहित ऊपर उठाया और मेरे फैले हुए दामन में खड़ाऊ रख दिया। तदनन्तर प्रथम पांव नीचे रखकर, दूसरा दाहिना पांव उठाकर दूसरा खड़ाऊ रख दिया। वे सीधे मेरे सामने खड़े हो गये। मेरी आँखों में पुनः एक बार दृष्टिपात किया। मैंने बड़ी सावधानी से देखा। उनकी आँखों के मध्यबिंदु से ज्योति-किरण मेरे अन्दर प्रवेश कर रही थी। वह किरण उष्ण तेजयुक्त दहकते ताप की तरह मुझे स्पर्श कर रही थी। उसका प्रकाश किसी बड़े 'बल्ब' के प्रकाश की तरह आँखें चकाचौंध कर देनेवाला था। जब भगवान नित्यानन्द के चक्षु के मध्यबिन्दु से ज्योति-किरण बाहर प्रसरित होके मेरी आँखों में प्रवेश हो रही थी तब मैं आश्चर्य, विस्मय, आनन्द और भय से रोमांचित हो उठा। उस किरण के रंग को देखता हुआ, भगवान के दिये हुए मन्त्र 'गुरु ॐ' को मैं जप रहा था। किरण अखण्ड थी। उसमें दिव्य चमक

थी। कभी उसका रंग अग्नि से तप्त स्वर्णकान्ति जैसा था, कभी केसर जैसा, तो कभी चमकते हुए नक्षत्र से ज़्यादा तेजयुक्त गहरे नीले रंग का था। उन तेजोमय किरणों को अपने अन्दर प्रवेश होते हुए देखकर मैं स्तब्ध, स्थिर हो गया। शरीर पूरा जड़ हो गया। तदनन्तर श्रीगुरुदेव थोड़ा-सा हिले और उन्होंने पुनः हुंकार घोष किया। तब मेरी जड़ता थोड़ी चली गयी और मैं होश में आया। मैंने दामन में लिपटी हुई उन पादुकाओं पर सिर नवाया। तदनन्तर लेटकर साष्टांग प्रणाम किया। प्रणाम करके परमानन्द से उल्लसित होके उठा।

मैंने प्यार से, धीरे से कहा, "गुरुदेव, मेरा कितना दिव्य भाग्य है! मुझे परम प्राप्ति हुई है। आप इन पादुकाओं में पूर्ण रूप में रहिये और मुझे उन्हें पूजने की आज्ञा दीजिये। मैं कोई भी विधि नहीं जानता हूँ।" मेरे ऐसे कहते ही वे हॉल के पश्चिम को गये। थोड़ा फूल लाये, साथ-साथ दो केले, दो तीन अगरबत्ती और कुंकुम की एक पुड़िया भी। उन्होंने उनको पादुकाओं पर डाल दिया। मैं 'ॐ ॐ गुरु ॐ' रटने लगा। आज मैं बाबाजी के निकट खड़ा था। श्रीगुरुदेव ने बैठकर थोड़ा-सा अपनी सूत्र-भाषा में बोलना शुरू किया, "सब मन्त्र एक। सब ॐ। 'ॐ नमः शिवाय ॐ' 'शिवोऽहम्' होना चाहिये। 'शिव शिव'–'शिवोऽहम्' होना चाहिये। अन्तरंग में होना चाहिये। बहिरंग से अन्तरंग श्रेष्ठ रे।"

बाबाजी 'हूँ' कहकर अन्दर गये। उनकी हुंकार सभी प्रकार के इशारों की मन्त्रध्वनि थी। जब वे 'हूँ' करके गरदन फिराकर इशारा करते तभी मैं वहाँ से चला जाता था। लेकिन अब तक इशारा नहीं किया था, इसलिये मैं खड़ा ही रहा। भगवान अंदर से बाहर आये। हाथ में एक नीले रंग की शॉल थी। उसे उन्होंने मेरे अंगों पर डाल दिया। बड़े सौभाग्य की बात थी। प्रातःकाल से अब तक एक के बाद एक महाप्रसाद मिलता रहा। तदनन्तर बड़े वेग से रसोई घर की ओर गये। वहाँ मोनप्पा कच्चे केले के 'भजिया' बना कर एक थाली में रखता था। उनमें से भगवान ने दोनों हाथ भरकर भजिया लाके उसी झोली में डाल दिये जिसमें गुरु-पादुकाएँ थीं। अन्त में उन्होंने अपनी आनन्दमय मुखमुद्रा से 'हूँ' कहकर जाने का इशारा कर दिया।

कितना महान सुमंगल दिन, पुण्य समय था वह! मैं बाहर निकलते

ही अपने भाग्य को सराहने लगा–'हा–हा! ये मेरे कौन पुण्य की घड़ी है। किस महानता के फलस्वरूप आज मुझे यह प्राप्त हुई है।'

मैं पूरा आश्चर्य में डूबा था। कभी भी नहीं सोचा था कि ऐसी घटना भी घट सकती है। श्रीगुरु की पादुकाएँ मिलना मुझ जैसे को दुर्लभ था, क्योंकि उस समय भगवान नित्यानन्द जी के बड़े बड़े भक्तलोग थे। वे सब बहुत पुराने भी थे। उनमें कई वृद्ध भी थे और कई बड़े बड़े व्यापारी भी थे। सभी अपने को उच्च साधक, अनुभवी और भगवान के सब से निकट मानते थे। मैं एक साधारण, अपरिचित, नया मानुष था। मेरी कोई विशेष साधना नहीं थी, प्राप्ति भी नहीं थी। न तो मकान था, न व्यापार था। मेरी दशा एक दरिद्री की-सी थी। इसलिये जो घटित हुआ वह मेरे लिये परम सौभाग्य की बात थी।

मेरे गुरुदेव परम अवधूत थे। सदा ही अपने नंगे पांव से सारे जगत में फिरा करते थे। उन्होंने खड़ाऊ कभी भी नहीं पहने थे। उन्होंने आज अपने सुर-नर-पूजित, अघनाशक, योगज्ञानदाता पदकमलों में पादुकाएँ पहनीं। तदनन्तर फिरते फिरते मेरे सामने आकर मुझे अपने ही पदकमल उठाकर खड़ाऊ दिये। मेरा ताप मिटा, पाप कटा, जन्म-मरण घटा। अविद्या का परदा हटा। कितनी महिमा की बात थी! नित्यानन्द अवधूत साधारणतया ऐसा प्रत्यक्ष अनुग्रह नहीं करते थे। वे अलक्ष मुद्रा द्वारा, अलक्ष क्रिया द्वारा ही अनुग्रह करते थे। उनका मुझे पादुकाएँ देना एकदम ऐसी बात थी जो न होनेवाली थी। जिन्होंने कभी पादुकाएँ नहीं पहनीं, उन्होंने पादुकाएँ पहनकर स्वयं ही, हाथों से नहीं बल्कि सीधे अपने चरणकमलों से मेरी फकीरी की खाली झोली में डाल दीं। इतना ही नहीं; वे किसीका मुख नहीं देखते थे। कभी देखते भी तो इधर उधर को ताकते रहते थे। आज उन्होंने, जैसे कि मेरा मुख याद न हो इस रीति से, परशैवी शाम्भवी मुद्रा में अपने पूरे खुले नेत्रों से मेरे नेत्रों में देखा। सर्व सिद्धिप्रद, चितिमय दिव्य किरण सहित मेरे अन्दर प्रवेश किया। उस किरण को देखते देखते मेरे शरीर में कम्प, अश्रुधार, स्तब्धता, क्षणभर के लिये तटस्थता और परमानन्द का अनुभव हुआ। इस प्रकार **दिव्य–दीक्षा** दी। फिर मुझे नज़दीक बुलाया। कोसों दूर रहनेवाले गरीब साधु को भगवान के नज़दीक जाने का अवसर आज ही मिला। वरना एक लाचार परदेशी का इतना भाग्य कहाँ कि सब के सामने

भगवान के निकट बैठे! आज मेरे आराध्य परशिव ने सचमुच ही कुछ सोमवार-व्रत, कुछ शिवनाम-जप, अल्प स्वल्प होने पर भी मुझे अपने 'आशुतोष' नाम के ही अनुरूप महान फल दिया था। एक कवि ने अपने काव्य में भगवान शिव के दान के बारे में जो कहा है वह मेरे लिये भी फलरूप हुआ। वह कहता है :

धन्य धन्य भोलेनाथ!
आप बाँट दिया सब जग एक पल में।
तेरे सम दाता नहीं और कहीं जग में॥

श्रीगुरुदेव ने मुझे नज़दीक बिठाया। 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र सम्पुटित बताकर, ॐ को जताकर, शिवोऽहम् कहकर, शिवभाव धारण कराया। शिवपंचाक्षरी महातारक मन्त्र से बहिरंग अनुष्ठान की रीत बताकर, अन्तर-हृदय के 'मैं शिव हूँ' इस भावरूप शिवोऽहम् शब्द को सुनाकर अमरनाथ का अमर शब्द सुनाया। 'सब ॐ रे' कहकर एकात्मता का बोध कराया।

यदि न देनेवाला देने लगे तो लेनेवाला लेते लेते थक जाता है। ऐसा ही मेरे साथ हो गया। हृदयाकाश के अनन्त काल से अब तक अनन्त योनियों में भटकाने वाले अनन्त शब्दों को, मैं-मेरी रूप काम-क्रोध-मोहयुक्त अनन्त प्रकार की अशुचि भावनाओं को, 'शिवोऽहम् रे....ऐसा होना रे' कहकर परशिव के परम तेजोमय महामन्त्र से नष्ट कर दिया। जो केवल शिवरूप, चित्प्रकाशमय, नित्योदित, पूर्ण प्रकाशमय, पूर्णोऽहम्-विमर्शमय, शक्तिरूप परावाक् है, ऐसे महामन्त्र को अन्तर हृदय में प्रवेश करा दिया। जन्म-जन्मान्तर के इकठ्ठे हुए कर्मभाव को, पाप पुंज को, अपनी परावाक्मयी नित्यानन्द-कृपाग्नि में जला दिया।

तदनन्तर जैसे महान योद्धाओं को इसलिये कवच पहनाते हैं कि शत्रु की मार न लगे, बन्दूक की गोली न घुसे, चाकू न लगे, तलवार न चले; वैसे ही मुझे एक दिव्य नीली शॉल उढ़ा दी ताकि मुझे ताप न लगे, पाप न छुए, मोह-माया का चोर न प्रवेशे, राग-द्वेष के डाकू की दृष्टि न पड़े। ऐसी प्रसादरूप दिव्य शॉल दी, जिससे कि आधि-व्याधि, पाप-ताप कोई न व्यापे। इतना ही नहीं, अपने आप ही पुरोहित बन पादुकाओं पर थोड़े फूल, फल, कुंकुम, अगरबत्ती चढ़ाये। क्या सौभाग्य की बात थी! भगवान

नित्यानन्द जैसे नग्न दिगम्बर अलिंग चिन्ह वाले पुरोहित से पूजी हुई पादुकाएँ मुझे पूजने को मिलीं। हां-हां मेरा कितना बड़ा भाग्य था! तदनन्तर यह तो उनकी कृपा की पूर्णातिपूर्ण महिमा है—वे हुंकारते हुंकारते अन्दर गये, दोनों हाथ भरकर कच्चे केले के गरम गरम भजिया लाये, और उन्होंने उन भजियों को पादुकाओं के ऊपर डाल दिया। अब तो पुरोहित के हाथ से नैवेद्य भी हो गया। अभयदान की मुद्रावाले हस्त से पूजा भी पायी। दिव्य चिन्मय करकमलों ने भोग भी लगा दिया। भाग्य की बाढ़ बढ़ते बढ़ते स्मृति की नदी बहने लगी। जन्म-जन्म की पूजाओं की याद आयी।

बाहर आके मैं पादुकाओं को सिर से बारबार लगाये रहता। भजिया एक एक करके खाता। फूलों को सूंघता रहता। शॉल की चिकनाई, सुन्दरता, महानता देखते देखते हर्षित हो जाता। चित्त जितना गुरुदेव के स्मरण में एकाग्र, स्तब्ध, निष्क्रिय बना था उतना ही चंचल-चपल बन गया। फर्क इतना ही था कि अब की चंचलता में शुष्कता नहीं, मूढ़ता नहीं, क्लेश नहीं, उदासी, जड़ता, चिन्ता नहीं। अब आनन्द पूरा, मस्ती पूरी, उमंग पूरी, उत्साह पूरा था। हाँ, मन दौड़-दौड़ के एक बार श्रीगुरुपादुकाओं की तरफ देखता। हर्ष उमंग से फूलता। 'गुरुपादुकाष्टकम्' की ये पंक्तियाँ गुनगुनाता रहता :

ज्याच्या कृपेचा मज लाभ झाला जन्मांतरीचा भवताप गेला।
श्रीदत्त ऐसा उपदेश केला विसरूं कसा मी गुरुपादुकांला ॥

मैं अपने भाग्य को धन्यवाद देते देते, अपने पूर्व उपास्य परशिव की अहोकृपा की प्रशंसा करते करते, धीमे धीमे अपने स्थान की ओर जाने लगा। जाते जाते गुरुभाव और गुरुभक्ति पुनः उदित होने लगे। गुरु उपासना की रीति से पुनः 'अन्दर गुरु, बाहर गुरु' कहकर मन ही मन मस्ती में झूमता। भावना के वेग से गुरुभाव बढ़ता चला। सिर पर श्रीगुरुदेव की पादुकाएँ थीं। रास्ते में गांधीपाड़े से आगे जाते हुए, जहाँ छोटा-सा पुल यानी नाली आती है, जहाँ से वर्तमान 'श्री गुरुदेव आश्रम' की हद शुरू होती है, जहाँ उस छोटे से पुल को लगकर एक औदुम्बर का वृक्ष है, वहाँ पहुँचते ही दिव्य गुरुभाव ब्रह्मभाव में बदल गया। अन्दर-बाहर के जगत में भिन्न भिन्न

भेद करके 'एक में अनेक' दिखानेवाली भेदवृत्ति को छोड़कर क्षणभर के लिये 'अनेक में एक' भाव की अनुभूति हुई। 'गुरु ॐ' 'गुरु ॐ' जपते जपते, अन्दर गुरु, बाहर गुरु कहते कहते, वेदान्त का ब्रह्मसिद्धान्त जो पहले अलग अलग आचार्यों से पढ़ा था, फिर से स्फुरने लगा।

किंचित् वरुण देव की भी कृपा हुई। मन्द मन्द वर्षा की महीन बून्दें हलके-से पड़ने लगीं। शीतल वायु शान्तता से बहने लगी। मैं अपने नेत्र मूंदता और खोलता जाता था। अन्दर से एक अनन्त ज्योतियों का किरणपुंज जगमग जगमग करने लगा और न जाने कोटि संख्या में स्फुरनेवाली छोटी छोटी चिनगारियाँ लकलकाती हुई मेरी बन्द आँखों को दीखने लगीं। मैं देखता ही रहा। क्या सुन्दर दृश्य था! अति सूक्ष्म चिनगारियाँ झिलमिल झिलमिल करती हुई चमक रही थीं। वे मेरे अन्दर सर्वांग में दीखती थीं। उनकी गति विस्मयजनक थी। उनके ऐसे वेग और संख्या को देखते देखते मैं आनन्द और आश्चर्य से पूरित हुआ और आँखें खोलकर बाहर देखने लगा। बाहर भी वही अनन्त स्फुलिंगयुक्त चम चम करती चमकीली, अणु से भी अणु, नीली चिनगारियों की लकलकाती हुई बहुत पंक्तियाँ देखीं। देखते देखते बड़ा मस्त, भावयुक्त और आश्चर्यान्वित हो गया। एक नया अनोखा दृश्य चित्रपट में नहीं, बल्कि अपने चारों ओर देख रहा था। मैं धीमी धीमी गति से चल रहा था। मुझे पता नहीं था कि मैं रास्ते पर चल रहा हूँ या रास्ता मेरे पीछे पीछे आ रहा है। गांवदेवी के मन्दिर समीप पहुँचकर रुका। गणेशपुरी की ओर मुख सहज ही फिर गया। याद आयी प्यारे गुरुदेव की। पुनः मन ही मन नमस्कार किया। रास्ते के किनारे किनारे आगे बढ़ा। वरुण की कृपारूप छोटी छोटी बून्दें अभी भी बरस रही थीं। वह मन्द वर्षा की कोमल फुहार नील रंग की छोटी चमचम करती हुई किरणों से मिलकर अद्भुत लग रही थी। मैं हृदय में सर्वात्मभावरूप श्रीगुरुस्मरण करता हुआ, सिर पर श्रीगुरुचरणपादुकाएँ लिये हुए धीरे धीरे चल रहा था। अब भी मुझको उस एकाकार अनुभूति की पूर्ण स्मृति है। वे छोटे छोटे नील बिन्दु अब भी दीख रहे हैं।

चलते चलते वज्रेश्वरी मन्दिर जा पहुँचा। महाशक्ति योगमाता वहाँ वज्राभवानी के नाम से प्रसिद्ध है। माता जी के मन्दिर के पीछे एक छोटा दत्त मन्दिर है। मैं हमेशा वहाँ रहा करता था। दिन में एक बार भोजन

को माताजी के मन्दिर के महंत बाबासाहब के यहाँ जाता था। वे महंत बड़े सम्मान से मुझे नित्यप्रति समय पर भोजन खिलाते थे। उस दत्त-मन्दिर में मैं गुरु पादुकाओं की पूजा और थोड़ा ध्यान करने लगा। ध्यान रात्रि को ही करता था। ऐसे ही कुछ काल तक वज्रेश्वरी में रहते हुए नित्य स्नान को गणेशपुरी जाना और तदनन्तर श्री गुरुदेव के दर्शन करना, यह प्रतिदिन का कार्यक्रम था। इस प्रकार मेरी श्रीगुरु में निष्ठा, भक्ति, श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी।

वज्रेश्वरी देवी का स्थान महानसिद्धिप्रद स्थान है। वह एक अनुपम सिद्धपीठ है। पूर्वकाल में अनेक सिद्धयोगी, बड़े बड़े ऋषि-मुनि वहाँ रहे थे, भगवान श्रीरामचंद्र भी इस स्थान पर आये थे, ऐसी कथाएँ हैं। इसके चारों तरफ छोटी-मोटी पहाड़ियाँ हैं, रोगनाशक अनेक उष्णतीर्थ हैं।

एक छोटी-सी बहती हुई नदी बड़ी शोभायमान दीखती है। कहा जाता है कि यहाँ पूर्वकालीन अनेक सिद्धों ने अनुष्ठान किये थे। अस्तु। मैं उस चिदम्बा माता वज्राभवानी के कृपापूर्ण आश्रय में बहुत काल रहा। उसका पानी पिया। उसका अन्न खाया। ऐसे ही थोड़े दिन बीत गये।

मैं एक दिन प्रातः श्रीगुरुदेव के दर्शन करके खड़ा था। उन्होंने 'हूँ' कहकर एक फल दिया और कहा 'जाओ'। मैं अभी खड़ा ही था। गुरुदेव फिर से बोल उठे, "जावो रे....तेरी कुटी उधर की....यावला यावला....बस—बस रे बस....उधर ज्ञान ध्यान....जावो।" मैं चला गया। अब थोड़ा दुःखी और चिंतित भी था। परन्तु गुरुआज्ञापालन के लिये मैं पूरा तत्पर था। मैं श्रीगुरुआज्ञा को अब पहले से भी अधिक महान समझता था। **गुरुआज्ञापालन ही तप है। गुरुआज्ञापालन ही जप है। गुरुआज्ञा-पालन ही साधना है। गुरुआज्ञापालन ही परम कर्तव्य है। गुरुआज्ञापालन से बढ़कर कोई मंगलमय कर्म शिष्यों के लिये नहीं है**, ऐसा मेरा विश्वास था। गुरुसेवा महापूजा है। गुरुसेवा विश्वपूजा है। गुरुआज्ञापालन ही शिष्य का श्रेष्ठ कर्तव्य समझकर दूसरे ही दिन येवला रवाना हो गया। इधर गुरुदेव गांवदेवी के मन्दिर का जीर्णोद्धार करा रहे थे और तीन छोटे कमरे, जोकि अब के 'श्री गुरुदेव आश्रम' हॉल को लगकर हैं, बनवा रहे थे।

मैं येवला अपने स्थान पर गया। दूसरे दिन येवला से सूकी, जहाँ मेरी साधना-कुटी थी, साधना के लिये चला गया। पूर्व पश्चिम दोनों तरफ

'पायरी' और 'हापुस' जाति के दो आम्र वृक्ष और उनके मध्य में मेरी उत्तरमुखी कुटी—तीनों खड़े खड़े मेरी राह देखते थे। मैंने गुरुदेव की पादुकाएँ वहाँ स्थापित कीं तथा उनका दिया हुआ फल खाकर मैं ध्यान करने बैठ गया।

मन की भ्रमयुक्त स्थिति

दूसरे दिन प्रातःकाल से न जाने क्यों मेरी विचित्र दशा हो गयी। मुझे बेचैनी ने आ घेरा। अंग-प्रत्यंग दुखने लगा। मुझे ऐसा लगा मानो रोम रोम में कोई पिन चुभा रहा हो। अचानक न जाने क्या हो गया! वह मस्ती, वह आनन्द न जाने कहाँ लुप्त हो गये! मेरा अभिमान, मेरा गर्व नष्ट हो गया। पुनः पूर्व की भांति दरिद्री और कंगाल बन गया। मेरा मन पश्चात्ताप कर रहा था। वह मस्ती कहाँ चली गयी। हाय! यह क्या हुआ। पूर्णविकसित मस्ती का नया जगत न जाने कहाँ उड़ गया! अबतक मैं कैसा था—अब क्या हो गया! जैसे एक सुन्दर, अति ही प्यारी नगरी अदृष्टवश छिन्न-भिन्न हो जाये और उसका मालिक उस टूटी-फूटी नगरी को देखकर स्वप्नवत् अनुभूति करे। ऐसी ही दशा स्वामी मुक्तानन्द की हो गयी। कुटी के बाहर आकर अपने प्यारे निर्विकार मित्र आम के वृक्ष के नीचे बैठ गया। कैसा हो गया? क्या हो गया? यही चिन्ता मुझे जलाये जा रही थी। रात को अनेक दुःस्वप्न देखे थे। उठते ही बेचैन हो गया। समता भंग हो गयी। मन की चिन्ता भारी विषाद पैदा कर रही थी। रात के समय मेरे साथ रहने के लिये एक आदमी, जिसका नाम बाबुराव पहलवान है, आता था। वह मेरा पुराना साथी था। उसे मैंने येवला उसके घर जाने को कह दिया। वह चला गया। मेरी चित्तदशा कुछ विपरीत बनती गयी। मैंने गणेशपुरी में जो मस्ती पायी थी, जिस नये आनन्द के साम्राज्य को देखा था, वह कहाँ गया, यह चिन्ता अन्तर में बढ़ रही थी और मन को सता रही थी। जैसे पहले मस्ती बढ़ी थी, वैसे ही अब चिन्ता और नाना तर्क-कुतर्क में दिन बीता। अंग-प्रत्यंग दुख रहा था। मस्तक की गरमी इतनी बढ़ी कि क्रोध, भय और चिन्ता पूर्णरूप से उछल-कूद करने लगे।

साढ़े ग्यारह बज गये। जिस स्थान पर मेरी कुटी थी उस ज़मीन के

मालिक ने भोजन की थाली लाकर रख दी। उस समय बाजरे की रोटी और भाजी खाया करता था। थोड़ा-सा दूध भी लेता था। भोजन को बैठा। वह बिल्कुल नहीं रुचा। जबरदस्ती आधी रोटी खाकर और पानी पीकर उठ गया। बाहर आया। मेरी साधना के मित्र, आम के वृक्ष में एक झूला टंगा था, उसपर बैठ गया। फिर भी मन में उत्साह नहीं था। जहाँ भी दृष्टि जाती, वहाँ से भयभीत हो लौट आती। मैं गुरुदेव से बहुत दूर था। इसके बारे में पूछने मैं किसके पास जाऊँ? झूले से उठा। अपने मित्र, आम के वृक्ष पर चढ़कर थोड़ा शान्ति से बैठा। क्षण दो क्षण जाते ही पुनः वही मानसिक पीड़ा उठी। मन की चंचलता बढ़ी। मुझसे यह कहा नहीं जाता कि मन कितनी अशुचि भावना से भावित हो उठा। सच। इसी प्रकार अति ही अशुचि द्वेषचिन्तन, पाप-चिन्तन करते करते दोपहर के तीन बज गये। पुनः वही खेती-बाड़ी का मालिक कुछ पेय लाया। वह गरम पेय मैंने पी लिया। साधना-कुटी के आसपास पूरब से पश्चिम और पश्चिम से पूरब फिरने लगा। बीच बीच में आसपास के गावों के लोग आते। उनसे भी बराबर नहीं मिलता। उनके कुछ पूछने पर ठीक उत्तर नहीं देता। इधर बैठ, उधर बैठ। जहाँ जहाँ मैं पहले प्रेम से बैठता—जैसे उस आम के वृक्ष के नीचे—वहाँ वहाँ बैठा फिर भी घोर असंतोष ही मेरा स्वागत करता रहा।

मेरे गुरुदेव ने एकबार शिवराम सेठ को एक कथा सुनायी थी। मुझे उस समय वह याद आ गयी, क्योंकि मेरी भी वही स्थिति थी। कथा ऐसी है : एक कर्महीन, दरिद्री, कौड़ी के मोल का मनुष्य था। कहाँ भी जाये, उसकी दरिद्रता और कर्महीनता भी उसके साथ जाती थी। यदि वह भाग्यहीन दरिद्री राज्य के किसी उदार धर्मनिष्ठ दाता के पास जाता तो वह पुण्यात्मा सेठ भी दरिद्री और कृपण बन जाता था। इतना ही नहीं। एक बार वह कर्महीन तंग आकर कैलास की ओर चल दिया। उसके आगे आगे और एक मनुष्य जाता था। वह भाग्यहीन थोड़े अधिक वेग से चला और उसने उसको पकड़ लिया और पूछा, "अरे भाई! तुम कहाँ जाते हो? चलो हम दोनों साथ-साथ चलें।" आगे चलनेवाला तो दरिद्रता की साक्षात् मूर्ति था। वह बोला, "कर्महीन साहब! मैं आप के साथ साथ नहीं चल सकता; क्योंकि मैं आपके ही भाग्य की चाकरी करता हूँ। आप से आगे आगे जाके आप के स्वागत के लिये वहाँ अभाव, दरिद्रता, निष्ठुरता,

बेचैनी, मानसिक क्षोम, मूढ़ता आदि का संग्रह करके रखना है। इसलिये, साहब, मैं आप से आगे आगे जाता हूँ।" इस प्रकार गुरुदेव ने कहा था कि भाग्यहीन यदि कैलास भी जाता तो सर्व दरिद्रता उसके स्वागत को वहाँ भी तैयार रहती।

हमारे नये नये कुछ आश्रमवासियों की भी यही दशा होती है। वे भाग्यहीन चाहे सिद्धपीठ में हों, या सिद्धपुरुषों के साथ हों, या सत्संग में हों, वे लाचार, उदास, बेचैन, आनन्दहीन निस्तेज मुख और अरुचि लिये हुए ही रहते हैं। उन्हें बम्बई की याद, वहीं के पिक्चर के स्वप्नदृष्टान्त, क्लब के विलास और चैन की पुनः पुनः 'प्रत्यभिज्ञा' याने स्मृति होती रहती है। मैं बम्बई कब जाऊँ? यही चिन्ता उनको खाये जाती है।

मुक्तानन्द की भी उस दरिद्री के जैसी दशा हो गयी। जिस जिस वृक्ष के नीचे मैं आनन्दपूर्वक आसन लगाकर बैठता था वे ही आम के वृक्ष आज उठ-उठके मुझे चंचल बना रहे थे। येवला से जो जो प्यारे सत्संगी मित्र आते थे वे भी निष्ठुर लग रहे थे। इतने में छः बजे बाबू आया। साथ में एक बुढ़िया भी आयी। वह पहले प्रतिदिन दोपहर को मुझे अभंग गा गा कर सन्तुष्ट करती थी। जैसे ही वह आयी, मैंने उससे कहा, "अब वह मेरा प्रिय अभंग गाओ।" ऐसा बोलते ही वह गाने लगी :

शेवटिली पाळी तेव्हां मनुष्यजन्म। चुकलीया वर्म फेरा पडे ॥ १ ॥
एक जन्मीं ओळखी करा आत्माराम। संसार सुगम भोगूं नका ॥ २ ॥

यह श्री नामदेव जी का बड़ा मार्मिक अभंग है। वे कहते हैं कि इस शरीर में ही आत्माराम को जान लो। मानवजन्म अन्तिम बारी में ही मिलता है। सावधानी से इसे सम्भालो। वरना फिरसे आना पड़ेगा। इस अभंग को बूढ़ी माँ बड़े भावपूर्ण स्वर में गाती थी। इतनी मस्ती का अभंग भी मुझे उस समय नहीं रुचा, रसहीन लगा।

दूसरा भी एक अभंग था जो नामदेव जी की प्रिय शिष्या जनाबाई का लिखा हुआ है। वह अभंग बड़ा भावपूर्ण है। मैंने बुढ़िया से वह गाने को कहा। अभंग का विषय इस प्रकार है : जनाबाई की पूर्ण गुरुभक्ति देखकर भगवान विठ्ठलराय जनाबाई की सेवा में जाकर वे उसकी सास द्वारा बताये हुए सभी काम कर देते थे। गुरुभक्ति की क्या महिमा है!

जनाबाई महान योगिनी, भक्त, ज्ञानी, महाकुशल और गुरुभक्तिपरायणा थीं। वे अपने अभंगों में बार बार 'नामाची जनी' 'नामयाची दासी'। ऐसा लिखकर अपने श्रीगुरु के प्रति पूर्ण दासत्व की स्वीकृति के वचन कहती थीं। दासी जनी के महान सेवाधर्म से प्रसन्न होकर ही भगवान पांडुरंग, जो योगियों को भी दुर्लभ हैं, जनाबाई के संग कपड़े धोते, चक्की पीसते, घर साफ करते, गीत गाते, बातचीत करते। रातदिन जनाबाई के ही संग रहते। और इसमें आश्चर्य भी क्या है? गुरुभक्ति का ऐसा ही चमत्कार है। वह पश्चात्ताप का अभंग है जो इस प्रकार है :

नाहीं केली तुझी सेवा । दुःख वाटतसे माझे जिवा ॥ १ ॥
नष्ट पापीण मी हीन । नाहीं केलें तुझें ध्यान ॥ २ ॥
जें जें दुःख झालें मला । तें त्वां सोसिलें विठ्ठला ॥ ३ ॥
रात्रंदिवस मजपाशीं । दळूं कांडूं लागलासी ॥ ४ ॥
क्षमा करावी देवराया । दासी जनी लागे पायां ॥ ५ ॥

दासी जनाबाई कहती है : 'हे भगवान! मैंने आप की कुछ भी सेवा नहीं की। इसलिये मुझे बड़ा दुःख होता है। मैं पापी ने आप का ध्यान भी नहीं किया। फिर भी हे विठ्ठल! मेरी खातिर आप ने क्या क्या नहीं किया? मुझे बाह्य-जगत से जो दुःख मिला, जो लोकपीड़ा मिली, लोगों ने जो उपद्रव किये, सब आप ने भक्तवत्सलता की महिमा से स्वयं ही भोग लिये। रात-दिन मेरे साथ रहके मेरे जो जो कठिन काम थे, वे आपने दौड़ दौड़ कर सम्पन्न किये। पीसने और कूटने का काम भी किया। हे प्रभु! मेरे लिये आप ने महान कष्ट भोगा है। प्रभु! क्षमा कर दो। नामदेव की दासी जनी दीनता से आप से प्रार्थना करती है।' यह अभंग सदा ही मेरे हृदय में अमृत-रस की वर्षा करता था। आज वह भी शुष्क हो गया। मुझमें रुचि नहीं रही। प्रेम नहीं रहा। हाय-हाय! क्या हो गया! मेरी कितनी दुर्दशा हो गयी!

मैंने गानेवाली बूढ़ी अम्मा को चले जाने को कहा। फिर कुटी के अन्दर गया। बहुत विकृति एवं विकार पूर्ण अनन्त वेदनाएँ, अंग की कुछ चेष्टाएँ और भ्रान्ति बढ़ती गयी। सूर्य अस्त हो गया। बाबू ने दीप जलाया। अगरवत्ती लगायी। आरती की। धूप जलाया। और बाद में तानपुरा लेके

भजन गाने लगा। थोड़े ही समय में मेरे प्राण में विकृति शुरू हो गयी। कभी पेट फूल जाता। फिर ज़ोर से मैं श्वास बाहर निकालता। प्राण अन्दर जाके बार बार रुकने लगता। अब तो मै और भी अधिक डर गया। चिन्तापूर्ण मन, भ्रमित चित्त लिये हुए बाहर आया। रात्रि के कोई आठ बजे होंगे। चन्द्रमा का प्रकाश था, परन्तु मुझे अन्धेरा ही दीखता था। दूर से कुछ विचित्र शोर सुन रहा था। मन महा डरपोक बना। मैंने बाबुराव को बुलाया और कहा 'बाबू, तुम अब अपने घर चले जाओ। मेरे हृदय की गति और मन की स्थिति अच्छी नहीं। मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि आज रात मेरी मौत होने वाली है। 'हार्ट फेल' होनेवाला है। इसलिये तुम चले जाओ, वरना तुम्हें सभी तंग करेंगे। एक तो अब मैं बचनेवाला नहीं हूँ और यदि बच भी गया तो हो सकता है, मैं पागल हो जाऊँ। मेरा दिमाग खराब होता जा रहा है। तुम मेरी आज्ञा पालो। चले जाओ।' वह दुःखी अन्तःकरण से चला गया।

रात्रि आगे बढ़ी। वातावरण पूर्ण निःस्तब्ध, नीरव था। चन्द्रमा की धवल चाँदनी सर्वत्र छिटक रही थी। मन में नाचने, कूदने, चिल्लाने की बार बार इच्छा होती। वह इच्छा बलवती होती गयी। मतिभ्रामक, अनर्थकारक चिन्तन होने लगा। अंग-प्रत्यंग में उष्णता बढ़ते चली। सिर भारी हो गया। रोम-रोम में पीड़ा होने लगी। प्राण बाहर जाता तो बाहर ही रुक जाता। अन्दर आता तो अन्दर ही रुकता। प्राण की पीड़ा ने मेरा धैर्य पूर्णतया भंग करके अब थोड़ी देर में ही मौत हो जायेगी, यह सूचना दे दी। पुनः मैं बाहर गया। सारी पृथ्वी घूमती, आकाश घूमता, वृक्ष घूमते नज़र आते थे। मैं उठता। फिर वहीं बैठ जाता। न जाने यह सब क्या हो रहा था? न जाने यह सब कैसे हो रहा था? न जाने यह कौन करा रहा था? आम के वृक्षों की ओर जाने की मुझे इच्छा हुई। मैंने उनकी तरफ़ देखा तो उन वृक्षों की दोनों पंक्तियों के बीच गुरुदेव को अपनी तरफ़ मुख करके बैठे हुए देखा।

रात के नौ बज चुके थे। मेरी आँखों में कोई आकर बैठ गया था। वह मुझे कुछ कुछ दिखाने लगा। पुनः वृक्षों की तरफ़ देखता। वहाँ मुझे गुरुदेव दीखते। पुनः वे भी ओझल हो जाते। ऐसा होते होते मुझे लगा कि मेरे शरीर पर कोई शक्ति सवार होकर मुझसे कुछ करा रही है। मेरी

स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी थी। मेरी गति अब पूरे पागल की सी होती चली। बुद्धि पूर्ण चंचल हो गयी थी। मैंने आम के वृक्ष की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं। गुरुदेव को नमस्कार किया। फिर अपनी कुटी में चला गया। जैसे ही अन्दर गया तो देखा कि बाहर गन्ने के खेत में आग लग गयी है। उसे बड़े वेग से फैलते हुए देखा। मेरा भय बढ़ता चला। बहुत से लोगों को महाभयानक प्रलयकालीन शोर करते सुना। छोटी खिड़की से बाहर झांकने पर देखा कि छः फुट से पचास फुट तक ऊंचे विचित्र प्राणी, जो कि न राक्षस थे न यक्ष, मानवी आकार धारण किये, मुँह खोलके नंगे नाच कर रहे हैं। मैं भयानक प्रलयकालीन चीत्कारें सुनने लगा। मैं पूरे होश में था। परन्तु पागलपन का भाव भी प्रत्यक्ष की नाईं देख रहा था। थोड़ी देर में मृत्यु की याद आयी।

मैं आसन पर बैठ गया। बैठते ही पद्मासन लग गया। मैंने चारों तरफ़ देखा। चहुँ ओर अग्नि की ज्वाला फैल गई थी। सारा ब्रह्माण्ड जलने लगा। जलते जलते समुद्र फट गया। समुद्र ने पृथ्वी को पूरा पूरा अपने में समा लिया। भूतपिशाच के समुदाय ने मुझे घेर लिया। इसी बीच मेरा पद्मासन पूरा बद्ध हो गया। मेरी आँखें बन्द हो गयीं। मेरा कण्ठ पूरा दब गया। श्वास ऊपर नहीं जाता था। तदनन्तर पीठ के निचले हिस्से में स्थित मूलाधार में एक नाड़ी-पुंज की गाँठ में कष्टयातना भरी बहुत पीड़ा होने लगी। आँखें खुल गयीं। मैंने उठके भागना चाहा। परन्तु पाँव पद्मासन में जकड़े थे। ऐसा लगता था कि पाँव में कीलें ठोककर आसन पक्का कर दिया गया हो। हाथ भी पूरे बन्द हो गये। साथ साथ यह ज्ञान भी था कि यह सब जो दिखायी दे रहा है, वह भ्रम है। लेकिन मैं भय से घिरा हुआ था। मैंने आँखें मीचने का प्रयत्न किया तो वे तुरंत खुल गयीं। अब भी पूरा प्रलय होके जलमय पृथ्वी दीख रही थी। मुझे छोड़कर सारा संसार नष्ट हो गया था। मेरी कुटी मात्र बची थी। इतने में बाहर से प्रलय के पानी पर से तैरते हुए चंद्राकृति चार फुट का एक गोलाकार अन्दर आ गया और मेरे सामने रुक गया। वह सफेद तेजयुक्त गोला मेरी आँखों से टकराया। तदनन्तर मेरे अन्दर घुस गया। ये मैं प्रत्यक्ष देखी हुई घटनाएँ लिख रहा हूँ। कोई स्वप्न या मृषा दृष्टान्त नहीं है। एक प्रकट देखा हुआ दृश्य है। वह आकाश से उतरा हुआ सफेद

गोला मेरे अन्दर प्रविष्ट हो गया। नाड़ियों में इस विद्युत् ज्योति के प्रविष्ट होने के एक क्षण बाद ही, मेरी जीभ ऊपर तालु में लटक गयी। आँखें बन्द हो गयीं। मस्तक के अन्दर एक अत्यंत चमकीली ज्योति देखकर मैं बहुत डर गया। बद्ध पद्मासन के साथ मेरा सिर पृथ्वी से चिपक गया।

कुछ देर के बाद आँखें खुलीं। एक हल्के-से लाल रंग की अति ही मृदु ज्योति चमचम करती, थोड़ी-सी हिलती हुई, अनन्त चिनगारीयुक्त होकर सारे जगत में पसरती हुई दिखायी दी। उसे देखते देखते मेरा आसन खुल गया। शरीरभाव पूर्ववत् आ गया। आसन से उठा। बाहर गया, दाहिने ताका, बायें ताका। वातावरण शांत था। मैं विस्मित, आश्चर्यमग्न हो गया। मैं सोच रहा था कि मैंने क्या क्या देखा। फिर अन्दर गया। आँखें मीचने पर उस ज्योति को मैंने वैसे ही देखा। आँखें खोलकर फिरसे बाहर गया तो वहाँ कुछ नहीं था। ऐसा होते होते बहुत रात हो गयी। सोने का प्रयास किया, परन्तु निद्रा नहीं आयी। सिर भारी था। इस अवस्था में प्रातःकाल के चार बजे। स्नान किया। पद्मासन लगाके पूर्ववत् श्रीगुरुध्यान आरम्भ किया। ध्यान में बैठते ही चित्त पूर्ण अन्तरमुखी बना। आसनस्थ शरीर घूमने लगा। पीछे मूलाधार में दुखने लगा। हृदयाकाश में मन को प्रमुदित करनेवाली एक ज्योति को देखते देखते 'गुरु ॐ' के दिव्यनाद की अन्तरध्वनि में झूमने लगा। इस प्रकार लगातार डेढ़ घण्टे तक ध्यान करते करते एक नयी क्रिया होने लगी।

मैं कभी ऊँट जैसी ध्वनि करता तो कभी बाघ की भांति ज्यों की त्यों गर्जना करता। बाघ के जैसी यह गर्जना न जाने मैं कितनी जोर से कर रहा था कि बाहर के लोगों को ऐसा अनुमान हुआ कि गन्ने के खेत में एक बाघ आ गया हो। थोड़े काल तक ही क्रिया का यह वेग चला। फिर शांत हो गया। ध्यान की समाप्ति पर आसन से उठा। अंग बहुत दुखता था। जड़वत् हो गया था। पूरे होश में आकर कुटी से बाहर आया और झूले पर बैठ गया। वातावरण शांत था। सूर्यनारायण पूर्व दिशा में उदित होने लगे, आम के वृक्षों में पक्षीगण चहचहाकर मुझे इसकी सूचना देने लगे। इतने में खेत का मालिक आ गया। मेरे धूपकुण्ड को चेताया। चारों ओर धूप दिया। सुगन्धित धूप की मन्द मन्द वायु से ध्यान-कुटी के आसपास का वातावरण सुगन्ध से भर गया। फिर उसने मुझसे कहा,

"बाबाजी! न जाने आज क्या हुआ? मैं इधर आया तो आप ध्यान में थे। ऐसा माळूम पड़ता था कि कोई बाघ आया हो। बाबाजी! मैं सच कहता हूँ। मैं खेत के बाहर से ही आया हूँ। मैंने कम से कम आधे घण्टे तक बाघ की गर्जना सुनी!" उसने मुझे यह सब बड़े विस्मित भाव से कहा। इतने में मेरा गरम पेय लेने का समय हो गया। वह मैं कुटी के अन्दर ही बनाता था। आज उसने बनाया। मैंने वह पी लिया। विचार करते रहा कि यह क्या बात है। मैंने ध्यान में बाघ जैसी ध्वनि की थी अवश्य, परन्तु इतनी दूर तक यह आवाज़ कैसे पहुँची ऐसा मन ही मन विचार करता। किसी को यदि सत्य बतलाना चाहूँ तो वह मुझे पागल कह देगा, ऐसा समझ कर मैं चुप रहा। *इस स्थिति के विषय में न मैंने कुछ पढ़ा ही था न दूसरे से सुना था। सुनी थीं वेदान्त की बड़ी बड़ी बातें और उन श्लोकों के अर्थ!*

मैं झूले पर शांत बैठ गया। आज बाबू प्रातः ही जल्दी आ गया। मुस्कराते आ रहा था। यह देख कर कि बाबा ठीक हैं उसको बहुत सन्तोष हुआ। उसने देखा, न तो बाबा की मौत हुई है और न वे पागल बने हैं। नमस्कार करके वह सामने बैठ गया। मेरा एक प्यारा पाटिल नित्यप्रति झाड़ू लेके वहाँ सफाई करता था। वह भी आ गया और उसने सफाई शुरू कर दी।

बाबू ने पूछा, "आप कैसे हैं? आप ने कहा था कि या तो आप की मौत होगी या आप पागल हो जायेंगे। मैंने भगवान से प्रार्थना की थी कि दोनों में से एक भी न हो। मुझे यकीन था कि ऐसा नहीं होगा।"

मैंने कहा, "क्या नहीं होगा? रात को तो मौत हो गयी। सारा संसार जल गया। पृथ्वी जलमय बनी। मैं मात्र मरते मरते बच गया। बाबू, मेरी दशा अच्छी नहीं है। मैं पूरा पागल हो गया हूँ। बाहर नहीं दीखने पर भी अन्दर से तो पागल हो गया हूँ।" तदनन्तर बाबुराव कुटी में से तानपुरा लाया और कुछ छन्द गाने लगा। मेरी ध्यान-कुटी का यह कड़ा नियम था कि कोई वहाँ न आये। यदि आये तो आकर शांत बैठे। इसलिये वातावरण निःशब्द था। मैं बड़ी एकाग्रता से सुनता था। 'श्रुति की टेर' का यह छन्द—

तू आप अपनी याद कर, फिर आत्म को तू प्राप्त हो।
ना जन्म ले मर भी नहीं, मत ताप से संतप्त हो॥
जो आत्म सो परमात्म है, तू आत्म में संतृप्त हो।
यह मुख्य तेरा काम है, मत देह में आसक्त हो॥

सुनते ही दिव्यभाव जागृत हो गया। मेरे अंग मुड़ने लगे। मैं कुटी के अन्दर चला गया। ध्यान शुरू हो गया। अब ध्यान मैं नहीं करता था। ध्यान ही मुझे ध्यातृत्व दे रहा था। ध्यान अपने आप अंग-प्रत्यंग की सन्धि-सन्धि में हो रहा था। समस्त शरीर में रक्तकण घूम रहे थे। वायु न जाने किस वेग से नाड़ियों के भीतर बह रही थी। बैठते ही एक लाल ज्योति इतने वेग से मेरे सामने आ गयी मानो वह मेरे अन्दर ही निवास करती थी। नीचे से ऊपर तक दो फुट लम्बी ज्योति के चमकने से प्रकाश हो गया। अब मैं स्पष्ट देखता था कि मैं जल रहा हूँ। परन्तु बाहर से मुझे अग्नि की उष्णता नहीं लगती थी। पूरे वेग से चर-चर पट-पट आवाज़ मेरे सब अंगों से निकल रही थी। ज्योति के ध्यान में मैं तन्मय हो गया; परन्तु अन्तरगति का स्मृतिज्ञान मुझे पूरा पूरा रहता था। थोड़े समय में अग्निज्योति की उस रक्तज्वाला के ताप से मैं भीतर से तप्त हो गया। फिर महागुरुपूजा आरम्भ हो गयी। बाद में ध्यान भंग होते ही ध्यान की मस्ती घट गयी। पुनः बाहर आकर अपने मित्र आम के नीचे झूले पर बैठ गया। बैठकर पुनः पुनः 'वह क्या था? कैसे देखा? क्या क्या देखा?' इस विषय का मनन करने लगा। इस प्रकार जो भी अन्तरभाव उठते थे, उनका मैं मनन करता था। उनके बारे में सोचता था। अपनी ध्यान की क्रियाओं और दृष्टान्तों, यानी ध्यान में दीखनेवाले दृश्यों को याद करता था। किसी से अधिकतर मिलता नहीं था। किसी को छूता भी नहीं था। न तो किसी के साथ बैठता था। मैं अकेला ही बैठता था। फिर वही भाव का उठना, अंगों का दुखना, नाना प्रकार का चिन्तन करना, अनन्त प्रकार की वासनाओं का उठना एवं भ्रम होना—बस इनमें ही सारा दिन निकलता था।

बाबुराव प्रतिदिन प्रातः आता और रात को चला जाता। सब आनेवालों के लिये एक नया नियम बना दिया था, 'प्रातः कोई नहीं आना। सायंकाल को ही दर्शन के लिये आना और तुरन्त चले जाना।' ऐसे नियम

की एक पटिया भी लगा दी। मेरे नियम, मेरा स्वभाव, सभी येवलावासियों को पूरे मालूम थे। सभी प्रेम से, आदर से उन्हें पालते। येवलावासियों को और येवला के आसपास रहनेवाले सभी को मुझसे बहुत प्रेम था। मैं येवला में ही छोटे से बड़ा हुआ था। मराठी भाषा येवला में सीखा। अब मेरा दूसरा जन्म येवला के नज़दीक सुकी की मेरी साधना-कुटी में हुआ। येवलानिवासी सभी भक्त लोग नित्यप्रति सायंकाल को दर्शनार्थ आते थे। कोई कुछ लाता, कोई कुछ लाता। शाम को सब प्रसाद के रूप में बाँट दिया जाता था। येवला के छोटे-बड़े सभी का मैं प्यारा बाबा था। शाम को सभी के जाने पर फिर से धूप जलाकर प्यारे गुरुदेव का ध्यान, गुरुमहापूजा करता। थोड़ा-सा गाय का दूध पीता। मेरी एक प्यारी गाय उस समय मेरे साथ ही थी। उससे मुझे दूध मिलता।

ध्यान में अनेक प्रकार के भाव आते थे। कभी लाल ज्योति जलते देखता। देखते देखते तन्मय हो जाता। कभी ऊँट के भाव, कभी पक्षियों के भाव, कभी आनन्द, फिर तुरंत क्षोभ, चिन्ता, मलिन विचार, फिर गुरुपूजा—ऐसा करते करते ध्यान पूरा हो जाता। फिर बाहर आकर आम्रवृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान की अवस्था पर विचार करता। पुनः अनेक दोषयुक्त संकल्प मन में उठते। अब मैंने लोगों का मेरे दर्शन करना और पाद छूना बन्द कर दिया। इसके पीछे मेरा ऐसा भाव था : 'मेरा मन मलिन है। हृदय में कुभाव हैं। अन्तःकरण गन्दा है। मैं नादान, माया-आवृत्त हूँ। क्यों दूसरों से अपने को पुजवाने का पाप करूँ?' ऐसा विचार कर मैंने चरणस्पर्श भी बन्द करा दिया। मन में विचार आता : 'अरे, तू अपने आप पूरा साफ नहीं। बाबा बनकर दूसरों को क्यों फँसाता है?' कभी अपने ये विचार जनता में प्रकट करता तो लोग नहीं मानते। लोगो में ऐसा विश्वास हो गया था कि मैं अपने को छिपाने के लिये ऐसा कह रहा हूँ। मैं अपने उपद्रव को टालने के लिये ऐसा बोलता था, परन्तु लोगों में यह बात फ़ैल गयी कि मैंने भगवान नित्यानन्द से कुछ पाया है जिसको मैं गुप्त रखना चाहता हूँ। इसलिये नित्यप्रति और अधिक जन आने लगे। हररोज़ एकान्त में नियम से ध्यान करता। अनेकानेक अनुभूतियों को पाता। कभी दुखी होता, कभी सुखी होता। हँसते हुए, रोते हुए, मेरी यात्रा आगे बढ़ी।

अब मैंने धीरे धीरे बाहर के जनों से मिलना कम कर दिया। कारण यह था कि जिस दिन मुझे कोई मिलने आता तो इधर उधर की बहुत बातें और गपशप होने से ध्यान अच्छा नहीं लगता था। मन में क्षोभ हो जाता था। ध्यान में बाधाएँ आ जाती थीं। दृष्टान्त नहीं होते थे। ज्योति भी नहीं दीखती थी। मन खिन्न हो जाता था। इतना ही नहीं, मेरी पवित्रता नष्ट होती थी। साधन की जो अनुभूतियाँ होनी थीं, वे समय में नहीं होती थीं।

पहले दिन जो मुझे प्रलयादि अनन्त दृश्य दीखे और ज्योति का दिव्य तेज दीखा, उनके बारे में उस समय मुझे कुछ जानकारी नहीं थी। बाद में मालूम हुआ कि ये सब 'शक्तिपात' की प्रक्रियाएँ थीं। *परम गुरु के पूर्ण अनुग्रह अथवा सिद्धकृपा या शाम्भवी समावेश का ही नाम शक्तिपात है।* अनुभवीजन इसको कुण्डलिनी की जागृति कहते हैं। आम के वृक्ष के नीचे ये जो मुझे अनुभव हुए थे, वे श्रीगुरुकृपा से ही हुए थे। वह गुरुदेव नित्यानन्द का पूर्ण प्रसाद था। यदि मुझे उस दिन यह ज्ञान होता कि मेरे ये अनुभव भगवान नित्यानन्द की कृपा द्वारा हुए थे, कि यह सब उन्होंने उस दिन मुझे पादुकाओं के साथ, शॉल के सहित, मन्त्रों का रहस्य समझाकर कृपारूप जो प्रसाद दिया था, उसके कारण था, तो मेरी उस समय की क्रियाओं को एक नया अमृतमय रूप प्राप्त होता। यह सब जो हुआ था वह नित्यानन्द-कृपाप्रसाद था, इसका मुझे तब पता चला जब मैं नागद गया और वहाँ एक ग्रन्थ में इसके बारे में मैंने थोड़ा कुछ पढ़ा।

हमारे संतों ने इन अनुभवों को गुह्यभाषा में अपने काव्यों में समझाया है। ज्ञानेश्वर महाराज, संत तुकाराम, जनार्दन स्वामी इत्यादि महानुभावों ने इनका वर्णन किया है। यह सच है कि सिद्धज्ञानी ऋषिमुनियों के वचन मानव के लिये पूर्ण सत्य परमात्म-दर्शन हैं। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा का पूरा विचार करके, साधन द्वारा संशोधन करके सत्य ही लिखा है। साधकजनों का न्यूनाधिक अधिकार होने से किसी को इस सत्य का अनुभव होता है और किसी को नहीं। इस सिद्धयोग के पुजारियों के अनन्त अनुभव हैं। ये अनुभव कहीं सुनने को भी नहीं मिलते। पढ़ने को भी नहीं मिलते। यदि मिल भी जायें तो कथन गुह्य होता है। उनके अर्थ बताने के लिये कोई साधनसिद्ध साधक नहीं मिलता। इसी कारण साधक साधना की विचित्र गति की चमत्कारक क्रियाओं को नहीं समझते। मन भयभीत हो जाता है

और साधना छूट जाती है। मुझे कई साधक मिले जिनसे सुना, 'बाबाजी, साधना को बैठते ही सर्प काटने को आता है।' 'बाबाजी, जब साधन को बैठता हूँ तब एक नंगी स्त्री आती है। फिर मैं डर जाता हूँ!' 'बाबाजी, साधना के समय मन में दुष्ट विचार आते हैं।' ऐसी अनेक कठिनाइयाँ साधकों के सामने आती हैं।

साधना काल में सिद्धयोगेश्वरप्रेरित पारमेश्वरी शक्ति के अनुग्रह-अनुकम्पा से होनेवाली अनन्त क्रियाओं से साधक कभी कभी डर जाता है। वह भ्रमित हो जाता है और साधन छोड़ देता है। इसका मुख्य कारण हैं, साधनापथ का पूरा ज्ञान न होना। अज्ञानवश साधना को छोड़ के वह दूसरों को भी भयभीत करता है। 'यह मार्ग अच्छा नहीं। इससे तुम्हारा दिमाग खराब हो जायेगा। तुम पागल बन जाओगे।' ऐसा वह कहने लग जाता है।

एक उदाहरण देता हूँ : पिछले वर्ष की बात है। अच्छी साधना करनेवाले मेरे एक सिद्धविद्यार्थी को यौगिक कियाएँ करते हुए किसी स्वामी महाशय ने देखा। वह स्वामी अपने को पूर्ण, सर्वसाधनसम्पन्न मानता था। वह उस सिद्धविद्यार्थी के पीछे लगा; उसे एकान्त में ले गया। बोला, "अरे....अरे! तुम तो महान गलती कर रहे हो। यह कोई योग नहीं है। भैय्या! मैं तुमको सचेत करता हूँ। क्योंकि मैंने पूर्ण समाधि पायी है; मगर जैसा तुम करते हो वैसा कुछ नहीं होता। तुम थोड़े दिनों में पागल हो जाओगे। नहीं तो मर जाओगे।" फिर उसको और अधिक डराने के लिये कहा, "तुम्हारी थोड़े दिन में ही मृत्यु है। नहीं तो तुम एक दो महीने में पूरे पागल बनोगे।" उस विद्यार्थी ने मुझे पत्र लिखा। 'बाबाजी, यहाँ एक स्वामी ऐसा ऐसा कहकर मुझे डरा रहे हैं और कहते हैं, ये बातें शर्माबाबू को, जो सिद्धयोग का जानकार था, नहीं बतलाना।'

मैंने पत्र कुछ महीने तक रख दिया। तदनन्तर उत्तर लिखा: "भाई सिद्ध-विद्यार्थी, अब आप का समय तो पूरा हो गया। दो महीने के बदले चार महीने हो गये। आप की साधना ठीक से चल रही है। आप के साधना के प्रकार भी उत्तरोत्तर बदल गये हैं। आप की यह अनुभूति कि 'मन आनन्द से भर जाता है', बहुत अच्छी है। आप साधना का फल पाके खुश रहे। हाँ, एक बात याद रखना। यदि वे स्वामी मिले तो उनकी तबियत की, उनके दिमाग की जांच करना, और डॉक्टर की रिपोर्ट को ध्यान से देखना। फिर उनसे

कहना : "वाह ! ज्ञानी स्वामी जी ! आपने भविष्यवाणी की थी कि मेरी या तो दो महीने में मौत हो जायेगी या मैं पूरा पूरा 'मेण्टल केस' बन जाऊँगा। लेकिन ऐसा एक भी न होने से मैं समझता हूँ कि स्वामी जी, आप केवल दूसरों का अन्न खाते पीते हैं, न देखे की दिखावटी करके विद्वत्ता-कमाई संचित करते हैं, न पढ़े हुए की पढ़े हुए जैसी बातें करते हैं। मैं समझता हूँ कि आप ही अवश्य पागल होंगे—या तो मस्तिष्क के, या शिष्यसमुदाय की विवेकहीन प्रशंसा के, या तो फिर 'लेक्चरबाजी' के।" अस्तु। ऐसे प्रसंग आने से मानव साधनभ्रष्ट बन जाता है। इसलिये अनुभूतियुक्त ग्रन्थ एवं अनुभवी संत की हमें बहुत जरूरत है।

रक्तेश्वरी

मेरी साधना दिन दिन बढ़ती चली। ध्यान चढ़ जाता। ध्यान चढ़ते चढ़ते चम चम करती पूर्व की रोशनी गायब हो जाती और मेरे ही आकार की एक लाल रंग की ज्योति आकर मुझे घेरकर अन्दर बाहर व्यापके स्थिर रहती। बहुत काल तक इस ज्योति को मैं देखते रहता। इसमें अनन्त कोटि छोटे छोटे किरणपुंज चमकते। देखते देखते मैं ध्यानमग्न हो जाता। ध्यान करते करते शरीर कभी हिलता या डुलता था, कभी तटस्थ हो जाता था। अंगों की कुछ क्रियाएँ भी होतीं। नाना प्रकार के आसन, जो मैंने कभी नहीं किये थे, बड़ी आसानी से हो जाते। कभी कभी मण्डूक की भांति उछलकर कूदता। कभी अंग इतना हिलता कि मानो कोई देवता हिला रहा हो। बात बिल्कुल सत्य भी है। श्री गुरुरूप महादैवत ने चितिरूप में अन्दर व्यापके अन्तरशक्ति से मुझे पकड़ा था। अस्तु।

इन अनुभूतियों के प्रमाण में मेरे साधन-क्रम के अनुरूप ज्ञानेश्वर महाराज का एक अभंग साधकजनों की जानकारी के लिये देता हूँ :

आकाशाचा शेंडा कमळ निराळें। त्यासी चार दळें शोभताती ॥ १ ॥
औट हात एक अंगुष्ठ दुसरें। पर्वार्ध मसुरें प्रमाण हें ॥ २ ॥
रक्त श्वेत शाम निलवर्ण आहे। पीत केशर हे माजीं तेथें ॥ ३ ॥
तयाचा मकरंद स्वरूप तें शुद्ध। ब्रह्मादिका बोध हाची झाला ॥ ४ ॥
ज्ञानदेव म्हणे निवृत्ती प्रसादें। निजरूप गोविंदें जनीं पाहतां ॥ ५ ॥

पूज्य प्रातःस्मरणीय, सर्वगुरुजनों के पूर्णात्मा योगेश्वर श्री ज्ञानेश्वर ने, जो ज्ञानियों के चक्रवर्ती और प्रेमियों के सम्राट थे, सिद्धयोग की सभी गतियों को, गुरुकृपा से प्राप्त होनेवाली स्थिति को, साधना के अनुभवकाल में अनुभव में आनेवाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म सभी दर्शनों को, अपने इस अभंग में कह दिया है। यह पूर्ण प्रमाण है। परम सत्य है। परमार्थपथ के मार्गदर्शन का मन्त्र है। साधकजनों का मार्गदर्शक—'गाईड़' है।

अभंग का पूरा भावार्थ इस प्रकार है—'आकाशाचा शेंडा' याने नख से शिखा तक एक पूरा शरीररूपी कमल है। उसके चार दल हैं। ये चार दल चार प्रकार के, चार रंग के और चार माप के हैं। हरेक दल की कुछ महिमा है। *प्रथम* दल है, प्रत्यक्ष दीखने वाला यह स्थूल शरीर। वह लाल रंग का है। *दूसरा* दल है सूक्ष्म शरीर, जिसमें हम निद्रा लेते हैं और स्वप्न की अनुभूति करते हैं, जिसकी माप अंगुष्ठप्रमाण है। उसका रंग सफ़ेद है। *तीसरा* दल है कारण शरीर, जिसकी माप पर्वार्ध यानी अनामिका अंगुली के अग्रभाग के प्रमाण की है। उसका रंग काला है। *चौथा* दल है महाकारण शरीर, जो तिल जितना छोटा है। वह नील रंग का है। यह चौथा शरीर बहुत महत्त्व का है। अति ही तेजोमय है। साधना का मूल है। अन्तर का परम उच्च दृष्टान्त है।

श्रीगुरु की कृपाशक्ति सूक्ष्मरूप से शिष्य के अंग में प्रविष्ट हो जाती है और महान कार्य करती है। जैसे घास में गिरी हुई छोटी-सी चिनगारी महान वेग से बड़ी से बड़ी अग्नि के रूप को धारण करती है, वैसे ही सिद्ध-विद्यार्थियों के अन्दर प्रविष्ट हुई चितिशक्ति उनकी शक्ति में मिलकर एक में अनन्त कार्य करती है। प्रथम कार्य उस रक्त (लाल) दल से सम्बन्धित है, जिसका प्रमाण 'औट हात' है, याने नख से शिखा तक साढ़े तीन हाथ की जिसकी व्याप्ति है। यह शरीर सुख या दुःख भोगने का साधनरूप है। इस शरीर द्वारा ही पाप और पुण्यकर्म किये जाते हैं और इसके द्वारा ही यह जीवात्मा मोक्षधर्मसाधन करता है। जीवात्मा पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, पंचप्राण और अन्तःकरण की चार वृत्तियों द्वारा स्थूल शरीर में स्थूल भोगों को भोगता हुआ, नेत्रस्थान में रहता है। जागृत अवस्था का जो भोक्ता है, वह यहाँ का लाल वर्ण का 'औट हात' का शरीर है। इस शरीर के न होने पर जीवात्मा के रहते हुए भी वह गोचर नहीं होता।

जीवात्मा के चार शरीर

शरीर :	स्थूल	सूक्ष्म	कारण	महाकारण
प्रमाण :	औटहात	अंगुष्ठ	पर्वार्ध	मसुर
वर्ण :	रक्त	श्वेत	कृष्ण	नील
अवस्था :	जागृत	स्वप्न	सुषुप्ति	तुरीय
नाम :	विश्व	तैजस	प्राज्ञ	तुर्य
स्थान :	नेत्र	कण्ठ	हृदय	सहस्रार
मात्रा :	'अ'कार	'उ'कार	'म'कार	अर्धमात्रा

ॐ कार की चार मात्राओं में, प्रथम मात्रा 'अकार' है, जिसका अभिमानी 'विश्व' नाम का यह 'औट हात' शरीर है।

शक्ति के जागृत होने पर उस स्थूल शरीर में अनेकानेक क्रियाएँ होती हैं। ये क्रियाएँ अर्थशून्य नहीं हैं। ये सभी क्रियाएँ रोगों का नाश करके, नाड़ियों की शुद्धि करनेवाली होती हैं। स्थूल शरीर की क्रियाएँ दूसरे शरीरों की क्रियाओं से भिन्न हैं। साधारणतया बहुत काल तक अनन्त प्रकार की क्रियाएँ होती रहती हैं। रक्तज्योति का ध्यान होने पर रोज़ रोज़ विविध प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। इनसे दिन प्रतिदिन एकाग्रता बढ़ती है और साथ साथ नाड़ियों की भी शुद्धि होती है।

तन्द्रालोक

अब तक भी मुझे पूरा पता नहीं था कि मुझे दिव्य शक्तिपात हुआ है। मुझे दो दिन तक रक्तज्योति के साथ साथ और भी अनन्त भिन्न भिन्न ज्योतियों के दर्शन हो रहे थे। ध्यान में स्मृति बनी रहती। आनन्द भी रहता। ज्योतियाँ देखते देखते नग्न पुरुष वा बालक वा गाय अथवा अच्छे अच्छे लड़ाकू घोड़ों के झुण्ड भी देखता। कभी कभी मेरे आसपास के गाँवों के देवस्थान, वहाँ की मूर्तियों के दर्शन होते रहते थे। सुबह शाम दोनों समय मैं दो घण्टे या उससे भी अधिक न चूकते हुए ध्यान करता था। प्यार के साथ करता था। कभी कभी ध्यान करते करते मुझे एक सात्विक नशा-सा चढ़ जाता था। वाह! क्या मस्त नशा था। परन्तु उस नशे को पचाने की मुझ में शक्ति नहीं थी। नशे में मस्त होते निद्रित हो जाता। बैठे बैठे मैं तन्द्रालोक में चला जाता। वहाँ निद्रा जैसा लगने पर भी वह मेरे रोज़ की निद्रावस्था का स्थान नहीं था। कारण यह कि हररोज़ जब मैं निद्रा से प्रातः उठता तब इतनी मस्तीभरी अनुभूतियाँ नहीं होती थीं, कोई दृष्टान्त भी नहीं होता था। परन्तु ध्यान-तन्द्री की निद्रा में यदि दृष्टान्त होता तो वह पूर्ण सत्य हो जाता। उसमें मैं कोई आगामी घटना देखता तो वह वैसे ही घटती। किसीको आते देखता तो वह आ ही जाता। इस प्रकार ध्यान-तन्द्री में किसी एक लोक में जाकर वहाँ कुछ काल तक रहता। आनन्द की उस मस्ती में पुनः पुनः रमता। ध्यान समाप्त होने पर

उस दिन मैं अत्यंत आनन्द-प्रेम-उल्लासयुक्त हो जाता और मेरे शरीर की सारी दुर्बलता दूर हो जाती।

तन्द्रास्थान, स्वप्न और निद्रा इन दोनों स्थानों से भिन्न है। यह स्थान सर्वज्ञताकलायुक्त है। इसमें जो भी दृष्टान्त होता है, वह सत्य होता है। इस प्रकार के अपने अनुभवों से मुझे पूरा विश्वास हो गया कि हमारे प्राचीन ऋषिमुनि सर्वज्ञ और पारद्रष्टा थे।

उस तन्द्री से जागते ही फिर मेरा वही झूला, वही आम्रवृक्ष। उसके नीचे बैठकर विचार करता कि आज की तन्द्री कैसे प्राप्त हुई, वे कौनसे लोक हैं, जहाँ मैं गया। ऐसी तन्द्री शक्ति-प्रेरणा से, परम स्वतन्त्रता से, अपने आप ही लग जाती थी।

रोज़ रोज़ ध्यान इसी भांति चलता था। कभी सर्पाकार होके शरीर लोट पोट होता। अन्दर से फूत्कार का शब्द भी निकलता। जहाँ मैं साधना करता था, उस कुटी के पास एक उच्च कोटि का नाग भी रहता था। वह वृद्ध और बड़ा समझदार था। मुझे रोज़ नहीं तो सप्ताह में एक दो बार अवश्य दीखता। बहुत समय से वहाँ था। वह 'श्वेत' यानी सफ़ेद जाति का नाग था। लोग भी उसे कभी कभी देखते थे। उससे मुझे बड़ा स्नेह था। मैंने सुना था कि जहाँ योगसाधन होता है, वहाँ योगेश्वर की कुछ न कुछ विभूति अवश्य होनी चाहिये। नाग परमशिव महायोगेश्वर की ही एक प्रत्यक्ष विभूति है। जिस दिन उसका दर्शन होता उस दिन मेरा ध्यान अत्यन्त ही आनन्दप्रद होता। मैं उस नागनाथ को 'बाबा नागेश्वर' कहकर पुकारता था। नागों में अन्तःकरण होता है। वे उच्च जाति के मानव के प्रति आदरसम्मान रखते हैं। मेरा अदृष्ट सदा ही उच्च रहा है। सुकी में भी साधन के अनुकूल, सेवाभावी बहुत जन मुझे साथ देते थे।

तदनन्तर मैंने अन्न कम करने का विचार किया। मैंने भोजन बदल दिया। थोड़ा-सा भात, एक दो सादा साग लेता था। रात को दूध पीकर तृप्त रहता था। ध्यान करते करते अब अन्दर से सद्भावों के साथ साथ कुभाव भी स्फुरते थे। अनावश्यक क्रोध, मोह, निष्ठुरता, न जाने ये क्यों स्फुरते थे। दस वर्ष पहले किसी आदमी ने मेरे प्रति द्वेष किया था, इसकी याद अब स्फुरती और उसके प्रति मन न जाने कितना क्रुद्ध होता था। क्रोधभाव के चले जाने पर पश्चात्ताप होता। लज्जा भी आती।

ध्यान की रक्त-भूमिका यानी रक्तवर्ण की ज्योति का दर्शन, स्थूल-शरीरानुगत ध्यान है। मेरी यह रक्त-भूमिका बढ़ती चली। रक्त-भूमिका में शरीर भी थोड़ा थोड़ा क्षीण होता चला। स्थूलता कम हो गई। बिना दवा मेद घटते चला। कभी कभी ऐसा अनुभव होता कि दोनों हस्तों की नाड़ियों में कुछ संचार हो रहा है। कभी पीठ के पृष्ठ भाग की नाड़ियों में वायु बड़े वेग से बहती। न जाने अन्दर इतना गतिमान, क्रियाशील कौन बना था? कभी मेरी गर्दन इतनी हिलती कि चटचट आवाज़ भी आती। मुझे भय भी लगता था। क्या जाने यह कोई वायु-प्रकोप तो नहीं! इस प्रकार अनेक आश्चर्यजनक क्रियाएँ होती थीं। गर्दन हिलते हिलते इतना वेग आ जाता कि वह कन्धे के भी पीछे चली जाती थी। कभी पीठ भी दिखायी देती थी। वेग कम होने पर मैं शांत हो जाता। परन्तु इन क्रियाओं का ज्ञान न होने से हमेशा भय लगा रहता, जिससे ये क्रियाएँ कुछ सोच-विचार का कारण बन जाती थीं। थोड़े दिन के बाद पता लगा कि मेरुदण्ड के बीच में से ऊर्ध्व सहस्रार में जाने की कुण्डलिनी महादेवी की यह एक हठयौगिक क्रिया है। गर्दन घूमते घूमते मेरी ठोड़ी नीचे गले के कण्ठकूप में कड़े से लग जाती। इस प्रकार एक दिव्य हठयौगिक बन्ध, जिसका नाम जालंधर बन्ध है, हो जाता। ऊपर जालंधर बन्ध लगते ही नीचे गुदा में एक ऐसी क्रिया होती जो अपने आप कुछ न करते हुए बन्द हो जाती, फिर खुल जाती।

मुझे ध्यान में शरीर की नाड़ियाँ, समुदाय के रूप में पूर्ण दिखायी देती थीं। इन नाड़ियों में प्राण गतिमान होता है, ऐसा स्पष्ट दीखता था। नाड़ियों के मध्य में प्राण की रुकावट अनियमित आहार-विहार से होती है। ये ही रोग और जरा के भी कारण हैं ऐसा मैं सिद्धयोग की क्रियाओं के अनुभव द्वारा समझा। प्यारी श्रीकुण्डलिनी, जो श्रीगुरुदेव की आत्मरूप है, अनन्तरूप होके मेरे शरीर में व्यापकर स्थूल क्रियाएँ करती थी। कभी कभी पद्मासन में बैठे बैठे बहुकाल तक मेरा सिर पृथ्वी से योगमुद्रा में लगा रहता। ये सभी क्रियाएँ अपने आप ही होती थीं। इस प्रकार योग की जानकारी अन्तर प्रेरणा से हो जाती। कभी मेरा मस्तक बिल्कुल पीछे झुक जाता। कभी आँखें नाक के अग्रभाग पर स्थिर हो जातीं। ऐसा होके लौहार की धौंकनी की भांति श्वास-प्रश्वास आता जाता था। कभी कभी

इस क्रिया में अन्दर का प्राण पूरा पूरा बाहर आ जाता। बाद में पता लगा कि वह भस्त्रिका प्राणायाम का एक प्रकार है जिससे पेट के अनेक रोगों का नाश होता है और प्राण पूर्ण शुद्ध होता है।

इन्द्रियविकार

नित्यप्रति नयी नयी क्रियाएँ होतीं, नये नये अनुभव होते। अब कुछ अंगों की विकृति और इन्द्रियों में विकार होने लगे। न जाने क्यों जो विकार नहीं होना चाहिये था वह विकार होने लगा। मुझे किसी विषय की इच्छा नहीं थी। न ही किसी भोगों की अभिलाषा थी। क्योंकि मैं जगत में सभी ठिकाने सभी लोगों की—राजा से लेकर साधारण आदमी तक की गति, याने अन्तिम दशा देख चुका था। गणेशपुरी में मेरे गुरुदेव के पास हररोज अनेक प्रकार के लोग—सेठ, श्रीमान्, श्रेष्ठ कलाकार, प्रसिद्ध सिनेमा अभिनेता, गायक, प्रवचनकार, बड़े अफसर, आते थे; क्योंकि महापुरुष सभी का होता है। वे सब कुछ न कुछ अभाव का ही कथन करते थे। उनके पास जो भी हो, एक वस्तु की पूरी कमी थी—वह था *शरीर स्वास्थ्य*। वे कहते थे, "भगवान, मेरे पास सब है, परन्तु 'हार्ट' अच्छा नहीं। डॉक्टर लोग न मुझे फिरने देते हैं, न पेट भर खाने देते हैं, न ही मेरी इन्द्रियों में बल है।" "बाबाजी, पेट में बहुत दर्द है। अमेरिका गया, इंग्लैंड भी गया। लाखों रुपया खर्च किया, परन्तु रोग नहीं गया।" "भगवान ! सब है, परन्तु अन्न पचता नहीं। रात्रि को निद्रा नहीं आती। दवा-चिकित्सा पर दो लाख रुपये गये।" वैसे ही किसी की आँख दुखती तो किसी का कान। इस तरह सब लोग दुःख-दरिद्रता साथ में लाकर उसे भगवान नित्यानन्द जी को सुनाया करते थे। सभी में कुछ न कुछ कमी थी। सभी का एक दयनीय रोना था। सभी में एक दरिद्रता थी। कोई बड़ा श्रीमान आता तो वह आरोग्य का दरिद्री होता। कोई निरोगी मनुष्य आता तो धनहीन दरिद्रता को लिये हुए होता। दूसरा एक विद्याहीन, विद्यादरिद्री आता। कोई कुरूप आता, वह रूपदरिद्री होता। कोई पतिहीन दरिद्री तो कोई पत्नीहीन दरिद्री, तो कोई पुत्रहीन दरिंद्री। ऐसा जो भी आता कुछ न कुछ दरिद्रता को लेकर आता। आकर अपना रोना सुना देता। मैं शांति से यह सब सुनता था। इन लोगों से अपने को क्या गुण

लेना, क्या शिक्षा लेना, यह मैं सोचता रहता। सच पूछो तो मेरी भी दशा ऐसी ही थी। कारण कि मैं साधन-आत्मज्ञान-साक्षात्कारहीन एक दरिद्री था। मैं उन सब को सावधानी से देखता—तेजहीन, समताहीन, रोगी, धन होते हुए भी सन्तोष नहीं। न ही उनमें कुछ बलवीर्य देखता। मात्र नये नये रोग बढ़ते देखता। इसका एक कारण समझ में आया। वह है वीर्य की दुर्दशा, इन्द्रियलोलुपता, और मुख्यतः अनियमित जीवन। मानव समझता है कि मैं भाग्यवान हूँ। मुझे सभी भोग भोगने हैं। ऐसी भ्रान्त स्थिति में रहता है। मानव यह नहीं जानता कि भोग हमको भोगते हैं। भोग हमें भोगते भोगते परिणामस्वरूप हमें अनन्त विचित्र रोगों के शिकार बना देते हैं। वैसे ही लोगों का रोना अब भी चालू है। अब भी नये नये रोगग्रस्त मुझे मिलते रहते हैं। उस समय बाबाजी के पास लोगों की इस दशा को बारंबार देखने के कारण, मैं एक मात्र साधना की ही आशा लिये हुए था।

ऐसी दशा होते हुए मी मुझे विकार क्यों? मैं सुकी की कुटी में ध्यान करता था। ध्यान में रक्तवर्ण ज्योति दीखती रहती थी। सन्तोष भी होता। फिर भी ध्यान करते करते बीच में एक ऐसी क्रिया होती कि मैं अत्यन्त लज्जित हो जाता। न जाने यह इतनी निर्लज्ज क्रिया मुझे क्यों होती। उसका कथन भी मुझे यहाँ नहीं करना चाहिये। यदि किसी से कहूँ तो बोलेगा की मैं बुद्धिमान नहीं हूँ। साधारण संसारियों से कहूँ तो कहेंगे, 'आजकल के संन्यासी ऐसे ही होते हैं। हराम का खाते हैं। फिर क्या! इससे तो संसार बहुत अच्छा है, जिसमें सब भोगों को भोगते हुए परमार्थ कर सकते हैं।' ऐसी कथा सुनने को मिलेगी।

मैं अब एक निर्लज्ज बात कहता हूँ। मेरी प्यारी मातृतुल्य अम्मालोग! मेरी प्यारी शक्तितुल्य बहिनलोग! कृपा करके मेरी इस घृणायुक्त बात को सुनकर मुझ पर क्रोध न करें। मुझे आशीर्वाद देते हुए इसके कारण और प्रयोजन की ओर ध्यान दें। मेरे प्यारे पाठकगण और अन्य साधकलोग भी इसके लिखने की ज़रूरत को समझें।

ध्यान में बैठते ही मुझे रक्तवर्ण की उस दिव्य ज्योति का दर्शन होता था। एक भाव आ जाता। डोलता, कूदता, हिलता, फिरता। श्रीगुरु की महापूजा करता। अन्दर गुरुध्यान, बाहर गुरुध्यान करते करते, 'गुरु ॐ' 'गुरु ॐ' जपते जपते, श्रीगुरुभाव में तन्मय होकर आनन्दित होते ही

एक ऐसा अनर्थकारक ध्यान होता, जिसका नाम है विषय–ध्यान, लोलुपता-ध्यान। छिः छिः! उस समय भी रक्तज्योति दीखती थी; मात्र रंग में कुछ परिवर्तन आ गया था। प्रातःकाल पूर्व में दिखायी देनेवाली अति ही मृदु लालरश्मि जैसी चमकीली ज्योति पूरी 'औट हात' दीखती थी। ऐसा होते ही ध्यान की प्रेम-मस्ती चली जाती। नित्यानन्द-भाव नष्ट हो जाता। गुरुमहापूजा भी नहीं रहती। 'गुरु ॐ' 'गुरु ॐ' मन्त्र भी नहीं रहता। पूर्ण कामभाव जाग जाता। न जाने वह कहाँ छिपा बैठा था! वह भी इतना जागता कि मैं हैरान हो जाता कि एक मांसमय इन्द्रिय में इतना बल कहाँ से आ गया। इन्द्रिय अत्यन्त विकल हो उठती थी। हाय! हाय! उस प्रथम दिन की प्रलयकालीन दशा से भी यह बुरी दशा थी। इन्द्रिय की प्रवृत्ति बहिर्मुखी हो गयी थी। काम....काम....काम....बस, यह एक ही भाव। मात्र मेरा सटा हुआ, दृढ़ता से जमा हुआ आसन नहीं खुलता था। वह ज्यों का त्यों पक्का रहता था। सर्वांग में कामभाव स्फुरता था। इन्द्रिय में इतनी पीड़ा होती थी कि वर्णन करना कठिन है। मन को समझाने से भी समझता नहीं था। आँखें मीचता तो सामने एक वस्त्रहीन स्त्री खड़ी देखता। ध्यान में, लाल ज्योति के अन्दर, मुझे एक बहुत सुन्दर बाला दीखती। नहीं देखने पर भी वह मुझे दिखायी देती। मैं डर जाता था। पश्चात्ताप करता था। आँखें खोलता था। आँखें खुली होने पर भी क़भी कभी वही ध्यान की रक्तेश्वरी ज्योति देखता। परन्तु उसमें भी जगदम्बा वस्त्रहीन ही खड़ी दीखती थी। आँखें मीचूँ तो वहाँ भी खड़ी, आँखें खोलूँ तो भी खड़ी। अब मैं क्या करूँ? अपनी इस निर्लज्ज दशा के बारे में किससे कहूँ? मेरे साथ ज़बरदस्ती हो रही थी। मैं परेशान था। इन्द्रिय का इतना बलवान विकार! उसकी गति को भगवान नित्यानन्द ही जानें अथवा जिस साधक पर बीतती है वह जाने। अस्तु। ऐसा होते ही मेरा ध्यान बन्द हो जाता। मन महान ग्लानि से भर जाता। ध्यान में आया हुआ कामभाव याद आता। भयभीत हो जाता। मन में भय, लज्जा एवं असन्तोष के भाव उठते। इसका मेरे दिमाग पर कुछ परिणाम होने लगा। 'अब अपनी मृत्यु न आनेपर भी मुझे आत्महत्या कर लेनी पड़ेगी। मुझ में जो अनर्थ हो रहा है वह किसी महान पाप का ही फल है।'—ऐसा सोचते सोचते मेरी चिंता बढ़ गयी।

सुकी की साधनाकुटी

सुकी में स्वामीजी

नागद की साधनाकुटी

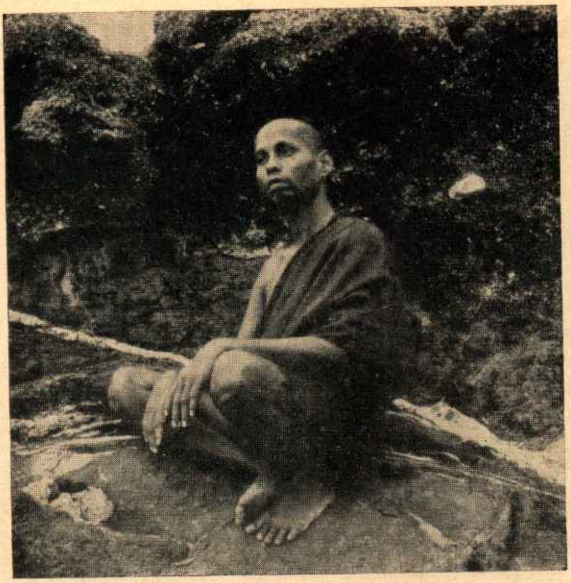

नागद में स्वामीजी

मैं बाहर आता। झूले में बैठता। फिर वही ग्लानि बढ़ानेवाला चिन्तन : 'मुझे क्या दोष हो गया है? क्या बिगड़ गया है? हाय! अब क्या करूँ?' इतने में दोपहर हो जाती। फिर थोड़ा ध्यान करता। पुनः ध्यान में वही नग्न स्त्री आ जाती। कभी हँसती। कभी मुस्कराती। कभी बैठती तो कभी खड़ी हो जाती। मैं इस दृश्य को देख देख कर थक गया। जिस दर्शन से इन्द्रियाँ शांत होतीं, सात्विक बनतीं, जिस दर्शन से हृदय में प्रेमरस बहता, परमानन्द का रसपान होता, वह लुप्त हो गया और अब उसके पूरा विपरीत होने लगा। इन्द्रिय की विकलता, उत्तेजना और उसका बलवान बनना हो गया। कुछ और भी लज्जायुक्त बातें होतीं। तब फिर जल्दी से उठ जाता।

रात्रि के ध्यान में भी पुनः वही गति होती थी। प्रथम ध्यान लगता। फिर रक्तेश्वरी ज्योति....उल्लसित मन....आल्हादित हृदय....बड़ी श्रद्धा, सम्मान के साथ गुरुमहापूजा....गुरुभाव में भावित होके भाव समाधि। ऐसा होते होते ज्योति में झट से परिवर्तन हो जाता। फिर मेरा पीछा करती हुई वही नग्न स्त्री। वह मेरे सामने थोड़ी दूर नाचती। अंगों के कुछ हाव-भाव करती। फिरती-कूदती। आँख खोलता तो उसे ही देखता। इन्द्रियों की स्वाधीनता अब नष्ट होते चली। डर लगा कि अब कहीं कुछ विपरीत घटना न हो जाये। इसलिये दूध नहीं पीता; क्योकि शरीर को थोड़ा बलहीन, क्षीण करना था। थोड़ा पानी पीता। मन की ग्लानि के कारण बड़ी रात तक निद्रा नहीं आती। मन ही मन नित्यानन्द भगवान का ध्यान करता। गणेशपुरी की याद करता। नमस्कार करता, फिर सो जाता। प्रातः जल्दी उठता। तीन बजे कभी स्नान करता; कभी हाथ-पाँव स्वच्छ धोकर सर्वांग में मन्त्रित विभूति को लगाकर ध्यान के लिये बैठता। बैठते ही ध्यान क्रियाशील बन जाता। 'औट हात' रक्तज्योति तुरंत उपस्थित होती। श्रीगुरु की पूर्ण महापूजा होती। थोड़े ही समय में भाव-समाधि होते होते झट वह काम-स्मरण! नंगी भवानी मेरा पीछा करती हुई सामने खड़ी हो जाती। वह मुझे अधिकाधिक पीड़ा देने लगी, वह एक ही पीड़ा। हाँ, मुझे दूसरी किसी बात के लिये तंग नहीं करती थी। मेरे एक महान पवित्र व्रत पर उसकी पूरी दृष्टि लगी हुई थी। पता नहीं, यह विचित्र नारी न बुलाने पर भी कहाँ से आ जाती!

सभी के पीछे एक नारी है। कोई किसी बात से तो कोई और किसी बात से परेशान किया करती है। कोई अन्न के ख़ातिर तंग करती है तो कोई वस्त्र के ख़ातिर जंग मचाती है। कोई सुवर्ण अलंकार के लिये तंग करती है तो कोई पति के सगे-सम्बन्धी छुड़वाने के लिये। कोई मित्र या साधु-संत से दूर रहने की मांग करती है। कोई कटु वचन से हृदय भेद कर जीते पति को प्रेत बना देती है। वह बोलती है, 'तुम्हारा हाथ पकड़ा, इसलिये मेरी ऐसी दशा हो गयी। मेरा बाप मुझे कितने प्रेम से रखता था। दूध में नहाती थी। घी पीती थी। रोज़ विमान में उड़ती थी। तुम ही मेरे पल्ले एक दरिद्र पड़े हो। जब से तुम्हारा हाथ पकड़ा है, तब से दुखी हूँ।' ऐसा कहते कहते पतिदेव को पागल-सा बना देती है। ऐसी नारी में नारीत्व नहीं। अस्तु।

वह जगदम्बा मेरे द्वारा सम्मान न करने पर भी, न बुलाने पर भी आती। कुछ भी नहीं माँगती। केवल मेरे ध्यान को भंग करती। इन्द्रिय को विकृत करती। मेरे व्रत को नष्ट करने का पूरा प्रयत्न करती। यह भी क्या दशा है! मेरे जीवन का यह अति दुःखपूर्ण प्रसंग था। ऐसा कष्ट, मैंने कभी भी नहीं पाया था। थोड़ी ही देर में मेरा ध्यान भंग हो जाता। बाहर आकर उस खाटपर शांत बैठता जिस पर मैं नित्य बैठता था। फिर सोचता : 'क्या करूँ? इस महान संकट से कैसे बचूँ?' अब दुःख चिंता और थोड़ा-सा पागलपन बढ़ने लगा। उदास होके बैठा रहता। अब स्त्रियों से बहुत डर लगने लगा। धैर्य नष्ट हो गया। डर था कि अब मैं कहीं कुछ स्वैर वर्तन करनेवाला न हो जाऊँ। बार बार पूर्वकालीन योगभ्रष्ट, पथभ्रष्ट, कर्मनष्ट हुए साधकों की याद आती। अजामिल, सूरदास जी, संत तुलसीदास जी की भी कुछ कथाएँ याद आतीं तो मैं रोता। कामराज के प्रबल वेग से मैं बहुत डरता। सिद्धासन पूर्ण सिद्ध करके इन्द्रिय निर्जीव, निकम्मी बना ली थी। फिर भी मरी हुई इन्द्रिय जीवित हो गयी। आश्चर्य! महान आश्चर्य! मुझे पुरानी कथा याद आयी। उन महर्षि पराशर ने नाव में क्या किया? ऐसी अनेक घटनाएँ याद करके मन क्षुब्ध हो गया। मध्याह्न-ध्यान में भी इन्द्रिय का विकार बढ़ जाता था। वहाँ के मालिक से, जिसकी स्त्री मेरा भोजन पकाती थी, कहा कि मेरे लिये भोजन का प्रबंध किसी पुरुष से कराया जाय, स्त्री से नहीं। अब मात्र थोड़ा

चावल ही खाता। साग खाना छोड़ दिया। आधे पेट ही उठ जाता और पानी पी लेता।

एक दिन बाहर आके सोचने लगा : 'इन सब से बचने का क्या उपाय है? कौन बतायेगा? जब सिद्धासन द्वारा निश्चेष्ट हुई इन्द्रिय पुनः जीवित हो गयी तो फिर कौन-सा उपाय मेरा प्रयोजन सिद्ध करेगा?' ऐसा सोचते सोचते मेरा दुःख, असन्तोष, चिंता बढ़ती चली। शाम हो गयी। वहाँ भी मेरे एक हरिगिरि नाम के प्यारे बाबा थे जो बड़े सिद्धपुरुष थे। वे बीस मील दूर वैजापुर में रहते थे। उनकी बहुत याद आयी। सोचा यदि वे बचा लें तो बचूँगा, नहीं तो कल मेरा खराब दिन है। किसी को गुप्त बात बता नहीं सकता था। इसलिये मैं बहुत रोया। रो रो के मेरा सिर भारी बन गया; बधिर बन गया। रात हो गयी। मैंने कुछ खाया-पिया नहीं। थोड़ी देर में बाबू आया। कुछ बोला, लेकिन मैंने सुना नहीं। मैं अपने आप से कहने लगा, 'हे मेरे मन! तुम बेचैन मत बनो।'

रात्रि का ध्यान नियमित रूप से शुरू कर दिया। उच्च ध्यान हुआ। ध्यान में योगियों के भाग्य की वह रक्तज्योति उदित हुई। दर्शन करते ही अत्यन्त छोटी छोटी केसरी चिनगारियों का चमकता तेज सामने आ गया। तदनन्तर श्रीगुरुदेव की महापूजा की। गुरुभाव में मस्त हो गया। नाना प्रकार की मुद्राएँ और भाव होते होते अन्दर से कुछ अलक्ष शब्द सुना। आनन्दित हुआ। जैसे ही वह मस्त स्थिति आयी कि वही वस्त्रहीन परन्तु अलंकार पहनी हुई देवी सामने आयी। उसे देखते ही मैंने आँखें खोल दीं। लेकिन वह बाहर भी दिखायी देने लगी। ऐसा होते ही पूर्व मस्ती नष्ट हो गयी। आसन भंग हो गया। धीरे से उठ गया। बाहर आया। ऐसे ही आम के वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे रात्रि के बारह बज गये। तदनन्तर अन्दर जाके सोया। सोते भी, चित्त का जो रोज़ का शांतभाव था, वह नहीं रहा। पगला-सा, भ्रान्त-सा हो गया। निद्रा नहीं आयी। दाहिनी करवट, बायीं करवट, पलटते पलटते तीन बज गये। थोड़ी-सी आँखें मीचीं। फिर उठ गया। स्नान किया। ध्यान को बैठा। प्रकृति अच्छी नहीं थी। कोई रोग नहीं था, फिर भी बेचैनी और पागलपन था। इसलिये सब दिशाओं को नमस्कार किया। सभी देवताओं को मन ही मन मनाया। सर्वत्र नमस्कार करके ध्यान को बैठा। ध्यान झट लग गया।

तन्द्रा आ गयी। वह रक्तज्योति पूर्ण रूप से अन्दर बाहर चमकने लगी। अंगों की कुछ क्रियाएँ हो गयीं। क्षणभर के लिये कण्ठ बन्द हो गया। मूलबन्ध और जालंधर बन्ध लग गये। फिर तुरंत खुल गये। अन्दर से एक अस्पष्ट ध्वनि सुनी। चित्तवृत्ति वहाँ स्थिर हुई। अब आनन्द ही आनन्द। लाल ज्योति के साथ साथ, बड़े अहमदाबादी बेर से भी बड़ा, अण्डे की आकृति का श्वेत ज्योति का एक गोला दिखायी देकर तुरंत अदृश्य हो गया। अब गुरुध्यान और गुरुपूजा नये अनुभव को लेके, प्रेम से होने लगी। मन ही मन याद आयी कि मैंने सभी देवी-देवताओं को मनाया था, इसलिये ध्यान अच्छा हो गया। झट से रक्तज्योति बदल गयी। उसका रंग थोड़ा भिन्न हो गया, परन्तु रहा लाल ही। अरे यह क्या? फिर वही नारी आयी। बस, मैं हैरान हो गया। वह अब बड़ा शृंगार किये हुए थी। क्या सुन्दर थी! मन बेचैन हो गया। तीव्र वेग से इन्द्रिय विकल हो गयी। आँखें खुलीं। वह बाहर भी दीखती। आख मीच लीं तो अन्दर दीखती। मेरी पहनी हुई लंगोटी फट गयी और उपस्थेन्द्रिय बलात् नाभि में लग गयी। नाभि-छिद्र में थोड़ी लग के रही। मुझपर यह कौन बलात्कार कर रहा था? मुझे पूरा पूरा होश था। ध्यान खुल गया। ध्यान करते समय मैं मलमल की एक लंगोटी मात्र रखता था। बाकी पूरे खुले बदन से ध्यान के लिये बैठता था। लंगोटी फट गयी यह देखते ही अत्यंत क्रोध आया। मस्तिष्क धुंधला हो गया। सुबह के पांच बजे थे। उठकर नयी लंगोटी पहनी। कुटी से बाहर आया। अब जहाँ मेरी पहचान न हो वहाँ जाने का मन में निश्चय किया। चित्त पूरा खराब हो गया था। 'अब मैं पागल होनेवाला अथवा कुछ अनर्थ करनेवाला हूँ', ऐसा सोचकर बाहर बैठा। अपने कर्म की याद करके मैं चिन्तित होने लगा।

प्रातःकाल हो गया। मैं झूले पर शांत बैठा था। सोचता था, 'कहाँ जाऊँ? यह दशा अच्छी नहीं। यह कोई साधना नहीं। न ही यह भगवत्कृपा है। यह कुछ हमारे पूर्वपाप का फल है।' ऐसा सोचते सोचते तन्द्रा आ गयी तो मैं अन्दर चला गया। पुनः ध्यान में बैठ गया। एक ही क्षण में ध्यान लग गया। अब फिर से सिंह-गर्जना होने लगी। मेरी जिह्वा पूरी बाहर निकल आयी थी। आधे घण्टे तक सिंह-गर्जना होती रही। मैं भयभीत होता जा रहा था। पौन घण्टे में ध्यान खुल गया। अब वह कामभाव

नहीं था। परन्तु एक से जरा बचा तो दूसरा आ गया। कहा जाता है कि आकाश से गिरा, खजूर में अटका। अब सिंहभाव से मन में ग्लानि और भी बढ़ गयी। निश्चय कर लिया, अब यहाँ से जाना ही चाहिये। ये अनेक प्रकार की भाव अवस्थाएँ सिद्धयोग की, सिद्धकृपा की दिव्य क्रियाएँ थीं। परन्तु न जानने से सुख के बदले भ्रान्ति हुई। अस्तु।

थोड़ी देर में अपने बगीचे में एक तांगा आते देखा। आगे तांगेवाला बैठा था। पीछे न जाने कौन व्यक्ति था; उसका मुझे पता नहीं था। तांगा आम्रवृक्ष के निकट आया। उसमें से कोई उतरा। देखा तो वह हरिगिरि बाबा थे। वे एक महान सिद्धयोगी अनोखे अवधूत थे। मन आनन्द से भर गया। मैं झूले से उठके खड़ा हो गया। उन्होंने वहाँ से ही पुकारना शुरू कर दिया, "हे राजा! हे महाराजा! ओ स्वामी! उठा उठा।" ऐसा कहके वे खिलखिलाकर हँसने लगे। वे महात्मा पूर्ण सर्वज्ञ थे। सतत हँसते ही रहते थे। पाँव में अच्छे जूते, एक कोट के ऊपर दो चार कोट, एक रेशमी साफ़ा पहनकर नदी किनारे फिरते रहते। जहाँ भी भूख लगती वहाँ "दे दो, खाने को दे दो" ऐसा कहकर भोजन खाते। खाते ही हाथ धोकर वहाँ से चल देते। वे पिशाच वृत्ति के महात्मा थे। नदी में से छोटे छोटे गोल पत्थर इकट्ठे करते। कभी एक पत्थर को देखते तो कभी दूसरे को। देखते देखते कहते, 'हाँ....हाँ मंगल, तू दो लाख का है।' ऐसी अपने आप बातचीत करते और अकेले फिरते रहते। वे भारी वेग से चलते थे। रात को दो बजे नदी किनारे जाते। प्रातःकाल आते। बोलने पर कुछ ऐसा बोलते जिसे समझना बड़ा कठिन होता था।

हरिगिरि बाबा आगे आये। मैंने नमस्कार किया। हरिगिरि बाबा से मेरा बड़ा प्रेम था। वे भी मुझ से प्रेम करते थे। मैंने कहा, "बाबा! मेरी दुर्दशा हो गयी है। मेरी स्थिति कुछ अच्छी नहीं।" उन्होंने कहा "मला माहीत आहे, दोन रुपये देशील तर सांगेन." (मुझे मालूम है। यदि दो रुपये देगा तो बताऊँगा।) मुझे उनका मज़ाक उड़ाने का स्वभाव मालूम था। जब भी वे आते, कुछ पूछने पर पैसे मांगते। अब भी मांगे। मैंने दो रुपये दे दिये। हरिगिरि बाबा मराठी भाषा में बोलते थे। वे बोले, "अरे महाराजा, तुझी गति चांगली आहे, तुझे चांगले होणार आहे, तू देव बनशील, तुला हितज्वर झाला आहे, तुझ्या ज्वराच्या संसर्गाने फार लोकांचे रोग आणि दुःख

जाईल. तुला फार लोक भेटतील." (तुम्हारी स्थिति अच्छी है। तुम्हारा अच्छा होनेवाला है। तुम देव बनोगे। तुमको हितज्वर हुआ है। तुम्हारे उस ज्वर के संसर्ग से बहुत लोगों का रोग और दुःख मिट जायेगा। तुमको बहुत लोग मिलेंगे।) ऐसा कहकर वे चल दिये। थोड़ी दूर तक मैं उनके साथ गया। कहने लगे, "जा जा, गेल्यानेच येऊं शकशील. घाबरूं नकोस." (जाओ जाओ। जाने से ही आना होता है। डरो मत) यह कहकर चले गये। आसपास के लोग 'हरिगिरि बाबा आया' कहते हुए दौड़ने लगे।

मैं वापिस लौटा। फिर झूले पर बैठा। पुनः मन की भ्रान्ति जाग उठी और वही प्रातःकालीन विकारभाव याद आया। वह सिंहभाव भी याद आया। मन की भ्रान्ति बढ़ती चली। कारण, मन का यह धर्म है कि जिसका वह पूर्ण चिन्तन करता है वैसा ही वह बन चाता है। मन जिसका मनन करता है उसमें ही पूर्णतया मिलकर वह उस रूप को धारण करता है। मेरा एक प्रिय काव्य है :

जो मन नारिकि ओर निहारत, तौ मन होतहि ताहिकु रूपा।
जो मन काहुसूँ क्रोध करै पुनि, तौ मन है तबही तद्‌रूपा॥
जो मन मायहि माय रटै नित, तौ मन बूड़त मायके कूपा।
सुन्दर जो मन ब्रह्म विचारत, तौ मन होतहि ब्रह्मस्वरूपा॥

'जो मन रातदिन तन्मय होके नारी का चिन्तन करता है, वह मन नारी का रूप प्राप्त कर लेता है; जो मन क्रोध करते करते अपने अन्तर के सभी रक्तकणों को क्रोधरूप बना लेता है, वह क्रोध की अग्नि में जलता रहता है। जिसका मन सतत माया का चिन्तन करता है, वह माया के गढ़े में डूब जाता है। और जो मन अपने हृदय में परब्रह्म परमेश्वर का चिन्तन करता है, वह मन परब्रह्म में समाकर पूर्ण ब्रह्म हो जाता है।' यह महान तत्त्वनिष्ठ महात्मा कवि सुन्दरदास जी का कथन है और पूर्ण सत्य है।

मेरे मन को उन दोनों भ्रमों ने पूर्णतया घेर लिया था। विचार किया कि मैं सम्मान से बहुत काल तक खेला रहा हूँ। मैं एक स्वाभिमानी पुरुष था। मैंने सोचा, 'अब अपनी इस दुर्दशा का पता क्यों उन लोगों को लगने दूँ? जंगल में दूर चला जाऊंगा जहाँ मुझे कोई पहचानने वाला न हो।' मैंने तत्क्षण वहाँ से चले जाने का निश्चय कर लिया। मैं उठा।

अपने प्यारे गुरुदेव के पूजा के फोटो को गले लगाया और कहा, 'क्षमा करो। क्या करूँ। मैं अभागी हूँ। तुम पूर्ण दाता हो।' प्यारे गुरुदेव को अनन्त नमस्कार किये। फोटो रख दिया। कुटी को देखकर कहा, 'प्यारी कुटी, न जाने फिर कब मैं तुमको मिलूँगा। तुमसे ही मैंने बहुत काल तक सुख पाया। तुमको नमस्कार।' झूले को स्पर्श किया। उसे भी नमस्कार किया। अपने प्यारे मित्र आम्रवृक्ष को आलिंगन किया और कहा 'तुम्हारी छाया में बहुत दिन रहा। क्या करूँ? अब लाचार हूँ। अब तुम्हें छोड़कर जाना ही चाहिये।' फिर कुटी के अन्दर गया। गेरुए कपड़े उतार दिये। उनकी गठरी बांध कर बाहर वृक्ष के ऊपर टाँग दी। इसलिये कि मैंने सोचा कि मेरे संन्यासधर्म को बट्टा नहीं लगना चाहिये। बाद में बहुत काल तक मैं सफ़ेद वस्त्र ही पहना करता था। कुटी का दरवाज़ा खुला छोड़ दिया। एक लंगोटी पहनी हुई थी। एक शाल कन्धे पर थी, हाथ में कमंडलु लिया और किसी से कहे बिना पूर्वमुखी होकर चल दिया। थोड़ी दूर पहुँचा, वहाँ से कुटी दिखायी देती थी। फिर एक बार उसे नमस्कार किया। मन अत्यंत दुःख और पश्चात्ताप की भावना से भरा था। चलते चलते पहाड़ों की ओर चल दिया, जिधर सह्याद्रि पर्वत का कुछ भाग है। पहाड़ों के बीचों बीच चलते चलते आगे बढ़ा। मेरा बहुत दूर जाने का निश्चय था। तदनन्तर शरीर कहीं भी सहज में गिर जाये, तो हर्ज नहीं।

चलते चलते दौलताबाद से श्रीक्षेत्र घृष्णेश्वर होता हुआ नागद पहुँचा और सह्याद्रि के एक शिखर पर खड़े होकर उत्तर की ओर देखा। वहाँ से नीचे मुसम्बी-सन्तरों का एक बड़ा बगीचा दिखायी दिया। गन्ने और आम के भी छोटे मोठे बहुत बगीचे थे। भूख बहुत पीडित कर रही थी। मैं वहाँ से चला और एक बगीचे में पहुँचा। वहाँ एक बड़ा सम्पन्न किसान था। उसने योग का अभ्यास किया था और साधुसंतों का भी वह बड़ा प्रेमी था। उसका नाम था दगडूसिंग। उसने पास आकर मेरी पूछताछ की। वह मुझे अपने साथ ले गया। बहुत प्रेम से उसने मेरे लिये खिचड़ी बनवायी। मैंने इधर उधर देखा तो एक छोटी-सी साधन-कुटी पर मेरी दृष्टि पडी। वहाँ पहले कोई योगी साधना करता था। दगडूसिंग ने मेरे लिये उसमें ठहरने की व्यवस्था कर दी। मैं अन्दर बैठ गया। बैठते ही पद्मासन लग गया। ध्यान

शुरू हो गया। वह मेरी प्यारी रक्तज्योति सामने उपस्थित हो गयी। मेरे अन्दर से एक आवाज़ आयी : 'उस अलमारी को खोलो और उसमें रखा हुआ ग्रन्थ पढ़ो।' मैंने पहले तो इसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, प्ररन्तु जब यह आवाज़ दूसरी और तीसरी बार आयी तो मेरा ध्यान भंग हो गया। मैंने देखा कि वहाँ एक पुरानी अलमारी थी। उसके अन्दर एक ग्रन्थ था। उसको निकालके खोला। वह उसी पृष्ठ पर खुला जहाँ कि जो क्रिया मुझे होती थी, उसके विषय में वर्णन था। उसे पढ़कर परम सन्तोष हो गया। एक ही क्षण में सर्व ताप मिट गया। मेरा भ्रम दूर हुआ। चिन्ता हट गयी। समझ में आया कि जो कुछ मुझे हुआ था वह गुरुदेव भगवान श्रीनित्यानन्द की पूर्ण कृपा का फल था। सिद्ध महायोग की एक क्रिया थी। परमार्थ यात्रा थी। मन का समाधान पाकर मैंने बहुत सन्तोष से खिचड़ी खायी। बाद में मुझे बहुत अच्छी निद्रा आ गयी।

कुछ काल तक मैं नागद में ही साधना करते रहा। अब समझ में आया कि कामभाव की जो क्रिया हो रही थी, उससे ऊर्ध्वरेता बनने का सम्बन्ध था। ऊर्ध्वरेता होने के बल से ही शक्तिपात करने की सामर्थ्य आती है। वह क्रिया तो सदा के लिये कामभाव नष्ट करने के लिये हो रही थी। स्वाधिष्ठान चक्र का वेध होने पर कामभाव उत्तेजित होता है। परन्तु साधक को ऊर्ध्वरेता बनाने के लिये और सदैव के लिये उसके कामविकार को सर्वथा नष्ट करने के लिये ऐसा होता है। जब मैं इस तथ्य को समझा कि वह क्रिया बड़ी महान थी, बड़ी महत्त्वपूर्ण थी तो बहुत खुश हुआ। अब क्या लिखूँ ! वह पहला आनन्द पुनः उदित हो गया। वह माता, जो ध्यान में वस्त्रहीन रूप में दिखायी देती थी, मेरे अज्ञान के कारण, मेरे भ्रमयुक्त मन के कारण ही इतनी कष्टकारी हुई थी। वह तो महादेवी कुण्डलिनी थी। मैंने माँ से क्षमा मांग ली। स्तोत्रपाठ किया। फिर वहाँ ध्यान बहुत अच्छा होने लगा।

अब दूसरे दिन भी वह मातुश्री कुण्डलिनी रक्तज्योति में आकर खड़ी थी। अब उसका सौंदर्य परम दिव्य दिखने लगा। वह अति ही प्रियदर्शनी पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति थी। उसको देखते ही मैंने अपने भाग्य को सराहते हुए नमस्कार किया। नमस्कार करते ही वह पारमेश्वरी रक्तवर्णीय ज्योति में समा गयी। अब वही शक्ति मेरी गुरु थी। मुझ ज्ञानहीन के नंगे

हृदय को वह नंगी दिखायी दी थी। उस देवी को महाशक्ति कुण्डलिनी न समझने के कारण मुझमें वह कामभाव उदित हो गया था। मैं उसको 'भवरूपा' याने संसार की साधारण नारी ही समझा था। वह पीड़ा उस अज्ञान का ही फल था। अब सब पीड़ा मिट गयी थी।

नागद का स्थान एकान्त, रमणीय था। ध्यान की मात्रा भी स्वयमेव बढ़ती गयी। ध्यानयोग के सहायक ग्रन्थ, जिनमें कुछ अनुभवयुक्त वर्णन था, जैसे कि 'महायोग विज्ञान' उनका अध्ययन किया। ऐसे ही अन्य ग्रन्थ—'योगवाणी', 'शक्तिपात' आदि अध्ययन के लिये मैंने मंगवाये। वस्तुतः शैव-सिद्धान्त में महायोग का विशेष महत्त्व है। 'शिवसूत्र', 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्', 'तन्त्रालोक', 'शिवदृष्टि' वगैरह ग्रन्थों में शक्तिपात, सिद्धकृपा, श्री माँ कुण्डलिनी के क्रियाविलास आदि के विषय में अनुभवी महापुरुषों के लिखे हुए कथन हैं।

यौगिक क्रियाएँ

अब मेरा योग का अभ्यास बड़े वेग से बढ़ रहा था। एक तो दिव्य शक्तिपात, दूसरे महासिद्धकृपा, तीसरे परमात्म-प्राप्ति की पूर्ण अभिलाषा—सब एकत्रित हो गये थे। एक बात की ही कमी थी—'***शक्तिपात के पश्चात् किस प्रकार की कैसी-कैसी यौगिक क्रियाएँ होती हैं और क्या क्या अनुभव होते हैं, इसका ज्ञान पहले नहीं था।***' अब यह विषय भी कुछ ग्रन्थ मिल जाने से पूरा समझ में आ गया। फिर बाकी क्या रहा? मेरी साधना महानदी की उग्र बाढ़ के तीव्रवेग के समान बढ़ने लगी। रोज़ रोज़ नयी नयी क्रियाएँ होतीं। प्रातःकाल ही तीन बजे ब्राह्ममुहूर्त में उठकर ध्यान करता। ध्यान में बैठते ही एक वेग आता। वेग आते ही रक्तेश्वरी चमक उठती। रक्तेश्वरी में अण्डाकृति एक नया श्वेत गोला दीखता, चला जाता, फिर दीखता और फिर चला जाता। तदनन्तर रक्तेश्वरी पूर्ण रहती। श्रीगुरु-पूजा मस्ती के साथ होती। अन्दर बाहर गुरुपूजा करते करते चित्त का पूर्ण निरोध हो जाता। **त्रिबन्ध** स्वयं ही लग जाते। मेरी पाँव की एड़ी गुदामूल से लग जाती। उसे ज़ोर से दबाकर संकुचित कर देती। इस प्रकार अपान वायु ऊपर की ओर खिंच जाती। यह क्रिया **मूलबन्ध** कहलाती है। यह प्राण और अपान को सम करती है और बुढ़ापा, रोग आदि का नाश

करती है। साधक पद्मासन में बैठकर इसी मुद्रा द्वारा प्राण पर विजय पाकर शून्य में स्थित होने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। इसी मुद्रा में दार्दुरी गति अर्थात् मण्डूक-क्रिया होती है।

उसी के साथ साथ अन्दर से प्राणवायु बाहर निकल जाती और पेट पीछे की ओर खिंच जाता। इस प्रकार पेट पर एक छोटा-सा गढ़ा-सा बन जाता। तब ऐसा लगता था कि नाभि के नीचे की वायु ऊपर की ओर खिंच रही हो। इस क्रिया का नाम है **उड्डियान बन्ध**। हठयोग के ग्रन्थों में उड्डियान बन्ध की बड़ी महिमा कही गयी है। यहाँ तक कहा गया है कि इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इससे नाड़ी-शुद्धि और प्राण-शुद्धि होती है। नाड़ी-शुद्धि होने से जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है। प्राण की शुद्धि मन की चंचलता को नष्ट करके उसे स्थिर बनाती है। अब इसके बाद की क्रिया में मेरी ठोड़ी कण्ठकूप पर ज़ोर से दबाव डालते हुए लग जाती थी। इसको **जालंधर बन्ध** कहते हैं। जालंधर बन्ध बड़े महत्त्व का है। सहस्रार से जो अमृत की बूँदें टपकती हैं, उन्हें नाभिचक्र में स्थित सूर्य और अग्नि जला डालते हैं। इस बन्ध से अमृत रस का नीचे जाने का मार्ग बन्द हो जाता है; सो अग्नि उसे भस्म नहीं कर सकती। इस मुद्रा की सहायता से योगी का मन शीघ्र ही मूर्च्छा याने स्तब्धता को प्राप्त करता है। ये **त्रिबन्ध**—मूल, उड्डियान, जालंधर—महान फल देनेवाले हैं।

धीरे धीरे मेरे प्राण अपान सम हो गये। मेरा पद्मासन भी पूर्णरूप से सिद्ध हो गया। कहते हैं कि योगी यदि लगातार तीन घण्टे तक एक आसन में बैठे तो उसे आसन-सिद्धि हो जाती है। त्रिबन्ध लगने पर मैं पद्मासन सहित मण्डूक-क्रिया करता था अर्थात् मेंढक के समान ध्यान-कुटी में एक स्थान से दूसरे स्थान पर कूदता रहता। अब कुछ भी क्रिया होती तो आनन्द आता था। ध्यान में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा इत्यादि अनेक प्रकार की मुद्राएँ होतीं। कभी बायीं या दाहिनी एड़ी द्वारा गुदामूल को दबाता। दाहिना या बायां पाँव फैलाकर दोनों हाथों से फैले हुए पाँव के अंगूठे और अंगुलियों को मजबूती से पकड़ लेता और अपना सिर दोनों हाथों के बीच में रख देता। यह **महामुद्रा** है। इस मुद्रा से कुण्डलिनी संतप्त होकर प्राणवायु के साथ सुषुम्ना में प्रवेश करती

है। इससे सभी नाड़ियाँ क्रियाशील हो जाती हैं और शरीर की जड़ता चली जाती है। इससे बिन्दु-धारण भी होता है। शरीर शांत, जठराग्नि तीव्र, देह कान्तियुक्त और इन्द्रियाँ संयमित होती हैं। बुढ़ापे को भी दूर करती है। इसके सतत अभ्यास से क्षय, कुष्ट, अर्श, भगन्दरादि गुह्य रोग, गुल्म और अजीर्ण नष्ट होते हैं। कभी कभी बायां या दाहिना पाँव मोड़कर दाहिनी या बायीं जांघ पर रख लेता। पेट में हवा भर जाती। जालंधर बन्ध लग जाता और श्वास रुक जाता। फिर धीरे धीरे वायु निकलती थी। इसको **महाबन्ध मुद्रा** कहते हैं। इसके अभ्यास से प्राण सुषुम्ना में जाता है, शरीर मजबूत होता है और अस्थिपंजर दृढ़ होता है। फिर **महावेध बन्ध** हो जाता था, अर्थात् महाबन्ध की अवस्था में उड्डियान बन्ध हो जाता। प्राण पूरा बाहर ठहरता और **बाह्य कुम्भक** हो जाता। इस बन्ध के द्वारा भी प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करता है। तीनों ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रंथियों का भेदन होता है। कुण्डलिनी सहस्रार तक आने जाने लगती है। इससे प्राणसिद्धि होती है और जरा का नाश होता है। कभी कभी मैं धरती पर दोनों हथेलियाँ ऊपर की ओर रखकर उन पर मस्तक रख दोनों पांव ऊपर लम्बे उठाकर स्थिर रहता। यह **विपरीतकरणी मुद्रा** या **शीर्षासन** कहलाता है। इसके अनेकों लाभ हैं। जठराग्नि बढ़ती है। शरीर की झुर्रियाँ और बालों की सफ़ेदी दूर होती है। इससे सहस्रार से टपकता हुआ अमृत नीचे की ओर बह जाने से रुक जाता है। बुढ़ापा नष्ट होता है। कभी इसी अवस्था में दोनों हथेलियाँ नीचे की ओर हो जातीं और मैं दोनों हाथों के बल पर उठकर स्थिर हो जाता, मेरा मस्तक बीच में लटक जाता। यह है **वज्रोली मुद्रा**। इससे बिन्दुसिद्धि अवश्य होती है। बिन्दु का बहना या गिरना बन्द हो जाता है और बिन्दु धारण करने की सामर्थ्य आ जाती है। इससे साधक दीर्घायु बनता है।

फिर अनेक प्रकार के प्राणायाम होने लगे, जिनमें से कुछ का वर्णन यहाँ करता हूँ। कभी मुँह किंचित् **भुजंगिनी मुद्रा** में फैलाकर वायुपान करता। कभी जिह्वा ऊपर तालु में लग जाती और कुम्भक हो जाता। इस **नभोमुद्रा** से रोग नष्ट होते हैं और जिह्वा कपाल-कुहर में प्रवेश करने योग्य होती है और आगे **खेचरी मुद्रा** की क्रिया होती है। किसी समय जिह्वा को काक की चोंच के समान बनाकर वायु अन्दर की ओर खींच

लेता। यह है **काकी** या **शीतली मुद्रा**। इसके द्वारा दीर्घ जीवन मिलता है, रक्तशुद्धि होती है और गुल्म, ज्वर, पित्त आदि का नाश होता है। कभी कपाल भयंकर रीति से टपकने लगता था, और नेत्र ऊपर की ओर होकर भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर हो जाती थी। यह है **शाम्भवी मुद्रा**। इससे बड़ा आराम मिलता है। यह मन को स्थिर कर देती है। इसके द्वारा योगी शंभु समान होता है। मन भ्रूमध्य में स्थिर होकर आत्मचैतन्य स्थिति प्राप्त होती है।

अब सिंहभाव भी बहुत बढ़ गया था। इतनी ज़ोर से सिंहगर्जना होती कि थोड़ी दूर पर बंधी हुई गायें अपनी रस्सी तोड़के इधर उधर भाग जातीं। कुत्ते ज़ोर ज़ोर से भौंकने लगते। लोग दौड़ते। आकर देखते कि ये तो बाबाजी ही गर्जना कर रहे हैं। वे बड़ा आश्चर्य करते कि यह क्या बात है! अब मैं दर्शन देने न देने की बात भूल गया। कुण्डलिनी की महाक्रियाओं का बार बार दर्शन करता। रोज़ तीन बार ध्यान में बैठता। प्रातःकाल तीन बजे, दोपहर को ग्यारह बजे और सायं को सात बजे से नौ बजे तक। कभी कभी सर्पाकार होके टेढ़ामेढ़ा रेंगता। मेंढक के जैसे कूदता। बाघ जैसी गर्जना करता। इस तरह चिति भगवती के अलौकिक अंतर्भावों को देख देख कर मन अत्यन्त मन्त्रमुग्ध हो जाता था।

इस तरह रोज़ आसन में बैठते ही वही रक्तज्योति, फिर अण्डाकृति श्वेत गोला, जोकि अति ही सुंदर था, अधिकाधिक दीखने लगा। थोड़ा थोड़ा नित्यप्रति स्थिर होने लगा। अब ध्यान में एक नये प्रकार की निद्रा भी आने लगी। वे मेरी प्रिय गुरु, माँ कुण्डलिनी शक्ति, जिनको मैं पहले नग्नावस्था में देखकर डर जाता था, अब भी कभी कभी ध्यान में दर्शन देतीं। पर अब मैं ध्यान में मस्त रहता था। मैं तरह तरह की पुस्तकें मंगवाया करता था; क्योंकि ध्यान की अवस्थाओं को जाने बिना सन्तोष नहीं होता था।

मेरा एक और महापुरुष से परिचय था, जिनका नाम था जिप्रुअण्णा। वे महान सिद्धपुरुष थे। जिप्रुअण्णा नग्न दिगम्बर अवस्था में रहते थे और नशीराबाद गाँव की गलियों में फिरा करते थे। फिर भी सभी लोग उनको महात्मा मानते थे। छोटे-बड़े सभी उनको 'अण्णा' कहकर पुकारते थे। वे गिरे हुए मकान या टूटी-फूटी झोंपड़ी में, गाँव के जनों से दूर, निर्जन स्थानों में रहा करते थे। उन्होंने योग की ऊँची अवस्था प्राप्त की थी।

वे पूर्ण दूरदर्शी थे, क्योंकि उनको दूर की याने भूतभविष्य की बातों का पता लग जाता था। उनका शरीर योगाग्नि से इतना शुद्ध हो गया था कि बहुत गन्दे मैले में बैठने पर भी उनके शरीर को मैल नहीं छूता था। मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि उन महापुरुष ने अपने शरीर को भी कैसी अवस्था प्राप्त करा दी थी! जैसे योगियों का अन्तरात्मा मलरहित होता है वैसे ही जिप्रुअण्णा का शरीर भी मलरहित था। मैं पहली बार जब उनके दर्शन को गया तब वे एक ठिकाने में मलत्याग कर रहे थे। नज़दीक गया तो उस मल को वे अपने अंगों में मलने लगे। मैं पास में जाकर बैठ गया। उनके शरीर में से मल की दुर्गन्ध के बदले सुगन्ध आ रही थी! दूसरी बार दर्शन को गया तो देखा कि वे एक गन्दगी के ढेर पर बैठे हुए थे, फिर भी मल उनको छूता नहीं था। उनके पास जाने की मेरी हिम्मत नहीं थी। मैं दूर ही खड़ा रहा। थोड़े ही समय में वे उस ढेर से बाहर आ गये। मैंने उनके चरण धोये। अंगों से अष्टगन्ध के समान एक नयी सुगन्ध निकल रही थी। मेरे प्रति जिप्रुअण्णा जी का बड़ा प्रेम था। इस महापुरुष की गति और स्थिति पर अब भी मुझे भारी आश्चर्य होता है। मैंने उनसे पूछा, "अण्णा। क्यों इतनी गन्दगी में बैठते हो?" वे बोले, "मुक्तानन्द! अन्दर का जो मैला है, वह इससे भी अधिक गन्दा है। तुम सोचो, मनुष्य का शरीर मलमूत्र की पेटी नहीं है क्या?" यह सुनकर मैं चुप हो गया। ऐसे परम अवधूत शिरोरत्न जिप्रुअण्णा थे।

मैं अब उनसे मिलने गया; वे बड़े प्रेम से मिले। अपने अंगों को मेरे अंगों से सटाकर बैठे। मैंने सुकी की कुटी के अपने अनुभवों की बात कही। वे बोले, "वह महापुरुष का अनुग्रह, दीक्षा, कृपा वा शक्तिपात है। महाकृपा होने से ही ऐसी प्रक्रिया होती है। महदग्नि, भूत-पिशाच, यक्ष, नाग, किन्नर और परशिव के भूतगणों के दर्शन होते हैं। वे ही तुम्हें हुए हैं।" मैंने जब कामविकार के कारण हुई अपनी दशा के विषय में पूछा, तो बोले, "उपस्थेन्द्रिय का ऊपर उठके नाभि में लग जाना किसी विरले साधक को ही होता है। कारण यह है कि वह योग की महान पारमेश्वरी कृपा है। जननेन्द्रिय को साधारण मत समझो। वही सबके जननेवाली इन्द्रिय है। उससे ही पुरुष या नारी भाव आता है। नहीं तो मानव अर्थहीन षण्ढ कहलाता है। मानव की अति सम्माननीय जननेन्द्रिय को यथासाध्य

व्रतनियमों में रखना चाहिये। उस इन्द्रिय के ऊपर नाभि में लगकर कुछ समय रह जाने से अण्डकोष का सभी वीर्य ऊर्ध्व गति से हृदय की ओर बहने लगता है। तदनन्तर जठराग्नि में तपके ऊपर मस्तिष्क की ओर जाता है, जिससे मस्तिष्क के ज्ञानतंतु पुष्ट होते हैं। उसके बल से योगी महा-स्मृतिवान और मेधावी बन जाता है।" फिर उन्होंने कहा, "अरे स्वामी! उसको पूर्ण ऊर्ध्वरेता कहते हैं। आगे इसके ही बलसे तुम गुरु होके अनुग्रह करोगे। जो तुम्हें वज्रोली नाम की क्रिया हुई है, उसी क्रिया से आगे तुम शक्तिपात करने योग्य अन्तरशक्ति संग्रह करोगे। तुम्हें जो कामपीड़ा हो गयी थी, उससे तो महाशक्ति कुण्डलिनी ने तुम्हारे पहले के सभी काम-रोग को निकाल दिया है। अब तुम में काम का नहीं, लेकिन प्रेम का स्फुरण होगा। तुम्हारी प्रेम की किरणपुंज कितनों को प्रेमी बनायेगी।"

फिर मैंने ध्यान में आनेवाली नग्न स्त्री के बारे में बताया। मैंने कहा, "ध्यान करने से पहले मैं शिवकवच पहनकर सब दिशा बन्द करके बैठता था। ऐसे स्थान में वह नंगी स्त्री कैसे आयी?" इस प्रश्न के पूछते ही बाबा जिप्रुअण्णा हुंकारते हुए चमक उठे। थोड़े गम्भीर स्वर में बोले, "अरे स्वामी! तुम्हारे अन्तर में, ध्यान की ज्योतिर्मयी नगरी में कौन प्रवेश कर सकता है? वह तो भगवती चितिशक्ति की महान तेजोमय भूमि है। वहाँ एक चिति, चितिमय देव और श्रीगुरु के अतिरिक्त और कोई नहीं जा सकता। तुम्हारी नारीभाव की जो समझ है, उसीने तुम्हें ऐसी भ्रान्ति करवायी। नंगी क्या? वस्त्रधारी क्या? भगवती सर्व प्रकार के रूप धारण करती है। उस नारी का दर्शन होते ही भगवती चिति शक्ति का स्मरण होकर तुम्हें उसकी ओर उस दृष्टि से देखना चाहिये था। वहाँ और किसीका प्रवेश नहीं। तुम्हारी ही भावना तुम्हें धारणा के अनुसार फल देती है। तुम अब से जो भी भाव कुभाव देखोगे, उन्हें चिति के ही रूप समझना। अन्तरहृदय की उस नग्न स्त्री को परम भगवती समझने से, वह दिव्य देहवाली हो जाती है। चिति शक्ति के अनन्त चमत्कार हैं। वह महान वेगवाली है। तुमने देखा होगा कि अन्तर में रक्तवर्ण के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु कितने वेग से दौड़ते हैं। उनमें बसने वाले अनन्त लोकों की गति तुम आगे देखोगे। वह चिति शक्ति अनन्त रूपों को क्षणार्ध में धारण करनेवाली, एक ही में अनन्त आकृतियों को दिखानेवाली, महामाया, योगमाता कुण्डलिनी है।....

अरे स्वामी, जो जो हुआ, अच्छा हुआ। आगे जो जो होगा, वह भी अच्छा होगा। सदैव कुण्डलिनी के स्वरूप को और स्वभाव को याद रखो।"

"और एक बात सुनो। सिद्धमार्ग का योगी इस बात को पूर्णतया याद रखे कि अन्तरहृदय की चितिप्रेरित ज्योति में समय समय पर ऊँच-नीच, अच्छा-बुरा, ग्राह्य-त्याज्य, दर्शनीय-अदर्शनीय, मंगलप्रद-अमंगलकारक जो भी दीखे, वह पूर्णतया चिति ही है। चिति बिना वहाँ कोई कुछ बन ही नहीं सकता। वहाँ के अनन्त रूप और क्रियाएँ, चाहे तुम्हारी दृष्टि में कुछ भी क्यों न हों, पूरी पूरी भगवती चिति हैं।" यह महाबोध सुनते ही मैं 'जिप्रेश्वर' के पांव में गिर पड़ा। क्या बोध! क्या सत्य! क्या यथार्थ दर्शन कराया! "ओ मेरे बाबा," कहकर मैंने उन्हें आलिंगन कर लिया। उन्होंने मुझे अपनी गोद में बैठा लिया। मेरा सिर चाटा, उस पर हाथ फिराया और कहा "तुम्हारी बेल आकाश तक पहुँचेगी।" उन दिनों मुझे भारी सिरदर्द रहता था। उस दिन से वह पीड़ा भी मिट गयी। जिप्रुअण्णा ने मेरी सभी समस्याओं का निवारण किया। मुझे उनके प्रति बहुत श्रद्धा, निष्ठा, पूर्ण भाव और गुरुतुल्य प्रेम था। उन्होंने ही मुझे भगवान नित्यानन्द के पास भेजा था। कहा था, "तुम्हारा काम उनके पास ही पूर्ण होनेवाला है। वहाँ तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है।" अस्तु।

मेरे प्यारे सिद्धयोग के विद्यार्थियो। एक बात सावधानी से सुनो। एक बार श्रीगुरुकृपा हो गयी कि तदनन्तर तुम्हें कोई भय नहीं करना चाहिये। मात्र एक बात पूर्ण याद रखो कि *सिद्धयोग में गुरुआज्ञा का पूरा पूरा पालन करना चाहिये।* 'गुरुवाक्यमेव केवलम्' यह महत्त्व का ज्ञान अपनी समझ में रखना चाहिये। 'अण्णा' के कथन का पूरा ध्यान रखो कि अन्तरहृदय के सूक्ष्म स्थान में इतनी बड़ी स्त्री कहाँ से आ सकती है? तुम्हारा मन्त्र-तन्त्रप्रेरित जो दिग्बन्ध कवच है क्या उसमें साधारण नारी का प्रवेश हो सकता है? चितिमयी कुण्डलिनी के उदय होते ही रक्तज्योति में तुमको सब कुछ दिखेगा। वह दर्शन क्या चिति की इच्छा बिना हो सकता है? सोचो। याद रखो। हृदय में अति ही सूक्ष्म स्थान है। उस स्थान में कुण्डलिनी के बिना और कोई नहीं जा सकता। इसलिये तुमको जो कुछ हो, जो कुछ दिखाई दे या जो क्रियाएँ हों, उन सब को पारमेश्वरी चिति का पूर्ण प्रसाद समझो और उन सब को उसको अर्पण कर दो।

ऐसा जानो कि जो हुआ इसमें मेरा पूर्ण हित ही था। और जो जो भाव चिति धारण करती, जो जो क्रिया चिति कराती, जो जो रूप, रंग, गति चिति दिखाती, उस प्रत्येक को चितिरूप समझ कर उसे मन ही मन प्रणाम करो। ऐसा करने से तुम तुरंत शांत हो जाओगे। यदि उसे कुछ अन्य समझोगे तो मुक्तानन्द की तरह पश्चात्ताप करोगे।

जिप्रुअण्णा के पास से लौट आने पर मैंने अपनी साधना नागद की प्रिय कुटी में श्रद्धा के साथ शुरू कर दी। उच्च ध्यान होने लगा। लाल ज्योति के मध्य में, लम्बे गुलाबजामुन के आकार का एक श्वेत गोलाकार दीखने लगा। अब वह बहुत समय तक ठहर जाता था। 'औट हात' रक्तेश्वरी के मध्य में अंगुष्ठ-प्रमाण श्वेत ज्योति दीखने लगी। मैं देखता था कि वह लाल ज्योति से घिरी हुई थी। ध्यान में मेरी रुचि बढ़ने लगी। उसमें जो भी दीखता, उसे चिति पारमेश्वरी समझता। मन ही मन उसे नमस्कार करता।

अब आनन्द की मात्रा भी बढ़ी। कभी कभी मन नाचने को करता। न जाने नृत्य करने की इतनी इच्छा क्यों होती थी? अंग-प्रत्यंगों में नर्तन भाव स्फुरता और इसीके साथ लाल ज्योति दीखती। साथ साथ अंगुष्ठ-प्रमाण सफ़ेद ज्योति भी दीखती। अब बाह्य शरीर की क्रियाएँ भी खूब ज़ोर से होने लगीं। हठयोग की मुद्राएँ, आसन इत्यादि खूब होने लगे। तदनन्तर रक्त तेज के मध्य स्वर्ण आकाश का महातेज, रजत आकाश का शुभ्र तेज, दीखने लगा। मेरा देखा हुआ हिमालय भी नज़र आने लगा। हिमालय के नये नये शिखर भी दीखते। इस प्रकार एक नया अन्तरचक्षु मिला। वह अन्तरचक्षु क्या था उसका मुझे पता नहीं था। यही चक्षु उस 'औट हात' में कई स्थानों को देखता था। यह 'औट हात' रक्तज्योति व्यष्टि में (३$\frac{१}{२}$) साढ़े तीन हाथ है। परन्तु समष्टि में पूर्व से पश्चिम तक, उत्तर से दक्षिण तक तथा ऊपर से नीचे तक है। इसी में समस्त ब्रह्माण्ड स्थित है।

मुझे अब आसन इत्यादि हररोज़ नहीं होते थे, एक या दो दिन छोड़कर होते। ध्यान में हमारे भारत के कुछ पुण्य क्षेत्रों के दर्शन होते। ध्यान में एक और अवस्था आयी थी, जिसमें रक्तवर्ण ज्योति एवं श्वेत ज्योति के साथ साथ एक अनन्त और व्यापक प्रदेश दिखायी देने लगा। पर्वतों' की शृंखलाएँ, गिरियों के अन्तर्गत वन-उपवन सभी दीखने लगे। ध्यान भी

होता और ध्यानोत्तर दृष्टान्त भी। जो हो रहा था, उसका मुझे ज्ञान भी था; साथ साथ आनन्द भी।

अब शरीर पतला होने लगा, लेकिन उसकी ताकत बढ़ती गयी। शरीर शुद्ध होते चला। कभी थोड़ा-सा बुखार आता, तुरंत मिट जाता, सरदी भी हो जाती, लेकिन तुरंत मिट जाती। कभी कभी अतिसार का भी कोप होता, तुरंत मिट जाता। उस समय जो भी रोग होता वह ध्यान करते करते ही मिट जाता।

अब पता लगा कि स्थूल देह जिसका वर्णन हम वेदान्त में पढ़ते हैं, यही रक्तवर्ण ज्योतिरूप देह है, जिसमें सभी क्रियाएँ होती हैं, जो ॐ कार की प्रथम मात्रारूप 'अकार' है, जिस शरीर का देवता 'विश्व' है, जिसमें जागृति अवस्था है, जो स्थूल भोगों और स्थूल कर्मों का कारण है, ज्ञानहीन मनुष्य जिसको 'मैं देह हूँ' ऐसा समझता है, क्योंकि वह अन्तरात्मा की दृष्टि से, द्रष्टाभाव से सर्वथा दूर है। जिस प्रकार घट को जो 'यह घट' करके जानता है, वह घट से भिन्न होता है; या मोटर को जो 'यह मोटर' करके जानता है, वह मोटर में बैठे हुए भी मोटर नहीं है, मोटर से भिन्न है; ठीक उसी प्रकार रक्तवर्ण 'औट हात' ज्योति में रहते हुए, 'औट हात' के साक्षी, 'औट हात' को 'इदम्' करके जाननेवाला 'औट हात' से भिन्न शुद्ध परमात्मतत्त्व ही है, जो ध्यान का लक्ष्य है।

वस्तुतः जड़-चेतन की व्याख्या का कुछ अर्थ ज्ञानप्राप्ति से पूर्व ही रहता है। क्योंकि ज्ञानोत्तर द्रष्टा और दृश्य एक ही परम चैतन्य, पराशक्तिरूप हैं। स्थूल में मिलकर स्थूल जैसा भासने वाला, वह द्रष्टा पुरुष सभी का आत्मा है, जिसको शास्त्र 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' कहते हैं। श्रीगुरुकृपा से जागी हुई कुण्डलिनी शक्ति, बहत्तर हजार नाड़ीसमुदाय में प्रवेश करके, रक्तवाहिनी, प्राणवाहिनी आदि सभी नाड़ियों का शुद्धिकरण करते करते सभी नाड़ियों को बल देते देते, सभी नाड़ियों में प्राणशक्ति संचारित करते करते काया को एक नया रूप देते हुए, नित्य नये नये कार्य करती रहती है। मेरुदण्ड के मध्य सुषुम्ना-नाल में प्रवेश करके चक्रों का भेदन करती हुई, वहाँ की गति को अपने वेग से बदलती हुई काया को परमार्थपथ के अनुकूल बना देती है। सिद्धविद्या का साधक याद रखे कि यह पराशक्ति आप के संसार को भी सुव्यवस्थित बना देती है। आप के बालबच्चों का, आप के जीवन में

आवश्यक सभी चीज़ों की प्राप्ति में और उनके रक्षण में, पराशक्ति सहायता करती है। जो भी कार्य सामने आता है, उसका समयोचित ज्ञान देती है। यद्यपि शास्त्रज्ञों ने संसार और परमार्थ, ऐसे दो विभाग किये हैं, तथापि जहाँ पूर्ण ज्ञान हो जाता है, वहाँ दोनों एक बन जाते हैं। यह जगत चिति-विलास होने से, चिति-पूरित होने से, चिति से भिन्न न होने से, चिति-कार्य होने से, अनादिकाल से आगे अनन्त काल तक चिति के ही नये नये रूप धारण करते हुए रहने से, पराचिति का ही रूप है। यह बात सिद्धविद्यार्थी कभी नहीं भूलें। जड़, शून्य, नश्वर, दृश्य आदि जो भी भाव या विभाग हैं, वे तबतक ही हैं जबतक पूर्णज्ञान नहीं। पूज्य तुकाराम महाराज कहते हैं : मैंने ध्यान करके अन्तरशक्ति से प्राप्त अनुभव द्वारा देखा तो पाया कि सब कुछ परमेश्वर स्वयं ही है। उन्होंने अपने एक अभंग में कहा है :

रक्त श्वेत कृष्ण पीत प्रभा भिन्न। चिन्मय अंजन सुदलें डोळां ॥ १ ॥
तेणें अंजनगुणें दिव्यदृष्टि झाली। कल्पना निवाली द्वैताद्वैत ॥ २ ॥
देशकालवस्तुभेद मावळला। आत्मा निर्वाळला विश्वाकार ॥ ३ ॥
न झाला प्रपंच आहे परब्रह्म। अहंसोहं ब्रह्म आकळलें ॥ ४ ॥
तत्त्वमसि विद्या ब्रह्मानंद सांग। तेंचि झाला अंगें तुका आतां ॥ ५ ॥

अर्थात् 'मेरे गुरु श्री बाबाजी की कृपा से प्राप्त हुई अनुभूति—रक्त, तदनन्तर श्वेत, तदनन्तर कृष्ण, तदनन्तर पीत ज्योति—से भी जो एक अलग प्रभा है, उस चिन्मयी, अति सूक्ष्म, दिव्य आत्म-प्रभा को मैंने देखा और वह चिन्मय अंजन मेरी आँखों में लग गया। वह लगते ही मैंने दिव्य दृष्टि पायी और द्वैत-अद्वैत की कल्पना नष्ट हो गयी। 'मेरी दृष्टि में जो देश, काल, वस्तु का भेद था, वह सब का सब निकल गया है। न देश है, न काल, न और कोई अन्य वस्तु है। न कुछ भेद है। मेरा आत्मा ही विश्वाकार में भासने लगा। जो विश्व है, जिसे जगत कहते हैं, वह आत्माकार होकर दीखने लगा। प्रपंच हुआ ही नहीं। जो है वह परब्रह्म ही है। 'अहम् सोऽहम्' को 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—ऐसा प्रत्यक्ष (अपरोक्ष ज्ञान) अनुभव पा लिया। जो वेदान्त की 'तत्त्वमसि' विद्या से प्राप्त है, जिसको ब्रह्मानन्द कहते हैं, वह मैं तुकाराम स्वयं ही हो गया।

जो साधनकालीन भिन्न भिन्न जगत है, वह अनुभूतिकालीन परमेश्वर है। तुकाराम जी का कथन है कि मैं स्वयं ही पूर्ण हूँ।' अस्तु।

हमें भी ध्यान द्वारा 'औट हात' रक्तज्योति के अनन्तर अंगुष्ठ-प्रमाण श्वेतज्योति में प्रविष्ट होकर उसी पूर्ण अनुभूति को प्राप्त करना है, जिससे सारे संसार में, संसाररूप में परमात्मा ही व्याप्त दिखायी दे।

चिति की साधना से संसार भी अच्छा होता है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। श्रीमत् शंकराचार्य कहते हैं :

सर्वोऽपि व्यवहारस्तु ब्रह्मणा क्रियते जनैः ।
अज्ञानान्न विजानन्ति मृदेव हि घटादिकम् ॥ ६५ ॥

अपरोक्षानुभूति

अर्थात् 'मनुष्यों के द्वारा जितना व्यवहार होता है, वह सब ब्रह्म ही की सत्ता से होता है, किन्तु वे अज्ञानवश यह नहीं जानते। वास्तव में घड़ा आदि सब मृत्तिका ही तो है।' जैसे मकड़ी के जाल को मकड़ी अपने में से ही तैयार करके, आप ही उसमें रमती है और आख़िर अपने में ही समा लेती है।

इस प्रमाण से सारा संसार चितिमय होने से, सारे संसार के जड़ पदार्थ चिति ही होने से, सारे संसार में चिति ही नरनारीरूप में रहने से, चितिशक्ति कुण्डलिनी जागृत होने से आपके संसार का भी भला होगा, यह कहना किंचित् भी अतिशयोक्ति नहीं। यह सत्य है कि आप अपने पति-पत्नी के साथ, अपने व्यवहार-विहार के साथ, अपनी संसार-यात्रा के साथ, पराशक्ति के कृपापात्र बनकर, संसार को सुखमय कर सकेंगे, आनन्दमय बना सकेंगे। अस्तु।

मेरे ध्यान की मात्रा दिन प्रतिदिन बढ़ते चली। रोज़-रोज़ नयी नयी अनुभूतियाँ होतीं। ध्यान में रक्तज्योति के ही किसी न किसी एक स्थान में मुझे ऐसा दिव्य नयन प्राप्त होता कि मैं सारे ब्रह्माण्ड को प्रत्यक्ष देखता। मैं वहाँ बैठे बैठे ही अपनी सुकी की कुटी को ध्यान में देखता। मेरे ध्यान की जो व्याप्ति थी, ब्रह्माण्ड उसके एक अंश में था। साधकजनो! आप आश्चर्यान्वित न हों। न सन्देह ही करें। आप को मैं आधुनिक जड़-विज्ञान का उदाहरण देता हूँ। वह तो आप के समक्ष ही है। आप उसे सत्य समझ

कर उपयोग में लाते हैं। आप अपने छोटे-से रेडियो से बम्बई से बहुत दूर किसी शहर में बैठे हुए बम्बई स्टेशन का वार्तालाप सुनते हैं। तुरंत ही चौथाई इंच के भी आधे भाग के ऊपर से सूई घुमाते हैं कि दिल्ली का स्टेशन आ जाता है और किंचित् आगे कलकत्ता आ जाता है। आप को इसका पूरा ज्ञान है। यदि 'वेव-बैंड' बदल दें तो शायद दिल्ली के ही स्थान पर अमेरिका या इंग्लैंड की ख़बरें सुनायी देंगी। अलग अलग शहर, अलग अलग देशों के शब्द एक ही इंच के अन्दर आ जाते हैं। यदि आप ऐसे जड़ द्रव्य की सहायता से, कुछ यान्त्रिक मदद से दुनिया भर की वार्ताएँ अपने घर में बैठे बैठे सुन सकते हैं, तो ध्यान में भिन्न भिन्न स्थानों की ख़बर मिलने में कौनसी रुकावट है? क्या आश्चर्य है? इतना ही नहीं। अब तो एक नया यन्त्र भी आ गया है–'टैलिविज़न' वह तो और भी आप की 'साइंस' को पुष्ट करता है। टैलिविज़न में तो खबरें बोलनेवाला तथा वह स्थान, जहाँ से खबरें आ रही हैं, सब दीखता है। फिर यदि अपनी अन्तर-ज्योति में सारा जगत दीखे तो उसमें कोई विशेष बात नहीं।

मेरा ध्यान-साधन हररोज़ बढ़ता जा रहा था। ध्यान में बैठते ही एक नये प्रकार की तन्द्रा लगती। अब पीत रंग की ज्योति दीखने लगी। कभी कभी किंचित् रक्त और श्वेत मिश्रित ज्योति भी दीखती। उस अति सुन्दर पीतज्योति को तन्द्रा में देखते देखते कुछ अन्य देशों को भी देखता। यह नयी अवस्था समाधि जैसी थी। परन्तु मेरी स्मृति पूरी बनी रहती। द्रष्टा-दृश्य भाव रहता। थोड़ा समय उस स्थिति में रहते ही बड़ा आनन्द आ जाता। मेरा सब श्रम नष्ट हो जाता। अब मैंने ध्यान की मात्रा को अर्थात् समय को बढ़ा दिया था। शरीर क्षीण होता जा रहा था। पाँव की पिंडलियाँ भी क्षीण हो रही थीं। सप्तधातु की शुद्धि हो रही थी। अन्न अब भी उतना ही खाता था। मलमूत्र घटते जा रहा था। मल इतना कड़ा होता जैसे लकड़ी हो। इसमें गन्दी बास भी कम हो गयी। पसीने में भी दुर्गन्ध कम होने लगी। शरीर जैसा था उतना ही मोटा दीखने पर भी, हलका, स्फूर्ति-युक्त हो रहा था। प्रेम भाव की मस्ती में कभी कभी बाग के एकांत में वेगपूर्ण नृत्य भी हो जाता था।

मेरा पद्मासन इतना पक्का होने लगा था कि अब मैं तीन तीन घंण्टे बैठने लगा। तदनन्तर जिह्वा की भी एक नयी, अनोखी क्रिया होने लगी।

कभी मेरी जिह्वा नीचे हृदय तक उतरती। कभी ऊपर तालु में लटक जाती। लेकिन ध्यानोत्तर ठीक हो जाती। ऐसी अब अनेक अलौकिक क्रियाएँ होने लगीं। तन्द्रा में बार बार दृष्टान्त होने लगे। साधन में धैर्य, गुरुदेव के प्रति निष्ठा और चिति में पूर्ण समर्पण के भाव आने लगे। ध्यान में कोई एक रूप आकर कहता, "तुम्हारी जिह्वा नीचे उतरकर योग के द्वारा हृदयकमल को खोलने का दिव्य कार्य करती है और यह जो ऊपर जाके तालु में लटकती है वह खेचरी मुद्रा है। यह तुमको उच्च स्थिति देनेवाली क्रिया है।" जिह्वा ऊपर लटकने से सहस्रार का मार्ग खुल जाता है। सहस्रार में सहस्र रश्मियों के मध्य विराजित परशिव से मिलने जाने के लिये जागृत महाशक्ति कुण्डलिनी की यह एक प्रक्रिया है। कभी कभी सभी चक्रों के देवताओं के और वहाँ की ज्योतियों के भी दर्शन होते। परन्तु ये सभी क्रियाएँ मेरे आधीन नहीं थीं। वे केवल पराशक्तिप्रेरित श्री गुरुकृपाप्रसाद से होती थीं। कभी कभी ध्यान में मुझे दोनों पाँवों के जड़ एवं प्राणरहित होने की अनुभूति होती थी, किन्तु ध्यानोत्तर पुनः पूर्ववत् हो जाता था।

मेरे आसनस्थ ध्यान में एक विशेषता थी। वह यह कि ध्यान लगे या न लगे, परन्तु मैं पूरे समय बैठता था। चित्त एकाग्र हो या न हो, आसन पर पूरा समय बैठा रहता। इससे मुझे बहुत सहायता मिली। मेरे प्यारे सिद्धविद्यार्थी याद रखें कि पद्मासन से बहत्तर हज़ार नाड़ियों की पूर्ण शुद्धि होती है। नाड़ीशुद्धि ही परम शुद्धि है। नाड़ियों में जब तक अशुद्धता, दुर्गन्धता, मल-विकार भरे दोषों का गन्दा मैल है तब तक क्या सुख है? साधकजन, आप इसे इस तरह समझें—यदि आप के रहने के घर के कोने कोने से और प्रत्येक कमरे से गन्दी बास आती हो, कीड़े-मच्छर भन-भन करते उड़ते हों, वायु के साथ नाली और संडास से आनेवाली दुर्गन्ध वातावरण को दूषित बना रही हो, तो क्या आप को सुखशांति प्राप्त हो सकेगी? वैसे ही यदि देह अति मलिन हो, तरह तरह के रोग-विकारों से युक्त हो, मुँह से अरुचिकर गन्ध निकलती हो, नाक से नज़ला या जुकाम सुरसुर करते हुए बहता हो, उसे साफ़ करने के लिये हर घण्टे दो चार नये रूमाल लगते हों, अन्दर से मल-संचय की बास आप के पास बैठे हुए को खराब लगती हो तो उस शरीर में आप को क्या सुख मिल सकता है? क्या

बाहर से लगाये जानेवाले 'सैंट' या सुगन्धित पदार्थ अन्दर की दुर्गन्ध को निकाल सकते हैं? क्या नट-नटियों की लाल पीली 'स्नो-पाउडर' और 'लिपस्टिक' आप को मनपसंद मुख-कान्ति दे सकेंगे?

याद रखो : 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' तीन घण्टे तक लगाये हुए पद्मासन से नाड़ीशुद्धि होती है। नाड़ियों की मलशुद्धि होते ही प्राण अपने आप शुद्ध हो जाता है। नैसर्गिक रीति से ही प्राणायाम होने लगता है। शक्तिपात साधना में श्रीगुरुदेवकृपा द्वारा ध्यान में प्राणायाम अपने आप ही होता है। स्नायुशुद्धि के पश्चात् प्राणशुद्धि होकर, अन्तःकरण की वृत्तियाँ भी शुद्ध हो जाती हैं। ऐसा होने से ध्यान की अवस्था ऊँची ऊँची होती जाती है। अतएव आसन का पूरा अभ्यास करो। अस्तु।

अब मेरे शरीर में एक प्रकार की गरमी बढ़ने लगी। शरीर इतना गरम होने लगा कि मेरा सारा अंग तप जाता था। ठण्डा करने का कितना भी उपाय करने से वैसा ही रहता जैसे अग्नि में जल रहा हो। शरीर बिल्कुल क्षीण हो गया था। मुँह में से कफ की धारा बहने लगी थी। अब अन्न के बदले कांजी लेना शुरू किया। शरीर में दाहक शक्ति इतनी बढ़ी कि ठण्डे पानी के कुण्ड में बैठने पर भी शीतलता नहीं मिलती थी। इतने में गणेशपुरी से भगवान नित्यानन्द का सन्देशा आया। येवलावासी मेरे विचित्र प्रकार से चले जाने पर बड़े विस्मित थे। मैंने अपनी कुटी के न तो किवाड़ बन्द किये थे न ही जाने के बारे में किसी से कुछ कहा था। उन्होंने नित्यानन्द बाबाजी को खबर दी और यह बताया कि मैं चालीसगाँव के आसपास हूँ। अब उनका सन्देश आया कि मेरी साधना ठीक चल रही है, जो मुझे हो रहा है, वह यथार्थ है। मुझे धैर्य से साधना करते रहना चाहिये। सन्देश पाकर बड़ी खुशी हुई।

प्यारे गुरुदेव का पुनः एक बार प्रेम-सन्देश आया। लानेवाले थे नित्यानन्द जी के परमभक्त श्री नारायण सेंडो, जिनसे मुझे अत्यधिक स्नेह था। उन्होंने शुद्ध शास्त्रीय खस के इत्र की एक शीशी अपनी जेब से निकाल कर दी। मैंने पूछा, 'क्यों जी, आप इत्र लाये हैं?' तो उन्होंने कहा, 'स्वामी, मैं भगवान नित्यानन्द जी को लगाने के लिये इत्र ले गया था। मैं उनको देने लगा, तो गुरुदेव ने कहा : 'तुम चालीसगाँव-नागद जाओ और उसको दे दो। लीजिये।' मैंने उनसे इत्र ले लिया। यह भगवान का प्रसाद है

ऐसी भावना से शीशी खोलके थोड़ा-सा इत्र लगाया। इत्र उच्च जाति का था। सारे शरीर को थोड़ा लगाया। बड़ी महक उठी। भगवान नित्यानन्द जी की कुछ बातें हुईं, कुछ ख़बरें मिलीं। ध्यान-साधन को अब और ज़ोर आ गया। दूसरे ही दिन भगवान नित्यानन्द ध्यान की तन्द्रा में आये। वहाँ भी वही खस के इत्र की शीशी देते हुए कहा, "ध्यान की गरमी बढ़ेगी। वह तो योग का दाहक तेज है। हररोज़ थोड़ा सुगन्धित इत्र लगाओ।" इस प्रकार ध्यान में इत्र और उसके साथ साथ सन्देश पाकर चित्त बड़ा प्रसन्न हो गया।

मैं रोज़ ध्यानोत्तर भोजन करके, एक आम्रवृक्ष के नीचे कुछ योगविषयक ग्रन्थ पढ़ता था। एक प्रमाण मिला कि योगियों को सुगन्धित पुष्प धारण करने चाहिये। कारण योग द्वारा होने वाला दाह सुगन्धित पुष्प तथा इत्र से कम हो सकता है। अपनी संस्कृति की याद आ गयी। हमारी भारतीय पूजाविधि में भगवान-को सुगन्धित माला पहनाने का यही कारण है। महात्मा के दर्शनार्थी भक्त जो बहुमूल्य सुगन्धित हार ले जाते हैं, वह यथार्थ है। चरणों को चन्दन क्यों लगाते हैं इसका भी बोध हो गया। अब नित्यप्रति प्रातःकाल मोगरे का एक हार पहन कर ध्यान में बैठ जाता। ध्यानोत्तर कभी कभी 'हीना' या 'खस' का इत्र लगाता। ध्यान खूब बढ़ गया। एक पीत और नील रंग की मिश्रित ज्योति दिखायी देती थी। एक अनोखी तन्द्रा लग जाती थी। वहाँ का सुख उच्च प्रकार का है। जागृतावस्था के खाने, पीने, देखने या कुछ प्राप्त करने के सुख से भी वह महान है। रात्रि के स्वप्नप्रद निद्रालोक के सुख से भी अधिक है। यह ध्यानोत्तर तन्द्रावस्था का सुख है। मैं कभी कभी निद्रा का अच्छा अवलोकन करता जो इस निद्रा-सी तन्द्रा के आगे कुछ भी नहीं; और वह सब सुख खोटा है ऐसा समझने लगा। अब मैं तन्द्रा के सुख को अधिक मात्रा में अनुभव करने लगा।

कभी कभी मूलाधार से लेकर कण्ठ तक सुन्दर रजत रंग की, खंभे के समान खड़ी छोटी-सी नाली देखता। वह अति आकर्षक थी। न जाने वह बारीक-सी नाली रजतज्योति से कैसे व्याप्त थी! कभी कभी प्रत्येक चक्र में किसी न किसी देवता को देखता। चक्र-स्थान में थोड़ी पीड़ा भी होती। कभी ध्यान में मैं सभी नाड़ियों के समुदाय, रक्तकोष, मलकोष, अन्नकोष खुले हुए देखता। सभी नाड़ियों में एक प्रकार की बहुरंगी ज्योति

फैली हुई रहती और उसीके प्रकाश में वे सभी नाड़ियाँ मुझे दिखायी देतीं। शक्ति के बढ़ते हुए वेग को नाड़ियों में स्पन्दन करते हुए भी देखता।

ध्यान में बैठते ही, नित्यप्रति प्रथम, शरीर में प्राणवायु का वेग से संचार होता, तदनन्तर रक्त और श्वेत ज्योतियाँ दिखायी देतीं। ध्यान होते होते अब लोक-लोकान्तर भी दीखने लगे थे। अन्य देवता तथा शिवलिंग भी बार बार देखता था। श्वेतज्योति के उदित होने पर ध्यान सूक्ष्म शरीर में होने लगा और अन्तर में बाहर का स्थूल जगत सूक्ष्म रूप में दिखायी देने लगा। ऐसी दशा में पूर्ण तन्द्रा लगते ही मैं कई जाति के विचित्र नाग और भयानक सर्प देखता था, जिससे मन में थोड़ा भय भी होता। फिर ध्यान की अनुभूतियों का हमेशा सूक्ष्मता से मनन करता। अब बोलना बहुत कम कर दिया था; क्योंकि पढ़ने में, ध्यान में और विश्रांति में बहुत समय बीतता था। जिस दिन कोई भक्त मंडली आ जाती उस दिन उनसे कुछ बातें हो जातीं। परन्तु समय का नियम बदल जाने से मुझे तन्द्रा नहीं लगती थी। उस दिन आनन्द का स्फुरण भी बहुत कम होता था। (अब पाठकजन एक बात याद रखें। जहाँ मुझे तन्द्रा लगती थी, उस स्थान का आगे मैं 'तन्द्रालोक' कहकर वर्णन करूँगा।) जब मुझे कुछ मानसिक अथवा व्यवहारिक उपद्रव होते तब ध्यानलोक और तन्द्रालोक को जाना सम्भव नहीं होता था। उस दिन जरा उदासीन हो जाता। इसलिये किसीसे मिलना, गपशप करना इत्यादि सब छोड़ दिया।

अब मुझे ध्यान में कभी कभी बाह्य जगत की घटनाएँ दिखायी देतीं जिससे बाह्य जगत की समझ अधिकाधिक आने लगी। श्वेतज्योति के ध्यान के बीचो बीच हृदयकमल देखता। वहाँ की दिव्य तेजयुक्त ज्योति का क्षणभर का दर्शन मुझे मन्त्रमुग्ध बना देता। यदि हृदय की ज्योति विद्युत् वेग से चमकती रहती, तो अत्यन्त सुख और प्रेमभरी मस्ती से पूर्ण आनन्द दशा प्राप्त होती। उस समय यदि आम्रवृक्ष पास होता तो उसका भी प्रेमसहित आलिंगन कर लेता।

श्वेतेश्वरी

धीरे धीरे रक्तेश्वरी के पश्चात् पूर्ण श्वेतेश्वरी का ध्यान जमने लगा। अब पूरी अंगुष्ठ-प्रमाण श्वेतज्योति सामने आकर खड़ी हो जाती। ध्यान

स्थूल शरीर को छोड़के सूक्ष्म शरीर में होने लगा। अभी तक जो श्वेतेश्वरी के नाम से कहा गया है, वह अंगुष्ठ की आकृति का सूक्ष्म शरीर है। इस शरीर में जीवात्मा स्वप्नावस्था की अनुभूति करता है और जागृति के श्रम को मिटा कर किंचित् विश्रान्ति लेता है। वेदान्त में जो सूक्ष्म शरीर कहा गया है वह यही है। इसी शरीर के आधार पर स्थूल शरीर है। यह सूक्ष्म शरीर ॐ कार की दूसरी मात्रा 'उकार' है। इस शरीर में जीवात्मा को 'तैजस्' कहते हैं। इसके रहने का स्थान कण्ठस्थान है। श्वेतज्योति का दर्शन वा स्वप्नानुभूति वहाँ का प्रत्यक्ष अनुभव है। ऐसे पूर्ण अनुभव बिना वेदान्त पंगु है, अप्रत्यक्ष अथवा ***दर्वी पाकरसं यथा*** जैसा है, अर्थात् करछी के समान है जो स्वयं भोजन के रस को नहीं जानती।

अब सूक्ष्म ध्यान ऊँचा होने लगा था। पहले पहले ध्यान में निद्रा कुछ अधिक आती, तदनन्तर कम हो गयी। मेरा सूक्ष्म ध्यान बढ़ने पर दृष्टान्त बहुत होने लगे कि आगे ऐसा ऐसा होगा। जैसे कि कहीं पर लगनेवाली आग दीखती या कहीं पर मोटर की दुर्घटना दीखती। एक या दो दिन में ऐसी घटना का समाचार भी आ जाता। इससे ध्यान में रुचि बढ़ जाती। मेरा मन ध्यान की क्या महिमा है ऐसी प्रशंसा करता।

ध्यान शुरू होते ही एक दिन पालने में एक बहुत सुन्दर बालक को देखा। वह डेढ़ वर्ष का छोटा-सा बालक मोतियों का हार तथा स्वर्ण मुकुट पहने हुए था। उसका अपूर्व शृंगार था। पालना स्वर्ण का और नवरत्नजड़ित था। इस अति सुन्दर पालने में वह बालक झूल रहा था। उसके आसपास कोई नहीं था। मिश्रित ज्योति के अन्दर वह मनोहर बालक दिखायी देता था। मुझे अब भी उसकी याद आती है। वह बालक मेरी तरफ़ टेढ़ा होकर मस्ती से खिलखिलाकर हँसा। छोटी छोटी आँखों से मुझे निमन्त्रित करता था। यह ध्यान कितना सुखपूर्ण था! उस दिन मैं तन्द्रालोक से भी आगे गया जहाँ बहुकाल तक कुछ दिखायी नहीं दिया। केवल निरामय स्थिति। ध्यान समाप्त हो गया। फिर आँखें मूँदकर मन में उस बालक को देखने लगा, परन्तु नहीं दीखा। वह बालक श्रीहरि थे ऐसी मेरी धारणा हो गयी। उसको देखने के बाद मेरी साधना और अच्छी होने लगी। अब ध्यान विशेषकर दो तीन दिन के लिये बहुत अच्छा हुआ। एक समय मोतियों की मालाओं के ढेर देखे। एक दिन दूध देनेवाली बड़ी सुन्दर गाय अपने

बछड़े के साथ खड़ी देखी। यह बछड़ा उसी बालक के रंग का था, जिसे मैंने स्वर्ण के पालने में देखा था। उस सुन्दर बछड़े को गाय का दूध पीते हुए देखा।

अब ध्यान से पहले एक नया कुतूहल रहता था। आज क्या दीखेगा? मन कहता, शाम जल्दी क्यों नहीं आ जाती? रात को सोचता, प्रातः क्यों नहीं जल्दी से आता ताकि ध्यान करूँ। क्योंकि ध्यानसमय के कुछ दृश्य मुझे बहुत ही मोहित करते थे। अब मेरे चित्त को यह एक व्यसन-सा हो गया था। ध्यानोत्तर ध्यान में हुए दर्शनों को बार बार याद करता। शरीर पुलकित हो जाता। मस्ती में भाग्य को सराहता। इस प्रकार ध्यान, और ध्यान में हुए दर्शनों के स्मरण में दिन-रात पूरा लग जाता था।

कृष्णेश्वरी

श्वेतध्यान के बाद अब कृष्णध्यान शुरू हो गया। कृष्ण यानी भगवान श्रीकृष्ण नहीं, लेकिन कृष्ण रंग की ज्योति, जो 'पर्वार्ध' याने अंगुली के अग्रभाग जितनी है, दीखने लग गयी। अब ध्यान का गतिस्थान आगे बढ़ा। ध्यान स्वभावतः ही कभी हृदय में और कभी त्रिकुटी में स्थिर होने लगा। प्रथम रक्त – श्वेत – कृष्ण ज्योति में स्थिर होता। रक्तज्योति के बीच श्वेतज्योति, श्वेत के बीच कृष्णज्योति दीखती। इन तीनों ज्योतियों को देखते हुए बीच बीच में अनेक रंगमिश्रित चमकती हुई ज्योतियाँ भी मैं देखता। केवल कृष्ण में ही ध्यान पूर्ण स्थिर होता। मन में शांति तो रहती, पर उसमें एक उत्सुकता, एक आशा भी होती कि आगे क्या दीखेगा, इसलिये कभी कभी शांति की कमी का भी आभास होता था।

उस समय ध्यान में मैं कभी एक गहन भयावना अन्धकार देखता। इतना कि जो मैंने बाह्य जगत में कभी नहीं देखा था। इस अन्धकार के कारण मुझे ध्यान से भय होता था। फिर भी अन्धकार की स्थिति में बहुत समय तक रहता। बाद में झट से दृश्य बदल जाता। फिर वही पूर्वपरिचित ज्योतियाँ—रक्त, श्वेत, कृष्ण। इनकी रश्मियों में पुनः पुनः आनन्दित होता। इस समय सिर में, भ्रूकुटियों के मध्य बड़ी वेदना होती थी। वहाँ के चक्रों में पीड़ा भी कुछ दिन तक रही। ऐसा होते होते मेरी दोनों आँखें न जाने क्यों इतनी फिरतीं और दुखतीं? दोनों आँखें ऊपर

की ओर उठ जातीं। दोनों के बिन्दु चक्र की नाईं घूमते। इस तरह एक नये प्रकार का अनुभव शुरू हो गया। जब मेरी आँखें फिरती थीं तब प्राण भी मन्द गति से कण्ठ से त्रिकुटी तक ही फिरता हो, ऐसी अनुभूति होती थी। उस समय ध्यान में मुझे अनेक प्रकार की सुगन्ध आती। पता नहीं कि वे हमारे इस जगत में थीं भी या नहीं। कभी यह सुगन्ध मेरे पास फिरते हुए अन्य मनुष्यों को भी आ जाती। मेरी ध्यान की कुटी भी सुगन्धित हो उठती थी। बीच बीच में आँखें फिरना बन्द हो जाता। कभी नेत्र ऊपर हो जाते। नेत्र कपाल के अन्दर देखते। वहाँ मैं एक सूर्य को देखता जिसका अति दिव्य तेज था। मुझे वहाँ कुछ नक्षत्र भी देखने को मिले। तदनन्तर ध्यान खुल जाता। फिर शांत होकर अपनी कुटी से बाहर आ जाता। आम्रवृक्ष के नीचे बैठ जाता। जो भी छोटा-बड़ा देखता उन सब का मन में अवलोकन करता। ध्यान में जो देखा उस पर विचार करता।

सर्पदंश

एक दिन प्रातःकाल रक्त-श्वेत-कृष्णेश्वरी के बीच ध्यान स्थिर होते ही महा अन्धकारमय नगर देखा। न जाने मैं उस नगर के अन्दर कहाँ तक चला गया। जाते जाते बहुत दूर तक निकल गया। अन्त तक जाते जाते उस ज्योति में स्थित दृश्य वेग से बदल गया। पूर्व की रक्त-श्वेत-कृष्णेश्वरी को देखते देखते मैंने अपने को एक घने जंगल में पाया। मैं एक झाड़ के नीचे बैठा हुआ था। एक काले नाग ने तीव्र वेग से आकर मुझे दंश मारा। उसका विष मेरे शरीर में फैल गया जिससे मेरा अन्त समय निकट आ गया। इतने में येवला का एक भाई, जो मेरे स्नान की व्यवस्था करता था और कभी कभी भोजन बनाता था, आया। उसने मेरे लिये परशिव से प्रार्थना की। प्रार्थना के पश्चात् मैं विषग्रस्त संकटपूर्ण अवस्था से उठा। यह सब, नाटक के दृश्य के समान हुआ और उसकी स्मृति अब तक है। तदनन्तर एक साधनासम्बन्धी पुस्तक मिली। पुस्तक पढ़ने पर मुझे माल्रुम हुआ कि ध्यान में *सर्प का डँसना* सिद्धयोग मार्ग में एक महान अभय चिह्न एवं दृष्टान्त है। यह इसका द्योतक है कि साधक का ध्यानमार्ग उत्तरोत्तर और भी आगे बढ़ेगा।

अब ध्यान कभी श्वेत के मध्य तो कभी कृष्ण के मध्य होता था। कृष्ण के मध्य में ही मैं श्रीशैल आदि पर्वत, वहाँ की बड़ी बड़ी गुहाएँ और उन गुहाओं में ऋषियों के स्थान देखता। कभी कभी गिरनार पर्वत की कंदराओं में कई प्रकार के भिन्न भिन्न प्रकाश देखता। जिधर भी देखता, रक्त-नील-पीत मिश्रित एक सुंदर ज्योति का प्रकाश दिखायी देता। उस दिव्य तेज की प्रभा से मुझे वहाँ सब कुछ दीखता था। सर्पदंश के अनन्तर तीन चार दिन बाद मैंने *नागलोक* देखा। चारों तरफ़ नाग ही नाग। उनके लिये हर तरफ़ पुष्पवन बने हुए थे। वे नील तेजयुक्त थे। वहाँ एक अत्यन्त तेजोमय बड़े नाग को देखा। ऐसे अनेक दृश्य, अनेक नगर चित्त में प्रकट होते और आनन्द देते।

ध्यान भंग होने पर मैं शांतभाव से रहता। अब दिन प्रतिदिन मन भी शांत होता चला। ज्योतियाँ जागृतावस्था में भी दीखने लगीं। मैं जब जब गुरुभाव में पूर्ण होता तब जागृति में और व्यवहार-दशा में भी तीनों ज्योतियों को सामने देखता। अब तो आनन्द की बाढ़ बढ़ती चली। ध्यान में भी रक्त-श्वेत-कृष्णेश्वरी और जागृति में भी! यदि बगीचे के किसी भाग में फिरने जाता तो वही ज्योतियाँ। मैं जहाँ भी देखता, वहाँ ज्योतियाँ चमकने लगतीं। बड़ा आश्चर्य होने लगा कि यह क्या दशा है! नागराज के दंश में क्या जादू था! सम्भवतः उन्नति के पथ पर अग्रसर करने के लिये नागेश्वर ने अनुग्रह किया था।

अब मेरे कर्णों के बाह्य कर्ण-गोलकों में पीड़ा होने लगी। पीड़ा बहुत तेज़ होती, पर थोड़े समय में मिट भी जाती। मेरी आँखों के बिन्दु फिरते ही रहते। आँखों की ऊपर की पलक ऊपर और नीचे की नीचे ही रह जाती। पलकें झपकती नहीं थीं। दो घण्टे तक ऐसा ही रहता। आँखें बड़ी बड़ी दीखने लगी थीं। उनको देखकर लोग आपस में कहते कि बाबा क्रुद्ध नज़र आते हैं। न जाने क्यों मैं सब को बड़ी बड़ी आँखों से देखता था। जब शांत हो जाता तो लोग मुझे आकर कहते कि बाबा आप गरम लगते हैं। मैं सहज में उत्तर देता, मैं न गरम हूँ और न नरम ही। अस्तु।

ऐसा होते होते एक तरफ़ सारे अंगों में नाड़ियों के विचित्र कार्य, दूसरी तरफ़ ध्यान की अनन्त अनुभूतियाँ और साधना का पूरा-पूरा प्रयत्न, ऐसा मेरा कार्य चला। अब मैं ध्यान में *चन्द्रलोक* जाने लगा। चन्द्रलोक सत्य

है। वहाँ एक ही उम्र के लोग रहते हैं। वहाँ एक उद्यान में पुष्पाच्छादित मार्ग से बहुत से स्त्री-पुरुष आते जाते देखे। सभी जवान। सभी निरोगी। लेकिन मैं किनारे बैठे बैठे उद्यान को देखता रहा। वहाँ सूर्य का ताप नहीं था। सौम्य, मृदु प्रकाश फैला हुआ था। वहाँ वर्षा एवं धूप दोनों ही नहीं हैं ऐसा मुझे वहाँ के नगर देखकर अनुमान हुआ। सभी मकान सोने-चांदी से निर्मित थे। वहाँ बूढ़े नहीं देखे।

नरक और यमराज के दर्शन

ऐसे ही कुछ दिन बीते, बड़ी मस्ती के साथ। फिर कृष्णध्यान होने लगा। एक बार एक लोक देखा जो अति ही मलिन था। सिद्धविद्यार्थी सावधानी से इस प्रसंग का पठन करें। उस दिन ध्यान को बैठते ही बड़े वेग से मेरा सारा शरीर हिलने लगा, वैसे ही जैसे किसी में भूत वा देवता का संचार होने पर होता है। इस अवस्था में मैंने ध्यान में देखा कि मैं दूर चला जा रहा हूँ। कहाँ और कैसे जा रहा था यह मालूम नहीं था। मैं आसन पर बैठा था, पर ध्यानावस्था में जिस प्रदेश में पहुँचा वह नरक से भरा हुआ अत्यन्त मलिन स्थान था। मैंने अपने को मलिनता के मध्य स्थित पाया। मैं होश में हूँ। मुक्तानन्द कहता है, सिद्धविद्यार्थियो, सावधानी से इसको पढ़ो। जहाँ भी मैं देखता नरक दिखायी देता। न जाने इतनी टट्टी का संग्रह यहाँ कितने युगों से हुआ होगा! जैसे महाबलेश्वर के मध्य में मै किसी भी 'पोईंट' पर चढ़के देखता हूँ तो चारों तरफ़ पहाड़ ही पहाड़ दीखते हैं, वैसे ही वहाँ चारों ओर मल ही मल था, मानो वर्षों से उसे वहाँ पर जमा किया जा रहा हो। कुछ दूर जाने पर उसमें मेरे पैर धँसने लगे।

चारों ओर से दूषित गन्ध आ रही थी, वमन करने की इच्छा होने लगी। सिर फिरने लगा। उस स्थान की सड़कें कच्ची थीं। पानी कम था, वह भी नरक से मिश्रित। स्त्री-पुरुष कम दिखायी दे रहे थे और जो भी थे, वे वस्त्रहीन थे। कुछ स्त्री-पुरुष मल के ढेरो पर बैठे हुए थे—खिन्न और कुरूप। यह सब देखकर बहुत घृणा हुई। बड़े कष्ट से आगे बढ़ने का प्रयास किया। वहाँ प्रकाश तो था पर सूर्य नहीं दिखायी दे रहा था। साधकगण, मेरे इस अनुभव को याद रखें। इस स्थान पर आकर मेरा सारा तेज नष्ट हो गया। बहुत परिश्रम से बाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ा पर वह भी मल से भरा

हुआ था। यहाँ आकर सूखे मल का एक पहाड़ देखा, इस पर स्त्री-पुरुष बैठे हुए थे। सब कुछ आश्चर्यपूर्ण था।

इसके उपरान्त मैं एक दूसरे लोक में प्रविष्ट हुआ जिसमें फल-फूलों से भरे हुए वन-उपवन तथा अनेक प्रकार के गाय-बैल, घोड़े आदि पशु थे। वहाँ मैंने कुछ मनुष्य देखे जिनकी लम्बाई लगभग बीस फुट थी, वर्ण श्याम था, बड़े बड़े दांत थे और वे सब हाथ में लगभग छः फुट के चमकते हुए कटार धारण किये हुए थे। उनके पास बड़े बड़े अंकुश थे। किसी ने रेशमी वस्त्र धारण किया था, किसी ने चर्म और किसी ने सादा वस्त्र। सब के नेत्र क्रोध से भरे हुए लाल लाल दीख रहे थे। इस लोक में कोई स्त्री नहीं थी जिससे मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। मैंने वहाँ लगभग बीस फुट लम्बे काले काले भैंसे देखे। तदनन्तर मैंने एक अत्यन्त आकर्षक सरोवर देखा, जिसके चारों ओर सुन्दर पक्षी चहचहा रहे थे। पास में ही एक सुन्दर नदी बह रही थी। चारों ओर तीव्र प्रकाश था, सूर्य का था या किसी अन्य वस्तु का? इस प्रकाश के मध्य फूलों से सजे हुए कृष्ण वर्ण के भैंसे के ऊपर रेशमी चद्दर पर बैठे हुए एक काले रंग के देवता को देखा। भैंसे के सींग सोने से मढ़े हुए थे और पाँव में सोने के पायल थे। देवता ने लाल रंग की रेशमी धोती पहनी थी, गले में यज्ञोपवीत धारण किया हुआ था और सिर पर रत्नजड़ित मुकुट था। वे मुझसे लगभग दस फुट दूर थे। मैं उनको देखकर मुस्कराया और मेरी ओर अभय हस्त करते हुए वे भी मुस्कराये। कुछ ही समय बाद दो यमदूतों ने आकर मुझे नरक के बीच में से वापस ले जाकर बाहर निकाला। मैं आनन्दविभोर हो गया कि मुझे यमराज के दर्शन हुए थे। अब ध्यान भंग हो गया। कुटी से बाहर आया। हृदय शुष्क हो रहा था, पानी पीने का प्रयास किया, पर उल्टी आने लगी। हृदय ग्लानि से भर गया। तीन दिन तक भोजन नहीं कर सका। अब भी इसका स्मरण होते ही मन में ग्लानि होने लगती है।

इस प्रकार ध्यान लगते लगते पुनः एक वेग आ जाता, जिह्वा ऊपर लटकती, आँखें ऊपर को जातीं, और बाहर प्रकट ज्योति के दर्शन होते, ऐसा चलता रहा। ध्यान आगे बढ़ता रहा। बीच बीच में ध्यान की अति तन्मय अवस्था आ जाती थी। उस तन्मय भाव में हृदय में मौत का भय उठता था। अभी मर जाऊँगा, अभी मर जाऊँगा—ऐसा भय

लगते ही ध्यान भंग हो जाता। कभी कभी हृदयाकाश में अंगुष्ठाकृति दिव्यज्योति के दर्शन होते, इससे मैं बड़ा खुश भी हो जाता। अब ध्यान का क्रम यह हो रहा था : तन्द्रालोक में जाना, बाहर की सभी चीज़ें मिश्रित ज्योति में दीखना और मरने के भय से ध्यान भंग होना।

बिन्दु-भेद

अब दोनों आँखों की पुतलियाँ समान हो गयीं। दोनों आँखों से एक ही वस्तु दीखना शुरू हो गया। इसे शास्त्रों में 'बिन्दु-भेद' कहते हैं। तदनन्तर आँखों में नील प्रकाश का उदय हुआ। यह शाम्भवी मुद्रा होने की पूर्व तैयारी है। जब साधक में *नीलोदय* होता है, तब उसके पूर्ण भाग्य का उदय होता है। बिन्दु-भेद की क्रिया होने पर साधकजन डर जाते हैं कि कहीं आँखें न चली जायें। बिन्दु-भेद के समय मेरी आँखों की पुतलियाँ बड़े वेग से उल्टी-सुल्टी, ऊपर-नीचे फिरती रहतीं। ऐसा लगता था कि मेरी आँखें बाहर निकल जायेंगी। देखने वाले को भी डर लगता था। परन्तु भगवती पर पूर्ण भरोसा रखने से यानी हम स्वयं कुछ नहीं करते, वह अन्तर में स्थित परमात्मशक्ति ही सब कुछ कराती है, इस भाव से रहने से सब भय मिट जाता है। आँखों के फिरने से नेत्रचक्रों का वेध हो जाता है। चक्षुचक्र भेदन हो जाने से वहाँ के चक्षुदेवता प्रसन्न हो जाते हैं। साधकजन इस बात को न भूलें कि आप की हरएक इन्द्रिय में एक एक देवता है। जबतक चक्रों की शुद्धि नहीं हो जाती तबतक वे साधारण रूप से काम करती रहती हैं। परन्तु शुद्धि हो जाने के बाद उनमें दिव्य शक्ति आ जाती है। चक्षुचक्रों की शुद्धि हो जाने पर, चक्षुदेवता दिव्यदृष्टि प्रदान करते हैं जिससे कि दूरदर्शन होता है।

ध्यान में अब न केवल आनन्द, स्फूर्ति ही बढ़ी; परन्तु साथ साथ आँखों में, कर्णों में, भ्रूमध्य में थोड़ी वेदना भी बढ़ी। वेदना के साथ साथ रक्तेश्वरी के बाद श्वेतेश्वरी में और श्वेतेश्वरी के बाद कृष्णेश्वरी में ध्यान स्थिर हो गया। ध्यान को बैठते ही कुछ शारीरिक क्रियाएँ, नाड़ी में प्राणसंचार और खेचरी मुद्रा होती, तदनन्तर ध्यान पूर्ण स्थिर होता। ऐसा होते ही अति आनन्द की स्फुरणा होती। केवल आनन्द की स्फुरणा ही नहीं, मुझे जो कुछ हो रहा था, वह सब समझ में भी आता रहता था। मेरी उस समझ में अब भी कोई

अन्तर नहीं पड़ा है। वह ज्यों की त्यों है। ऐसी समझ का अत्यन्त महत्त्व है। कभी कभी ऐसा अनुमान होता कि मेरी समझ की वृत्ति भी नयी है। क्योंकि मुझे सूक्ष्मातिसूक्ष्म दशा की भी याद रहती, भूलता नहीं था। उस दशा में पूरी सावधानी से रहता। मैं इस समझ अथवा बुद्धिवृत्ति को जानने का प्रयास करता।

अब कामकला पूर्ण निवृत्त हो गयी थी और एक नवीन प्रेमकला उदित हुई थी। वह ऐसी बढ़ने लगी कि जिससे सभी के प्रति प्यार का प्रवाह बहने लगा। मेरा मन विचार करता 'क्या यह ममता नहीं? क्या यह मोह नहीं। क्या यह आसक्ति नहीं? मैं तो अभी अभी नागद में आया हूँ, फिर मुझे इन आम्रवृक्षों में कैसे आसक्ति होगी!' ऐसा विचार करने पर समझ में आया कि वृक्षों में आसक्ति तो परमेश्वर के प्रेम का प्रतिबिम्ब है अथवा प्रतिछाया है। परमात्मा सभी से अहैतुक प्रेम करता है। उसका प्रेम महान है, पक्षपातरहित है। परमात्मा का प्रेम संसारियों जैसा व्यवहारिक प्रेम नहीं है। *व्यवहार का प्रेम, प्रेम नहीं होता। वह तो व्यापार है, खरीद बिक्री है।* नित्यप्रति कसाई भेड़ को प्रेम से खिलाता पिलाता है, वह क्या प्रेम है? वह तो पैसे कमाने के लिये प्रेम करता है। ग्वालिनें गाय-भैंस को प्रेम से खिलाती रहती हैं; उसको क्या प्रेम और दान कहेंगे? क्या वह मात्र दूध के व्यापार के लिये नहीं है? किसान खेती से प्रेम करता है, उसके लिये बड़ी मेहनत करता है और उसे बीजों का दान करता है। क्या वह प्रेम अथवा दान सच्चा है? प्रेम के ये सभी प्रकार परस्पर क्रय-विक्रय मात्र हैं। जहाँ सच्चा प्रेम नहीं वहाँ क्या सुख है?

प्रेम तो हृदय का अहैतुक स्नेह है। मानव का प्रेम किसी न किसी हेतु से होता है। वह प्रेम नहीं, स्वार्थ है, गरज मात्र है। केवल भगवान का प्रेम ही शुद्ध प्रेम है। उसका स्वभाव भी प्रेम, उसकी कृपा भी प्रेम, उसका देना भी प्रेम, उसका लेना भी प्रेम हैं। परमात्मा की सम्पूर्ण जगत के प्रति एक ही दृष्टि है और इसीसे उसकी नित्यप्रेम की किरण से यह संसार जी रहा है। ऐसे परमात्मभाव का उदय होते ही साधक में सभी के प्रति प्रेमभाव जागृत होता है। उस समय सेवक-सेव्य का भाव भी नहीं रहता। *गुणरहित करुणाभाव ही प्रेम है।* अस्तु।

ध्यान में अब एक और चमत्कार हुआ। मैंने काले अन्धकारभरे लोक

के बाद अपने सामने एक अलंकृत हाथी देखा। उसके सात मुख थे। वह दिव्य और सुन्दर वस्त्रों से सुशोभित था और सोने, मोती तथा मणियों के बड़े बड़े हार पहने हुए था। प्रातःकालीन सूर्यकिरणें उस पर गिरने से उसके सब आभूषण चमक रहे थे। बहुत समय तक उसे ध्यान में देखता रहा और उसके विषय में सोचता रहा। ध्यान समाप्त हो जाने पर मैंने एक पुराण की पुस्तक पढ़ी, जिससे पता लगा कि वह इन्द्रलोक का ऐरावत हाथी था। ऐसा ज्ञात हुआ कि इसका दर्शन भी पुण्यप्रद था। अब ध्यान की फिर से बाढ़ आयी। उत्सुकता इतनी बढ़ी कि सारे रातदिन ध्यान ही करता रहूँ ऐसी इच्छा हुई। पर ऐसा हो नहीं सकता था, क्योंकि ध्यान के वेग, परिश्रम और उष्णतादि को, तथा ध्यान की महिमा को झेलने की ताक़त होनी चाहिये। ध्यान को अपने स्वभाव के अनुरूप पचाने की योग्यता आनी चाहिये। इसीलिये उत्तम आहार, उत्तम कर्म, ब्रह्मचर्य, व्रत-नियमों का पालन पूर्णरूप से होना चाहिये। जहाँ संयम नहीं, वहाँ ध्यान का पूर्ण फल—सिद्धियाँ प्राप्त होना बड़ा कठिन है। ध्यान करनेवाले अपने को, अपनी महिमा को पूर्ण समझें। स्वच्छंद व्यवहार, अति हँसना या रोना या व्यर्थ वार्तालाप और मनमाना आहारविहार न करें। अपने साथ अपनी महान तपस्या की फलरूपा पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति की हीन-दीन दशा न होने दें। ऐसा करने से मन्त्रसिद्धि, दूरदर्शन, इष्टदर्शन या सांसारिक समृद्धि की प्राप्ति रुक जाती है।

मुझे अच्छी तरह याद है, किसी ने कहा था, 'बाबाजी, ध्यान तो हुआ है, परन्तु आनन्द नहीं मिला।' कोई कहता है, 'मुझे ध्यान में अमुक दृष्टान्त हुआ था, परन्तु सत्य नहीं हुआ, खोटा ही हो गया।' जिन्होंने मुझसे ये शिकायतें की हैं, मैं उन सबसे कहता हूँ कि उन्होंने ध्यान के नियमों का पूर्णतया पालन नहीं किया है। एक ने कहा, 'ध्यान में बैठता हूँ तो मन घबराता है।' दूसरे ने बताया कि ध्यान में उसकी चिंता ही बढ़ती है। प्यारे सिद्धविद्यार्थियो, इन सब बाधाओं का कारण आप के अन्दर क्रियारूप होकर रहनेवाली महाशक्ति की अवहेलना है। किसी भले-बुरे स्थान पर बैठने से, अथवा किसी अयोग्य व्यक्ति से स्नेह और मित्रता करने से पूर्णसिद्धि की प्राप्ति रुक जाती है। यदि ऐसा न हो तो साधकों में प्रवेश करनेवाली एक ही श्रीगुरुशक्ति न्यूनाधिक फलप्राप्ति क्यों देती? अस्तु।

अब दोनों आँखों की पुतलियाँ फिरते फिरते केन्द्र में आ गयीं और दोनों के बिन्दु सम रहने लगे। ध्यान में फिरते फिरते आँखें एक बार ऊपर चढ़ीं और एक बार नीचे आयीं। ऐसा होते ही एक तिल के आकार का छोटा-सा, अत्यन्त तेजोमय नील बिन्दु आँखों में से बिजली के वेग के समान निकल कर पुनः अन्दर चला गया। यह एक गुप्त, रहस्यमयी, आश्चर्यमयी क्रिया थी। छोटा-सा नील बिन्दु क्षण में सम्पूर्ण दिशाओं को चमका देता था। यदि मैं पूर्वमुख बैठता तो पूर्व दिशा चमक उठती और यदि दक्षिणमुख होता तो दक्षिण दिशा चमकती।

सिद्धविद्यार्थियो, आप को उस बिन्दु की महिमा बतलाऊँ क्या? उसकी गति विद्युत्वेग से भी तीव्र और चपल थी। उसे देखते ही मन में अनेक भावनाएँ उत्पन्न हुईं : क्या उसके साथ राम, कृष्ण अथवा मेरे परमाराध्य परशिव आयेंगे? ऐरावत के बाद कौन आयेगा? दर्शन का लोभ हो रहा था, फिर भी मन में सन्तोष और आनन्द था। अब दिन बिताने की मेरी रीति बदल गयी थी। ऊपर कही गयी प्राप्ति पर अन्तरात्मा संतुष्ट होकर कहता कि तुझे भगवती कुण्डलिनी का प्रसाद मिला है। अब मैं सब का मन ही मन सम्मान करने लगा।

आँखों का फिरना बन्द होकर वे मात्र ऊर्ध्वमुखी रहने लगीं। पर अब मैं ऊपर ही देखने लगा था। नीचे देखने में मैं कष्ट का अनुभव करता था। कभी आँखें खुली की खुली ही रहतीं। भ्रूकुटी में दर्द होता जिससे रात को नींद नहीं आती थी। तदनन्तर ध्यान में द्विदल चक्र के मध्य आरती की लौ जैसी ज्योति, बिना हिले डुले आकर त्रिकुटी में स्थिर हो गयी। उसका तेज और रूप अनन्त था। उसके सामने मेरी दर्शनशक्ति शिथिल हो गयी। मैं आत्मविस्मृत-सा होकर उस ज्योति को देखता रहता। इसीके ही पास से, जगी हुई कुण्डलिनी का सहस्रार में जाने का रास्ता है। वही सिद्धमार्ग है। पूर्ण गुरुकृपा बिना वह खुलता ही नहीं। कितनी भी भक्ति करो, तप करो या ध्यान करो, योग की अनन्त क्रियाएँ भी होती रहें, फिर भी बिना गुरुकृपा के यह मार्ग खुलना कठिन है; इसका तो एक ही उपाय है : **गुरुकृपा हि केवलम्। गुरोराज्ञा हि साधनम्।**

यहाँ का भी चक्र-वेध हो गया और प्राणशक्ति ऊपर चढ़ने लगी। बातीरहित दीपज्योति के दर्शन भी होते रहते थे। अब मन आनन्द की

मस्ती में झूमता था। जिस स्थान पर मैं ज्योति देखता, यह वही था जहाँ हमारी तीर्थरूपा पवित्र भारतीय माताएँ अपने पातिव्रत्य के नाम से नित्यप्रति कुंकुम लगाती हैं। वस्तुतः यह कुंकुमबिन्दु चाहे पति के नाम पर लगाया जाय अथवा रूढ़ि के कारण अथवा नारीधर्म के पालन के लिये, जिस स्थान पर वह लगाया जाता है, वह *गुरुपीठ* है। इसी स्थान में गुरुपीठाध्यक्ष, द्वि-अक्षरात्मा, हं-क्षं सहित निवास करता है। इसीके होने से हम हैं। वह ज्योति महागुरुदेव का ही रूप है। हमारी माताएँ वहाँ कुंकुम लगाकर परमात्मा की ही नित्यपूजा किया करती हैं। अब न जाने कैसे दिन आये हैं कि हमारी कुछ माताओं को इस व्रत का स्मरण भी नहीं! अब तो दशा विपरीत हो रही है!

ऐसी दिव्य ज्योति को मैं देखा करता। एक ज्योति का ध्यान करते करते अब चार दिखायी देने लगीं—रक्तेश्वरी से श्वेतेश्वरी, श्वेतेश्वरी से कृष्णेश्वरी, कृष्णेश्वरी से नीलेश्वरी। एक के बाद एक आने लगीं। जैसे जैसे ध्यान के एक एक स्थान को पार करता हुआ आगे बढ़ता, वैसे वैसे मेरा आनन्द भी बढ़ता जाता। यह आनन्द अन्य प्रकार का था। दृष्टान्त भी अच्छे अच्छे होते, जो पूर्णतया सत्य होते थे। जब से मैंने नीलेश्वरी का दर्शन किया, तब से मेरे शरीर की गति, मन की स्थिति, समझ की रीति कुछ नये रूपों को धारण करती गयी। उल्लास बढ़ा। पूर्ण पवित्र और उच्चतम भावों का स्फुरण होने लगा। अब बाह्य संगति से न जाने क्यों जी ऊबने लगा और ध्यान का ही एक व्यसन हो गया। आज क्या देखूँगा?—ऐसी एक ही आशा, एक ही रुचि, एक ही विषय, मेरे जीवन का नित्यकर्म और नित्यध्यान हो गया।

एक दिन ब्रह्ममुहूर्त में उठकर ध्यान किया। मेरे सामने स्मशान में जलती हुई चिता की ज्वाला आयी। उसमें कौन अम्मा बैठी थी? उनके चारों तरफ़ आग की लपटें फैली हुई थीं और वे उनमें जल रही थीं। वे नारी ध्यान में पूर्ण मग्न थीं। बहुत देर तक उन ध्यानमग्न नारी को चिता में जलती हुई देखने के बाद मेरा ध्यान समाप्त हो गया।

अब ध्यान की अभिलाषा धनलोभी के लोभ की तरह, ध्यान का चिन्तन कामुक के कामिनीचिन्तन की तरह, ध्यान का स्मरण पागलों का एक ही बात को दोहराने की तरह हो गया था। दूसरे दिन से रात्रि के बारह

बजे से ध्यान करने का निश्चय किया। क्योंकि अब ध्यान इतना सूक्ष्म हो गया था कि बहिर्जगत के शब्द या कुछ भी उपद्रव सह नहीं सकता था। कोई भी किंचित् ज़ोर से बोलता तो ध्यान भंग हो जाता। कोई हँसे तो ध्यान भंग, कुत्ता भौंके तो ध्यान भंग। यहाँ तक कि अब अपनी संगति के लोग भी एक प्रकार का विघ्न-सा प्रतीत होने लगे थे। मैं यही सोचता था कि ये सभी साथी चले जायँ तो अच्छा। ऐसी दशा में रात्रि के बारह बजे से नागद की कुटी में ध्यान करना आरंभ किया।

मैं ध्यान बड़ी उत्सुकता, निष्ठा और प्रीति से करता था, किसी भय के वश होकर नहीं। किसी को प्रसन्न करने के लिये या किसी से कुछ लाभ प्राप्त करने के लिये अथवा किसी कामना या वासना या विषयवृत्ति की पूर्ति के लिये ध्यान नहीं करता था। मैं कोई शारीरिक या मानसिक रोग दूर करने के लिये भी ध्यान नहीं करता था, कोई चमत्कारक सिद्धियाँ पाकर नाम-ख्याति प्राप्त करना भी नहीं चाहता था। ध्यान करने के लिये किसी का आग्रह भी नहीं था। मैं इसलिये भी ध्यान नहीं करता था कि धर्म कहता है: 'ध्यान करना अच्छा है।' मैं तो केवल भगवत् प्रेम के लिये, भगवती चितिशक्ति के आकर्षण से मोहित होकर, स्वस्वरूप के अनुसन्धान के लिये ध्यान करता था। ध्यान को बैठते ही तुरंत ध्यान लग जाता था। इन्द्रियों में अपने अपने अधिष्ठाता देवता आकर खड़े हो जाते थे। बहत्तर हज़ार नाड़ियों में विद्युत् वेग से एक विशेष प्रकार की मिश्रित ज्योति का प्रवाह देखते देखते रक्त, श्वेत, कृष्ण और अब क्षणभर के लिये नीलेश्वरी भी दिखायी देती। ये ज्योतियाँ एक के अन्दर एक, सूक्ष्मरूप में एक दूसरी के कार्यकारण भाव से बड़ी में छोटी इस तरह परम आधार होकर रहतीं।

इन्द्रलोक को गमन

एक दिन ध्यान में मैंने एक महानगर देखा जिसको देखते ही मुझे गहरी निद्रा-सी आ गयी और मैं वहाँ का कुछ भी देख या समझ न सका। मैं वहाँ के प्रेम-जल में डूब रहा था। इस अन्धकार में से मैं तन्द्रालोक में पहुँच गया। वहाँ एक दूर से आता हुआ रथ देखा। उसका निर्माण विशेष प्रकार से हुआ था, मानवीय बुद्धि वैसा रथ नहीं बना सकती थी। रथ मूल्यवान् रत्नों से जड़ा हुआ था। ये रत्न जड़ नहीं, अपितु चिन्मय थे।

उस रथ के चक्र नहीं थे। रथ के नीचे चार छोटे छोटे खंभे थे। रथ में से दिव्य प्रकाश की किरणें निकल रही थीं मानो अनेकों सूर्य उसे प्रकाशित कर रहे हों। उसके चारों ओर प्रकाश फैल रहा था। रथ पृथ्वी को बिना स्पर्श किये हुए चल रहा था। उसे देखकर मैं परम आनन्दित हुआ। जब रथ मेरे पास आकर रुका तब उसमें से मानवरूपधारी एक देवता निकला। वह श्वेत रेशमी वस्त्र पहने हुए था, चरणों में रत्नजड़ित खड़ाऊ और कमर में कमरबंध था। कमरबंध में भी अगणित मणियाँ जड़ी हुई थीं। यह चमड़े का नहीं था जैसा कि आधुनिक साहब लोग पहनते हैं। देवता के कंधे पर जनेऊ, गले में मोतियों का हार और मस्तक पर रत्नजड़ित किरीट था। उसका अलौकिक प्रकाश मेरे मुख पर फैला हुआ था और आसपास के आम्रवृक्षों को भी प्रकाशित कर रहा था। उसके कानों के कुंडल अत्यन्त प्रभायुक्त थे। अपने हाथ में चमकीला शस्त्र धारण किये हुए वह देवता मुझे देखकर कुछ मुस्कराया और फिर देवभाषा में बोला, "रथे उपविश" (चलो, रथ में बैठो)।

मुझे संस्कृत भाषा पूरी नहीं आती थी, पर न जाने उस समय मैंने कसे उस भाषा को समझ लिया। तुरंत उठकर मैं रथ में बैठा। बैठते ही मुझे एक दूसरे प्रकार का अनुभव हुआ। बाहर से मुझे वह रथ दस फुट का समकोण जान पड़ता था। अब अन्दर जाकर देखा तो पाया कि वह बहुत बड़ा था। उसमें सब प्रकार के प्रबन्ध थे। पानी था। एक छोटा-सा स्नान घर था। सोने के लिये कमरे थे। गद्दियों की तो शोभा ही निराली थी। वे सब की सब दिव्य नवरत्नों से जड़ी हुई थीं। उन रत्नों की कान्ति से वहाँ प्रकाश फैला था। उसमें एक बैठक थी जो मन को आकर्षित भी करती थी और भ्रान्तियुक्त भी बनाती थी।

इस मनोहारी रथ-गृह को अन्दर से दिखाकर वह मानवरूप देवता मुझे बाहर के कमरे में लाया। तत्काल उस रथ के विद्युत् वेग से भागने का मुझे आभास हुआ। मैं एक बैठक पर बैठ गया। दूसरी बैठक में अपने सामने इस मानवाकार देवता को बैठे हुए देखा, जिसके दो रत्न मेरे शरीर को प्रकाशित कर रहे थे। हम एक विलक्षण नगरी में पहुँचे, जहाँ रंगबिरंगे दिव्यगन्धयुक्त पुष्पों के वृक्ष, अनेक प्रकार के मधुरतम रसों से पूरित फलों के वृक्ष, कलकल करती बहती हुई सुन्दर नदियाँ, चहचहाते हुए सुन्दर पक्षी और विविध प्रकार के पशु थे। किसी ओर नील, श्वेत, पीत और कृष्ण

वर्ण के आकर्षक हंस थे और कहीं छलांग मारते हुए निर्भीक स्वर्णकान्तियुक्त हिरनसमूह थे। उन हिरनों में कुछ हीरा, पन्ना और नीलम की जैसी कान्ति के भी थे। उच्च जाति के अनेक गाय-बछड़ों के झुंड भी दीख रहे थे। दिव्य सुगन्धवाली वायु बह रही थी। ये सब दृश्य देखकर मैं बहुत आनन्दित हुआ।

कुछ समय बाद रथ नगर के किनारे उतरा और फिर अन्दर की ओर गया। उस नगर की प्रत्येक वस्तु विचित्र प्रकार से बनी हुई थी, उसमें लगी हुई ईंटें, पत्थर और मिट्टी भी अलौकिक थे। नालियाँ भी छोटी छोटी और सुन्दर थीं। वह यथार्थ में स्वर्ग था। वहाँ का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से भिन्न था। रजत रंग के प्रकाश से वह नगर देदीप्यमान था। वह ठण्डा था। वहाँ गरमी नहीं थी। वृक्षों में लगे हुए सब पत्ते हरे थे, नीचे गिरे हुए पत्ते भी मुरझाये हुए नहीं थे। पाठकजन, भूलना नहीं कि ये सब दृश्य मैं नागद में अपनी कुटी में ध्यान में बैठे हुए तन्द्रालोक में देख रहा था। जहाँ हम रथ से उतरे थे वहाँ एक हवेली थी। उसके सामने का सारा मार्ग फूलों से भरा हुआ था। मार्ग के एक ओर पुरुष वर्ग हाथों में पुष्पहार लिये हुए खड़े थे और दूसरी ओर स्त्रियाँ स्वर्ण थालों में आरती सजाये हुए खड़ी थीं। हम दोनों के रथ से उतरते ही उन्होंने मुझ पर पुष्पवृष्टि की।

अब मुझे पता लगा कि मेरे साथ जो देवता था, वह और कोई नहीं स्वर्ग का स्वामी शतक्रतु इन्द्र था। वह मानवयोनि में ही अति पुण्य संचय करके उस लोक को प्राप्त हुआ एक राजा था। इन्द्र वास्तव में सभी लोकों का स्वामी है। हम दोनों की आरती उतारी गयी। इस नगरी के सभी व्यक्ति रोग-शोकहीन और तरुणावस्था के थे। सब में विशेष प्रकार की कान्ति थी, शरीर पतला होने पर भी पुष्ट था। जिस स्थान में मैं अभी तक घूम रहा था, वह इन्द्र का निवासस्थान था। इसके बाद जब मैं अन्य स्थानों पर गया तो वहाँ भी मेरा स्वागत हुआ। इन्द्रदेवता मेरे साथ ही थे। सब मार्गों पर फूल बिछे हुए थे, सब स्थानों पर बालिकाओं और स्त्रियों ने आरती उतार कर हमारा स्वागत किया। सब स्थानों पर घूमने के बाद जब मैं महल में गया तो वहाँ गायकों का समुदाय देखा। ये सब शास्त्रीय संगीत के विशेषज्ञ थे। यह इन्द्रलोक भोग की इच्छाओं की पूर्ति करनेवाला पुण्यलोक है, भोगप्रधान होने से इसे 'सकाम लोक' भी कह सकते हैं। देखते ही

देखते मेरे गले में एक मोतियों का और दूसरा पुष्पों का हार पहनाया गया। इसी समय मंडप जैसा वह विमानरूपी रजत रथ हमारे सामने आकर खड़ा हुआ। मैंने सोचा, अब लौटने का समय आ गया है; इसलिये इन्द्र और मैं अन्दर जाकर अपनी अपनी बैठक पर बैठ गये। थोड़ी देर में मैं वापस नागद आ गया और लौटते ही मेरा ध्यान खुल गया।

आँखें खोलीं तो वही दृश्य सामने था। पुनः बन्द कीं तो वही सुन्दर दृश्य मेरी दृष्टि के सम्मुख दीख रहा था। उन दृश्यों की स्मृति से मन में बहुत आश्चर्य हुआ। अब थोड़ा इधर उधर बाहर फिरने से ध्यान की तन्द्रा पूरी नष्ट हो गयी। फिर शांत बैठके जो देखा उसका मनन करने लगा, जिससे वह पूरा याद रहे। ऐसी मुक्तानन्द की अनन्त अनुभूतियों से पूर्ण ध्यान-योग की यात्रा चलती रही।

जब से मैंने स्वर्ग, नरक, नागलोक देखे तब से मुझे शास्त्रों में पूर्ण श्रद्धा होने लगी। मैं केवल आत्मप्राप्ति को ही सत्य मानता था, परन्तु स्वर्ग, नरक देवलोक इत्यादि में मेरी श्रद्धा नहीं थी; पर अब पूरा निश्चय हो गया कि *शास्त्र बिल्कुल सच्चे हैं। हम ही समझने में कच्चे हैं।* पूर्वकालीन ऋषि पारदर्शी थे। उन्होंने अपने योगबल से सर्वज्ञता प्राप्त करके ही शास्त्रों की रचना की है। इसलिये वे पूर्ण सत्य हैं। वस्तुतः जब हम अल्प साधना के द्वारा भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तब पूर्ण साधना करनेवाले उन ऋषि-मुनियों से कौनसा विषय अज्ञात रह सकता है!

प्रतीकदर्शन

मुझे अब एक नयी अनुभूति होने लगी। ध्यान में ज्योतियों का उदय होते ही मैं स्वयं को अपने सामने बैठा हुआ देखने लगा। आँखें खुल जाने पर भी मैं अपने को सामने देखता। मैं जो जो कार्य करता था, ध्यान में भी उसको करते हुए देखता। यदि संतरे के बगीचों में घूमता तो वहाँ भी मैं अपने आप को उधर फिरते देखता। यह एक नवीन आश्चर्य था। अब गुरुदेव की पुनः याद सताने लगी। न जाने कब जाना होगा? कब मुझे बुलायेंगे? ऐसा होते ही मुझसे मिलने मेरे तीन प्रेमी आये—वे थे सर्वश्री निगुडकर गुरुजी, जीवणजी देसाई और बाबू शेट्टी। उनसे समाचार पाकर मैं गुरुदेव के दर्शन के लिये गणेशपुरी गया। थोड़े दिन वहाँ रहा। तदनन्तर गांवदेवी

में भगवान नित्यानन्द के बनवाये हुए तीन कमरेवाले मकान में मुझे रहने की आज्ञा मिली। अब मेरा निवासस्थान गुरुदेव के निकट हो गया। जब मन में आता तब दर्शन के लिये चला जाता। प्रातः और सायंकाल दो बार दर्शन अवश्य करता था। कभी कभी गुरुदेव के पास पूरी रात्रि भी बिताता था। अब ध्यान में कभी मैं अपने को देखता और कभी गुरुदेव को। नदीकिनारे ध्यान करता तो वहाँ भी स्वयं अपने को देखता। गुरुदेव को इसके बारे में बतलाया। उन्होंने कहा, 'हूँ। अच्छा।' तदनन्तर योगविषयक ग्रन्थों के अध्ययन से समझ में आया कि यह *प्रतीकदर्शन* कहलाता है जो शरीर की पूर्ण शुद्धि का द्योतक है। अब शरीर कृश हो गया था, परन्तु शक्तियुक्त था।

ध्यान अब भी होता था। कृष्णेश्वरी का ध्यान पूरा होने के बाद अब ध्यान में नीलेश्वरी का महत्त्व बढ़ने लगा। कृष्ण वस्तुतः वह है जो कारण शरीर है। ज्ञानेश्वर महाराज ने इसे 'पर्वार्ध' कहा है। इसका स्थान हृदय में है। इस शरीर में सुषुप्ति अवस्था होती है। यह ॐ की 'मकार' मात्रा है। यह निरामय इन्द्रियातीत अवस्था है। यह प्रगाढ़ निद्रा का स्थान है, जहाँ स्वप्नादि नहीं होते। यहाँ पर कोई कामना नहीं रहती। केवल आनन्द का ही भोक्तृत्व होता है। इसमें जीवात्मा का नाम 'प्राज्ञ' है।

ऐसे स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण शरीर की ध्यान द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूति की जा सकती है। जिस कारण शरीर का कृष्णेश्वरी नाम से अथवा पर्वार्ध प्रमाण में मैंने अनुभव किया था, वह कमल का तीसरा दल है। प्रथम दल रक्तवर्ण है, दूसरा श्वेतवर्ण और तीसरा कृष्णवर्ण। हे सिद्धविद्यार्थियो! आप ध्यान में इसकी पूरी अनुभूति करें। यह योग का विषय है। क्रमपूर्वक अभ्यास करने से इसकी प्राप्ति होती है। साधुसंतों ने इसे 'देवयान पंथ' कहा है। कुण्डलिनी योग महायोग है। इतना ही नहीं, *प्रकट ईश्वरवाद* है। क्योंकि इस योग में संसार, परमार्थ और ईश्वर से भिन्न नहीं है। इसका नाम सिद्धमार्ग है। यह प्रत्यक्षतः मोक्षपंथ है। अस्तु।

अब ध्यान में नीलाकाश उदित होने लगा और उसके साथ अनन्त सामर्थ्य से पूर्ण एक बिन्दु अन्तर में दिखायी देने लगा। उसको देखकर मानो आँखें फट जातीं। पलकें न खुलतीं और न बन्द होतीं। वह बिन्दु मुझे बहुत आकर्षित करता। बाहर भी एक नयी ज्योति दिखायी देती, और ध्यान

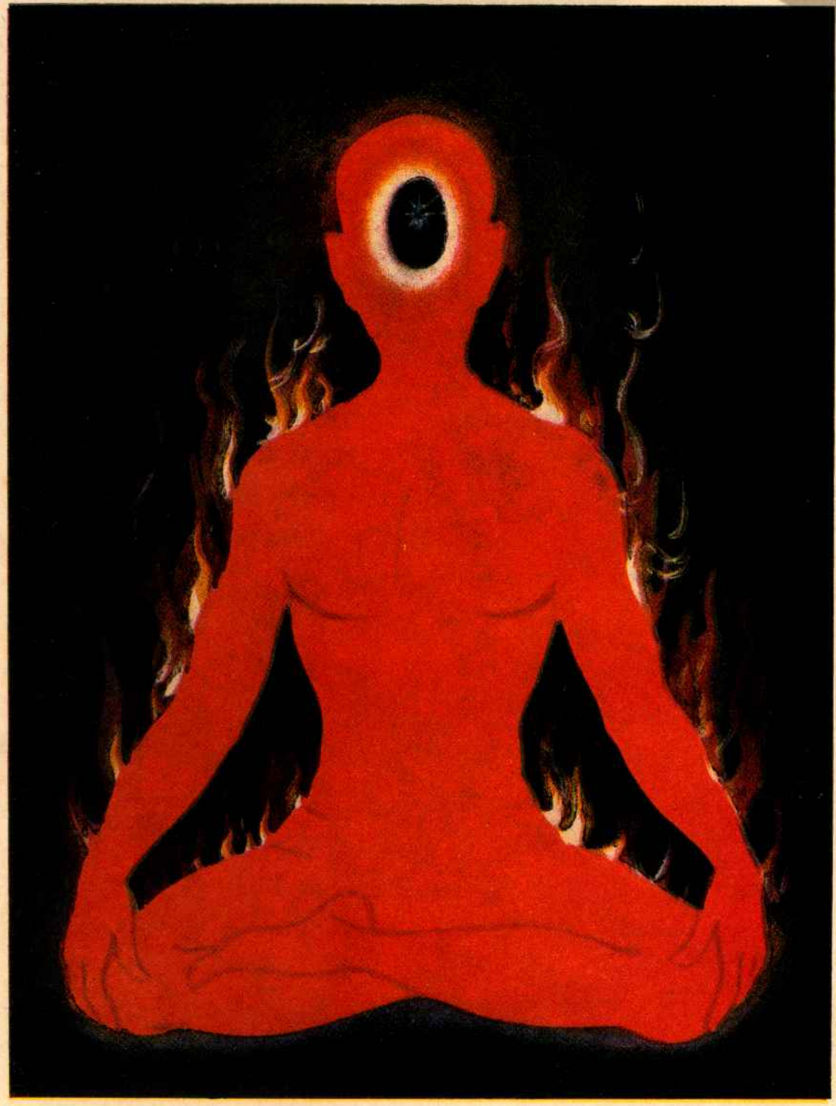

जीवात्मा के ज्योतिर्मय चार शरीर
रक्त, श्वेत, कृष्ण, नील

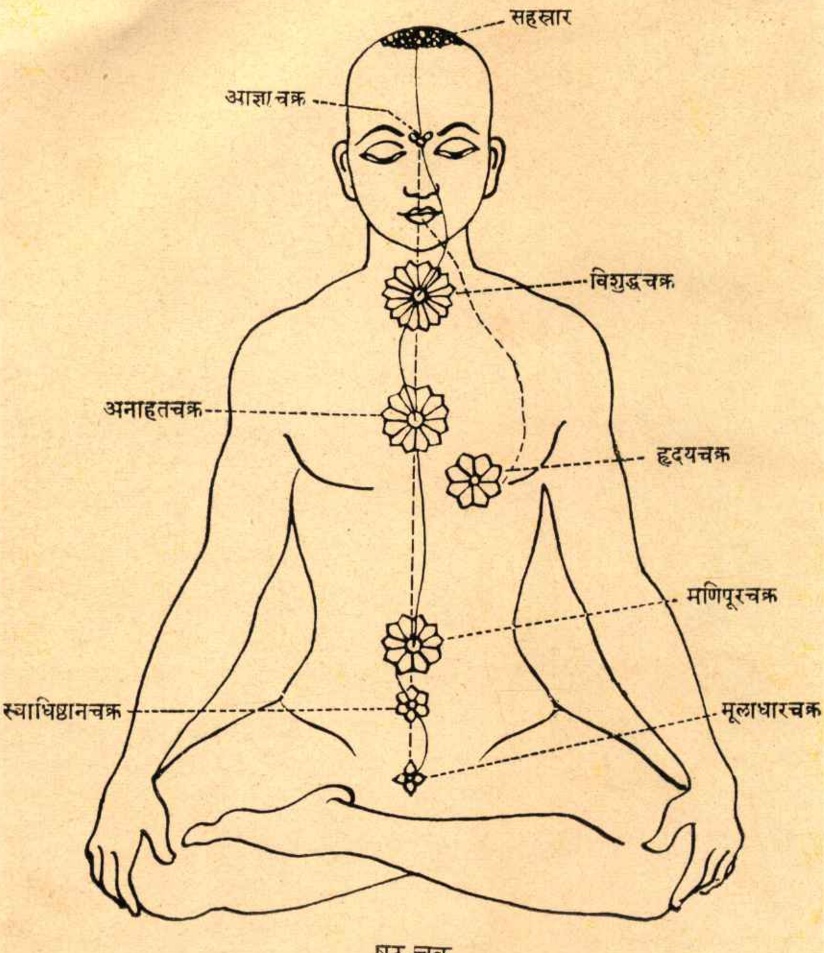
सहस्रार
आज्ञा चक्र
विशुद्धचक्र
अनाहतचक्र
हृदयचक्र
मणिपूरचक्र
स्वाधिष्ठानचक्र
मूलाधारचक्र

षट्-चक्र

लगते ही वह कुण्डलिनी महामाया तरह तरह के रूप लेकर आ जाती। लेकिन अब उसके रूप कैसे भी हों, मेरा एक ही भाव था कि वे पराशक्ति हैं, चितिदेवी हैं। नीलज्योति भी आती-जाती। ऐसा होते होते आँखें भ्रूकुटियों के पीछे किंचित् ऊपर चढ़ जातीं, मानो आँखें कहीं चली गयी हों। उस समय कपाल प्रदेश में कुछ विशेष कार्य होता था। वहाँ भी कुछ चक्र हैं। उनकी शुद्धि के निमित्त ही यह क्रिया होती थी।

नीलेश्वरी

मेरा ध्यान अब कृष्णेश्वरी से आगे नीलेश्वरी में होने लगा। ध्यान को बैठते ही अंगों में एक शांत क्रिया, क्रियोत्तर नाड़ियों में एक नयी शक्ति का प्रसरण होते ही रक्त, श्वेत, कृष्ण, नील ज्योतियाँ उदित होतीं। ध्यान पूर्ण स्थिर होता, कभी कभी गहरी तन्द्रा लगती, तन्द्रा में लोकान्तर की यात्रा करता। बैठे बैठे सब देख लेता। रोज कुछ न कुछ अनुभव होता ही। शरीर हलका, पतला, चपलतायुक्त, निरोगी और बलवान बनता गया। अब ध्यान में मध्य नाड़ी (सुषुम्ना) पूरी दीखती। उसका सुवर्णमिश्रित रजत के समान वर्ण है। वह स्तम्भ के समान है। सभी नाड़ियों को वहाँ से स्फूर्ति मिलती है। साधक को ध्यान करते करते कभी पिछले भाग में मूलाधार में जो पीड़ा होती है, वह मध्य नाड़ी से इतर नाड़ियों में शक्ति-प्रसरण के कारण होती है। कभी हृदय में मुझे एक नयी क्रिया होती। उस क्रिया के होते ही एक अण्डाकृति तेज का गोला दृष्टि में आ जाता। वह अंगुष्ठ-प्रमाण ज्योतिर्मय पुरुष का दर्शन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (३-१३) में उसका वर्णन इस प्रकार दिया है—**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।**

सर्वज्ञलोक

अब मुझे ध्यान में रक्त, श्वेत, कृष्ण और नील से भिन्न एक ज्योति नज़र आती। दृष्टि में आते ही उसमें अनेक लोक दिखायी देते। वह ज्योति एक फीके केसरी रंग की थी। उसके बीच फीके नीले रंग की अनन्त चिनगारियाँ रहतीं। इस केसरी ज्योति में स्वर्णकान्ति की एक मन्द रोशनी भी रहती। वह अति ही मधुर और प्यारी लगती है। मेरे ध्यान के पूर्वानुभव की जो

चतुरंगी ज्योतियाँ थीं, उनके भीतर से ही यह भासमान होती थी। जिस समय यह नयी ज्योति दीखती, मेरा अन्तर अति ही जागरूक गति से वहाँ का अवलोकन करता। क्योंकि इस नयी ज्योति में अनेक दृष्टान्त वा दूरदर्शन मुझे होते थे। जैसे मैं ध्यान करते करते तन्द्रालोक में जाता, वैसे ही इस ज्योतिर्मय स्थान में भी जाता। अब मैं इस स्थान को 'सर्वज्ञलोक' कहूँगा।

यह स्थान जिन ऋषियों को प्राप्त है, वे सर्वज्ञ होते हैं। हमारे भारत के पुरातन महाऋषियों ने इस स्थान को ध्यानयोग द्वारा प्राप्त किया था। उन ऋषियों को यह स्थान अपनी इच्छानुसार जागृति में भी प्राप्त था। ध्यानयोग में उस पारमेश्वरी पराशक्ति की कृपा से ही कभी कभी वहाँ की गति प्राप्त होती है। जब सर्वज्ञलोक में चित्त स्थिर हो जाता, तब मैं बहुत दूर दूर तक के अनेक लोकों को देखता। वह मेरा देखना पूर्ण सत्य है। कभी बाह्य जगत के भी कुछ उत्पात, जैसे कि कहीं मिल में आग लगना और बहुत नुकसान होना, नदी में बाढ़ आना आदि दिखायी देता। वे घटनाएँ सचमुच ही घटतीं। यह मैं अपनी इच्छा से नहीं देखता था। केवल चिति भगवती की कृपा से ध्यान की गति उस सर्वज्ञलोक में जाने से यह सब दिखायी देता था। ऐसे ही अनेक चमत्कारयुक्त दृश्य ध्यान में देखता था।

कुछ योगीजनों को यहाँ से ही सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। *साधारण सिद्धियाँ ध्यान में जल्दी प्राप्त होती हैं। परन्तु उच्च साधक पूर्णता का ही अभिलाषी है और सच्चा गुरुपुत्र है। वह इन सिद्धियों को कुछ नहीं समझता। न किसी दूसरे को अपनी सिद्धियों की प्राप्ति के विषय में कुछ बताता है। ध्यानयोग के विद्यार्थियो और विद्यार्थिनियो! महान गुरुभक्ति से अपने अन्तर में प्रत्यक्ष क्रियाशील होकर रहनेवाली गुरुकृपाशक्ति को सन्मान से रखना। अपना महत्त्व, अपनी गंभीरता, अपनी निष्ठा और पुण्यमय शरीर को सदैव पूरी तरह ख्याल में रखना।*

अब प्रतिदिन नीलेश्वरी का ध्यान होता और अनेक दृष्टान्त दीखते। नीलेश्वरी के ध्यान में आनन्द की अनुभूति होते ही मेरे कर्णमूल में दिव्य संगीत की ध्वनियाँ होने लगीं। मैं प्रथम बायें कर्ण में सुनने लगा। किसी ग्रन्थ में लिखा है कि बायें कर्ण में नाद के उदय होने पर थोड़े ही समय में

मृत्यु हो जाती है। कई मित्र मुझे डराने लगे। मैंने कहा, मृत्यु निश्चित समय में, अदृष्ट में लिखे अनुसार ही होगी। ऐसा कह कर मैं ध्यान की मात्रा को बढ़ाता रहा। अब प्रेम से नीलेश्वरी का ध्यान करता। संगीत नाद के साथ साथ बायें कर्णमूल में एक सूक्ष्म ध्वनि को सुनने लगा। ध्यान अब पहले से भी ज़्यादा सूक्ष्म होने लगा। क्योंकि एक तो ज्योतियों का अवलोकन करता था और दूसरा, संगीत का श्रवण भी करता था। मैं वीणा के तन्तुओं की चिन्-चिन्-सी ध्वनि का श्रवण करता।

एक बार गुरुदेव से नाद के विषय में पूछने की इच्छा हुई। हमेशा मैं एक निश्चित समय पर गुरुदेव के दर्शन के लिये जाता था। उस दिन अनिश्चित समय पर गया। सामने खड़ा हो गया। मुझे पता था कि वे सर्वज्ञ महामुनि अपना सिर हिलाते हुए पूछेंगे, 'क्या?' ऐसा ही हुआ। 'हूँ' करके सिर हिला दिया। मैंने कहा, "बाबा, लोग कहते हैं कि बायें कर्ण में नाद सुनने से मृत्यु होती है।" बाबाजी बोले, "बायाँ क्या, दाहिना क्या? दोनों राम के रे। हाँ! दोनों कान राम के हैं। नाद कर्ण में नहीं रे, कर्णमूल में, अन्तराकाश में।" यह बात सत्य है कि नाद न दाहिने का न बायें का। न आगे का है न पीछे का। वह अन्तराकाश में गूँजने वाला, एक दिव्य रसमय देव-संगीत है। वह तो चिदाकाश का शब्द है। वह अमंगल मृत्यु के लक्षण बताने वाला नहीं है। यह नाद परमात्मपद दिलाने वाला, पश्यंती वाक् और चिति की स्फूर्ति का मन्त्र है। इस नाद से ही ध्यान-योगी और ज्ञानीजन अपने मूल स्थान का पता लगाते हैं। ज्ञानेश्वर महाराज का कथन है: *नादाचीये पैलतीरीं, तुरीयाचिये माझे घर।* अर्थात् नाद के उस पार मेरा तुरीयारूपी घर है। ऐसा परम मंगलकारी नाद मृत्युसूचक नहीं, वह तो अमरपदसूचक है।

अब मैं नीलेश्वरी में चितिचमत्कार देखता और नादों का श्रवण करता। रोज़ ध्यान करता। अब ध्यान के अतिरिक्त अन्य किसी में रुचि नहीं थी। एक बार ध्यान करते करते दोनों आँखें ऊपर चढ़ गयीं। चढ़ते ही उलट गयीं और वहीं स्थिर हो गयीं। ऊपर की ओर मध्य में श्वेत ज्योतियों से पूरित आकाश देखा। उस आकाश के चारों ओर दिव्य नाद सुनते सुनते ध्यान वहाँ स्थिर हो गया। उसी क्षण एक अत्यन्त सुन्दर देदीप्यमान नील नक्षत्र देखा। वह नील बिंदु नहीं था, पर अनुपम कान्तियुक्त था। वह वैसा ही था जैसा

बाह्य जगत में कभी शाम को पश्चिम में और कभी प्रातः से पहले पूर्व दिशा में, शुक्र नाम से प्रसिद्ध ग्रह चमकता है। वैसा ही रमणीय नक्षत्र सहस्रार के ऊर्ध्वाकाश के मध्य स्थान में अचल रूप से स्थित है। उसको देखते देखते ध्यान की मात्रा पूर्ण हो गयी। तन्द्रा खुल गयी। मैं बाहर फिरने लगा। गांवदेवी मन्दिर के पिछले पहाड़ पर गया और विचार करने लगा कि वह कौन-सा तारा है। मैं पहाड़ की उस जगह बैठा था जहाँ वर्तमान 'श्रीगुरुदेव आश्रम' का तुरीय मन्दिर बना हुआ है। तब वहाँ जंगल था। कभी कभी आठ नौ बजे तक मैं वहाँ अकेला बैठता था। उस दिन जब वहाँ बैठा था, एक नक्षत्र आकाश से नीचे उतरकर आया और फिर कहीं दूर चला गया। वह भी वैसा ही था जैसा मैंने ध्यान में देखा था। अब मन में शंका होने लगी कि मैंने जो देखा वह क्या था। समझ में नहीं आया। पुनः ध्यान, आनन्द, मस्ती, प्रेमभाव स्फुरित होने लगे। इस भांति आगे चला। ऐसा होते होते फिर से ध्यान में वह नक्षत्र और आकाश दिखायी देता। उस नक्षत्र का तेज स्थिर था। वस्तुतः यह नक्षत्र मस्तक के मध्य सहस्रार में दीखता है।

अब ध्यान अति ही सूक्ष्मरूप से होता था। इस अवस्था में ध्यान-योगियों को अत्यंत सावधानी की ज़रूरत है। केवल *नील-दर्शन होने से मुक्ति प्राप्त हो जायेगी, परंतु परमात्मा का साक्षात्कार पूर्णरूप में नहीं होगा।* एकदेशीय ही रहेगा। नीलेश्वरी में और उसके अन्तर्गत आत्मा में प्रवेश होना चाहिये। यदि मुमुक्षु नीलेश्वरी नहीं देखे तो उसकी स्थिति उस ज्ञानहीन की सी होगी, जो शरीर देखता है, पर आत्मा नहीं। इतना मात्र सत्य है कि नीलेश्वरी का उदय भी समाधानकारक है।

ईश्वर का पूर्ण साक्षात्कार करनेवाले महाभाग संतशिरोमणि श्रीतुकाराम महाराज अपने अमर काव्य में कहते हैं :

तिळा एवढें बांधूनि घर। आंत राहे विश्वंभर ॥१॥
तिळा इतुकें बिंदुलें। तेणें त्रिभुवन कोंदाटलें ॥२॥
हरिहराच्या मूर्ती। बिंदुल्यांत येती जाती ॥३॥
तुका म्हणे हे बिंदुलें। तेणें त्रिभुवन कोंदाटलें ॥४॥

साक्षात्कार के पथिक अन्तर-साक्षात्कार प्रत्यक्षवत् करते हैं। तुकाराम महाराज अपने इस काव्य में कहते हैं कि विश्वंभर परमात्मा तिल जितना सूक्ष्म

घर बनाकर उसमें रहता है। उसे विश्वंभर इसलिये कहते हैं कि वह विश्व-ब्रह्माण्ड का भरणपोषण करता है। जो विश्व का मालिक, जीवों का परम आत्मा, प्राणों की गति, योगी-ज्ञानी-प्रेमी की अन्तर समझ की मति, तथा सर्वज्ञत्व कलायुक्त है, विश्वंभर तिल जितना छोटा घर बनाकर उसमें निवास करता है। जिस प्रकार बहुत फैलने वाले बड़े बड़े वृक्षों का विकास एक छोटे बीज से होता है, यानी छोटा सूक्ष्म बीज ही महान वृक्ष के रूप में विकसित होता है, वैसे ही अनन्ताकारों में, अनन्त शरीरों में और अनन्त रूपों में व्यक्त होने पर भी वह विश्वंभर तिल जितने छोटे घर में रहता है। अन्य शब्दों में कहें तो व्यापक वृक्ष में मूलभूत सूक्ष्म बीज है, विशाल वृक्ष छोटे-से बीज में समाया हुआ है, लेकिन बीजरूप में बीज की अलग स्थिति है, उसी प्रकार विश्वंभर संपूर्ण जगत में, सभी में पूर्ण व्याप्त होकर भी बिन्दु से छोटे घर में स्थित है। जैसे एक बीज से उपजे हुए वृक्ष के अनन्त बीज होने पर भी वे एक हैं, वैसे ही एक बिन्दु अनन्तरूप में प्रकट होने पर भी अपने मूल रूप की रक्षा करता है। उस बिन्दु में स्थित परमात्मा का एकत्व नष्ट नहीं होता। उसकी मूल शक्ति नष्ट नहीं होती। वह अपनी महिमा में पूर्ण और निर्विकारी ही है।

एक और उदाहरण लेकर इसे स्पष्ट कर सकते हैं। हम जानते हैं कि मानव से ही मानव पैदा होता है और वह भी पूर्ण रूप से वैसा ही होता है। पिता के एक बिन्दु वीर्य से पुत्र होता है। पुत्र होने पर भी पिता का पूर्णत्व नष्ट नहीं होता। पिता अपनी गति में, अपनी महिमा में पूर्ववत् पूर्ण रहता है। पिता के बिन्दु से उत्पन्न पुत्र भी पिता जैसा ही पूर्ण है। पिता के समान उसका रूप होता है और पिता के समान नीति-रीति इत्यादि सब बातें होती हैं। यह कहा जा सकता है कि पिता ही पुत्ररूप से है। अतएव पुत्र पुत्र नहीं, पिता है। इसी न्याय से जगत का मूल, परमात्मा स्वयं ही अपने में चितिशक्ति का स्फुरण कर अनन्त जगत को अपने में आप ही रचता है, स्वयं अलग होकर भी उसी में व्याप्त रहता है। स्वयं अपने में एक घर बनाकर उस घर में आप ही रहता है। तुकाराम महाराज का कथन – 'तिळा एवढें बांधूनि घर। आंत राहे विश्वंभर॥' कितना विवादरहित, शंकारहित और सत्य है।

जो तिल जितना छोटा बिन्दु है, वह आत्मा का घर है। उसके अन्दर

परमेश्वर है। वह पूर्णरूप आत्मदेव है। यदि बिन्दु का दर्शन हुआ तो समझना कि तुम्हारा अन्तरात्मा उसीके अन्दर है। उसका ही मैंने नीलेश्वरी कहकर वर्णन किया है। वही नीलेश्वरी—'तिळा इतुके'—अर्थात् तिल जितने प्रमाण की, एक मकान जैसी है। उस मकान में परमात्मा रहता है। तुकाराम जी कहते हैं : 'तिळा इतुके बिंदुले। तेणें त्रिभुवन कोंदाटले॥' वस्तुतः उस बिन्दु में त्रिभुवन समाया हुआ है। विचार करो! स्वर्गलोक, मृत्युलोक, पाताललोक अथवा 'भूर्भुवःस्वर्' ये त्रिभुवन उसमें समाये हुए हैं।

जीवात्मा के एक के बीच एक ऐसे चार शरीर हैं। इनका मैंने रक्त, श्वेत, कृष्ण, नील कहकर वर्णन किया है। ये रक्त नामक आप का स्थूल शरीर, श्वेत नामक सूक्ष्म शरीर, कृष्ण नामक कारण शरीर और नील नामक महाकारण शरीर हैं। महाकारण तिल के बराबर नीलेश्वरी के बीच में है। उस तिल जितने नील बिन्दु में त्रिभुवन, त्रिशरीर व्याप्त हैं; उसे आप ध्यान में पूर्णरूप में समझेंगे। इतना ही नहीं—'*हरिहराच्या मूर्ती। बिंदुल्यांत येती जाती॥*'—हरि, हर, ब्रह्मा त्रिमूर्ति इस बिन्दु के अन्दर से आते जाते हैं। यह बिन्दु इन तीन मूर्तियों के रहने का मकान है। सिद्धमार्ग के विद्यार्थियो! अब आप विचार कर सकते हैं कि आपने ध्यान में अपने अन्दर जो बिन्दु देखा वह कितना महान, कितना पूर्ण और कितना ऊँचा है। आपके अन्दर की इतनी छोटी नीलेश्वरी में त्रिभुवन का धारणहार परमेश्वर रहता है इसलिये, हे मानव! परमात्मा को सन्मान से, सत्संग द्वारा अपने अन्दर देखो। यदि तुमने अन्तर नहीं खोजा तो क्या देखा? पैरिस, लण्डन, न्यूयॉर्क तथा अन्य देशों को देखकर भी इस भुवन के एक कोने का कुछ भाग ही देखा! तुम्हारे अन्दर त्रिभुवनस्थ परमेश्वर है। ये बातें केवल सुनने या विचार करने की नहीं हैं, ये तो अभ्यास के बल से साध्य करने योग्य एवं साध्य होनेवाली हैं।

यह नीलेश्वरी महान पवित्र तीर्थरूप है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं :

डोळांची पाहा डोळां शून्याचा शेवट।
नीळ बिंदू नीट लखलखीत॥

अर्थात् आँख की भी आँख, शून्य से भी उस पार, नील बिन्दु है, जिसका स्वरूप चमचमाता याने कान्तिपूर्ण महातेजयुक्त है। ऐसा

चमचमाता परम नीलेश्वरी का रूप ध्यान में प्रत्यक्ष आनेवाला है। हे सिद्धविद्यार्थियो और विद्यार्थिनियो! आप इसका दर्शन कर सकते हैं। लेकिन यह याद रखनी चाहिये कि इतने महान दर्शन के लिये आप की रहन-सहन कितनी श्रेष्ठ होनी चाहिये। आप में पात्रता होनी चाहिये। आप की संगति, भाषा, आप के सभी विचार परमात्मामय होने चाहिये। जिसको नील-दर्शन हो गया वह कितना पुण्यात्मा है! स्कन्द पुराण में कहा गया है :

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँ-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

जिस साधक में चिति-विकास हो गया उसका समस्त कुल पवित्र हो गया। क्योंकि वह शक्ति सभी को पवित्र कर देती है। ऐसे पुत्र-पुत्री को पाकर उसकी जननी भी कृतार्थ हो जाती है। यह पृथ्वी भी उसे धारण करती हुई पुण्यवती कहलाती है। वही श्रेष्ठ कुल है जिसमें ऐसे पवित्र पुण्यात्माओं का जन्म होता है। जिन घरों में शक्ति-विकसित नर और नारियाँ, बालक और बालिकाएँ हैं, वे घर सर्वतीर्थमय हैं—इसमें सन्देह ही क्या है! ऐसे आत्माओं का चित्त, अन्तरशक्ति का विकास होते होते, अपार संवित् एवं सुख के सागर परब्रह्म में लीन हो जाता है। जहाँ ध्यानयोग के विद्यार्थी या विद्यार्थिनियाँ हैं, वहाँ सभी तीर्थों का संगम होता है, वे पवित्र पुण्य-दर्शन हैं।

श्रीमद् भागवत में भगवान कहते हैं :

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥ (११-१४-२४)

गुरुकृपा के प्रभाव से जिसकी अन्तरशक्ति जाग जाती है उसमें दिव्य प्रेम प्रकट हो जाता है, उसकी वाणी गद्गद हो जाती है, वह जब बोलता है तब चारों तरफ़ अपार सुख बिखेरता है। उसका चित्त प्रेम से हर क्षण

पिघलता रहता है। वह प्रेमावेश में बार बार रोता है, कभी हँसता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने और नाचने लगता है। सिद्धयोग का ऐसा साधक, भगवान का परम भक्त होकर, तीनों लोकों को पवित्र कर देता है। प्रेमानंदमयी चिति का कार्य क्रियारूप होते ही, नीलेश्वरी के दर्शन पाते ही, अन्तर से प्रेम प्रकट हो जाता है। प्रेम के प्रकट होने से वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत होता है। ऐसे ध्यानशील विद्यार्थी अपने सर्व शरीरों को पवित्र कर लेते हैं। वे जहाँ जहाँ भी ध्यान करते हैं उस उस स्थान को पुनीत कर देते हैं। ऐसे भक्त अपने संसर्ग से तीर्थों को भी शुद्ध कर देते हैं। वे भक्त शास्त्रों को परम सत्यशास्त्र बना देते हैं, क्योंकि उनके हृदय का चितिस्फुरण ही शास्त्ररूप से प्रकट होता है। वे सभी कर्मों को मंगलप्रद बनाते हैं, क्योंकि उनके सभी कर्म चितिप्रेरित होने से सत्कर्म ही होते हैं। मेरे गुरुदेव ने जिसको आशीर्वाद दिया उसका मंगल हुआ, जिनको गालियाँ दीं, वे भी कीर्तिवान बन गये हैं। ऐसे पुरुषों की सर्व क्रियाओं में चिति की प्रेरणा रहती है। उनके उच्छिष्ट भोजन में चिति प्रवाहित होती है। उनके स्नानघरों में भी सर्व मंगलों को देनेवाला चितिपुंज विद्यमान रहता है।

एक बार लिखते लिखते मेरे शरीर में तीव्र वेग आ गया। मेरे पास कालेज का एक लड़का खड़ा था। वह नया नया आया हुआ था। मैंने कहा कि मेरा सिर भारी हो गया है, उसे थोड़ा दबाओ। उसने दबाया। दबाते दबाते, खड़े खड़े ही उसके शरीर में वह चितिशक्ति प्रवेश कर गयी। उस लड़के को दिव्य शक्तिपात हो गया। वह महामुद्रादि करने लगा। इस तरह उसने ऊँची योगभूमिकाएँ प्राप्त कीं। चिति की महिमा अनन्त है। जो जाने सोई माने। नष्ट हृदय, भ्रष्ट मन, क्लिष्ट चित्त के मूढ़ जन चिति की सामर्थ्य और रहस्य को क्या जानें! जहाँ शून्य है, वहाँ बिना सामग्री के जो एक अनुपम रमणीय विश्व रच देती है, वह माता गुरु द्वारा क्या नहीं करा सकती?

आप को एक कौतुकपूर्ण बात बताता हूँ। मेरा स्नानगृह अच्छा और सुन्दर है। अपने स्नानगृह में मैं किसी को स्नान नहीं करने देता। यहाँ तक कि कई वर्षों से दीक्षित किये हुए मेरे प्यारे शिष्य व्यंकप्पा के अतिरिक्त मैं किसीको भी उसे साफ तक नहीं करने देता। ऐसा सुन्दर पवित्र स्नानगृह शक्तिपात करनेवाले योगीजनों के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अपने गुरुदेव

के स्नान किये हुए पानी को हम लोग तीर्थ समझकर पीते थे, क्योंकि उसमें नित्यप्रति अनेक चितिकिरणपुंज पसरे हुए रहते थे। इसलिये किसी भी आदमी को मैं अपने स्नानगृह में प्रवेश नहीं करने देता। एक दिन सिद्धयोग के मेरे एक प्रिय विद्यार्थी ने, जो एक एयरलाइन्स का ऑफिसर है, मेरा स्नानगृह साफ करने की आज्ञा माँगी। मैंने 'करो' कह दिया। वह साफ करते करते चार घण्टे तक वहाँ बैठ गया। स्नानगृह में फैले हुए चितिपुंज उस पर गिरे, याने उसमें प्रवेश कर गये, उसे शक्तिपात हुआ और चार घण्टे तक वह समाधि अवस्था में रहा। मैंने सोचा, 'अब तक आया नहीं'। जाकर देखा तो वह स्नानगृह के अन्दर पद्मासन में मस्त बैठा था। फिर उसकी समाधि भंग करके मैं उसे उठाकर लाया। अब उसके अपने ध्यान-कक्ष में दूसरे को भी ध्यान लग जाता है।

यह लिखने का हेतु इतना ही है कि सिद्धविद्यार्थियों के शरीर से चितिशक्ति का एक प्रवाह इस तरह बाहर निकलता रहता है। हमारे गुरुदेव की प्रत्येक क्रिया में चिति की किरणें प्रवाहित होती थीं। किसी पर भी उनके लग जाने से उसे दिव्यानुभूति हो जाती थी। ऐसे सिद्धपुरुषों की प्रत्येक क्रिया में चित्शक्ति ही कार्यान्वित होती रहती है। उनकी कहीं भी अंगुली लग जाये तो उसमें से शक्ति दूसरे के अन्दर प्रविष्ट हो जाती है। उनके शरीर का कहीं भी स्पर्श हो जाये, वहीं शक्ति गिर जाती है। उनका पहना हुआ पुराना कपड़ा पहनने से भी उनकी शक्ति का अन्दर प्रवेश हो जाता है। इसलिये हे सिद्धविद्यार्थियो, जहाँ तुम्हारा ध्यान होता है वह देवघर बनता है। जहाँ तुम्हारा रहना होता है वह महातीर्थ होता है। तीर्थों को तुम से ही पवित्रता है। मन्त्र को तुम से चैत्यदशा प्राप्त होती है। बहिरंग योग की उपासना करनेवालों के जो आसन, मुद्राएँ, प्राणायाम आदि योग के अंग हैं, वे तुम्हारे स्पर्श से दूसरों में अपने आप क्रियाशील हो जाते हैं। तुम्हारे श्वास-प्रश्वास बहुमूल्य हैं। यह सदा याद रखो कि तुम्हारे रोम-रोम से चितिकिरणपुंज बाहर निकलते हैं। इसलिये तुम्हें यह ज्ञान होना चाहिये कि जिसमें सर्व मंगलों की मंगल, परमाराध्य दैवत चितिशक्ति क्रियारूप में मूर्तिमंत होकर निवास करती है वह चितिक्षेत्र तुम हो। श्रीगुरु ही पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति के रूपमें तुम सब के अन्दर बैठे हैं। अपने को छोटा मत समझो, नादान मत समझो। अथवा अपने को कम उम्र के

और पराधीन भी मत समझो। जिसके प्रभाव से यह जगत है, जो स्वयं जगद्रूप है, ऐसी जगत को सिद्ध करनेवाली चिति पारमेश्वरी तुममें प्रत्यक्ष रूप से रहती है। इसलिये तुम तीर्थों के तीर्थ हो, मन्त्रों के मन्त्र हो, देवताओं के देवता हो और पूजा की पवित्रता हो। अपनी इस योग्यता को समझकर सावधानी और निर्मलता से, जितना बने उतना मौन रहकर, सदाचार-परायणता से अपना जीवन बिताओ। पाश्चात्य दिखावटी और भ्रष्टशील रीति-नीति के भावावेश में मत फँसो।

एक बार मैं बम्बई गया था। वहाँ कोई एक बड़ा ऑफिसर मुझे मिलने आया जिसका नाम मैं नहीं लेना चाहता। मैंने पूछा, "अकेले क्यों आये जी, अम्मा किधर हैं?" उसने बताया, "बाबाजी, वह स्कूल गयी है।" मैंने आश्चर्य से कहा, "अरे, इस उम्र में स्कूल!" उसने उत्तर दिया, "बाबाजी, वह 'डान्स स्कूल' गयी है।" उसके चले जाने के बाद मैंने दूसरों से पूछा, "यह 'डान्स स्कूल' क्या है?" तब उन लोगों ने बताया कि ऐसे स्कूल में नयी पद्धति का पाश्चात्य 'डान्स' सिखाया जाता है जिसमें हाथ-पाँवों की क्रियाएँ करनी होती हैं। मैंने सोचा, 'वह डान्स तो नंगा नाच है।' किसी दूसरे पुरुष के अंगस्पर्श से सीखे हुए नंगे नाच की तुलना में कुण्डलिनी-जागरण के प्रभाव से हमारे सिद्धविद्यार्थियों और सिद्ध-विद्यार्थिनियों का शास्त्रीय, भावमुद्रायुक्त, कलात्मक नृत्य कितना उच्च है! ऐसे पाश्चात्य 'डान्स' तुम जैसे पवित्र सिद्धविद्यार्थियों के योग्य नहीं हैं। फिर पश्चिम में एक और प्रथा है कि वहाँ छोटे छोटे बालक-बालिकाएँ एक दूसरे के साथ सटे हुए रहते हैं, बिना कारण बोलते-चालते, हँसते-कूदते हैं। इस तरह रहने से उनका षंढत्व बढ़ रहा है। तुम इसका अनुकरण मत करो। तुम्हारी अंतरशक्ति कुपित हो जायेगी। मैं तुमसे और एक बात याद रखने के लिये कहता हूँ कि वीर्यत्याग से मलत्याग श्रेष्ठ है। यह बात केवल ब्रह्मचारियों, संन्यासियों और साधुओं के लिये ही नहीं है। क्योंकि उनका न तो औरत से सम्बन्ध है और न संसार से है। यह बात संसारियों के लिये है। तुम संसार में रहो, मस्त रहो। पति-पत्नी परस्पर देव समझकर अति प्रेम से रहो। अपना तेज बढ़ाओ। जैसे एक-एक पैसा जमा कर करके बचत करते हो वैसे ही वीर्य की बचत करो। तुम सब को याद रखनी चाहिये कि वीर्य के एक बिन्दु से एक तेजस्वी मनुष्य पैदा हो सकता हैं।

उस बिन्दु के तेज की कीमत का स्मरण रखो। इस तेज के चले जाने से कितनी भी लाली लगाओ, 'पावडर क्रीम' लगाओ, वह शरीर निस्तेज ही रहता है। वह तेज चितिशक्ति का वाहन है। उससे चिति को खरीदा जाता है। वह कुण्डलिनी को क्रियाशील बनाने का यन्त्र है। समाधि को स्थिर करने का परम साधन है। जो मानव वीर्यहीन है उसकी क्या दशा होती है, इसको बारीकी से देखो।

मेरे प्यारे सिद्धविद्यार्थियो, हमारा इस विषय में यह कहना है कि तुम चिति के मूर्तिमंत स्वरूप होने से अपने इस स्वरूप को यथार्थ जानकर अपने आप को पवित्र रखो। क्योंकि तुम्हारे अन्दर वह तेज प्रकाशित रहता है जिसके एक बिन्दु से ही सूर्य, चन्द्र, तारे बनते हैं। तुम्हारी अपनी थोड़ी-सी साधना से ऐसी अवस्था आ जाती है कि तुम्हारे संग से, तुम्हारे स्पर्श से दूसरों में भी चितिशक्ति प्रवाहित होती है। अरे, इतना अनुभव भी बहुत हो गया। गुरुकृपापात्र बनकर जब अल्पकालीन साधना से प्राप्त हुए तेज द्वारा अपने पड़ोसियों में भी तुम शक्ति-स्पन्दन पैदा कर सकते हो, तब यदि तुम बहुत काल तक पूर्णमात्रा में उसका अनुष्ठान करते रहो तो तुम्हारी योग्यता कितनी बड़ी होगी! क्या तुम्हारी महानता होगी! क्यों तुम मातृ और पितृ रूप से जगत में पूजापात्र नहीं बनोगे?

अब सिद्धविद्यार्थियों को मैं एक चेतावनी देता हूँ। तुमने अल्पकालीन पवित्रता से, ध्यान द्वारा जिस शक्ति का संग्रह किया है वह तो ठीक है, परन्तु यह शक्ति, संग्रह पूर्ण होने से पहले निकल भी जा सकती है। इसको सम्भाल के रखो। उठते-बैठते, आते-जाते, लेते-देते, क्रिया करते तुम सावधानी से रहो। चिति-संग्रह को बढ़ाओ, घटाओ मत। कुकर्मी, कुदृष्टिवाले, दुराचारी, भ्रष्टप्रवृत्तिशील व्यक्ति की बातें सुनकर साधन की महत्ता को कम मत करो। यदि किसी ऐसे पाखंडी का संग प्राप्त हो और वह तुमसे उल्टी-सुल्टी बातें करे तो उसके मुँह पर थूक दो और आँखें मीचकर प्रार्थना करो, 'हे सद्‌गुरु! आप ही परम पिता हैं। आप ही मेरी माता हैं। मुझे बचाओ।' इस तरह जागरूक रहने से तुम्हारी साधना तीव्र गति से बढ़ेगी। मैं सिद्धविद्यार्थी की महत्ता का इसलिये वर्णन करता हूँ कि ध्यान में नीलेश्वरी अथवा नीलबिन्दु के उदय होते ही उसकी योग्यता बढ़ जाती है। इस विषय में ज्ञानेश्वर के एक अभंग का भावार्थमात्र लिखता हूँ। उसे याद रखो।

ज्ञानेश्वर उवाच : अपने नयन के बीच में जो पुरुष रहता है उसको जो मनुष्य देखता है उसके चरणों को मैं अपना निवासस्थान बनाऊँगा। नयन के बीच में स्थित दिव्य नीलज्योति को जो गुह्य भाव से देख लेता है उसके स्वरूप का मैं निरंतर ध्यान करूँगा। हे जनो! नयनों के शून्य में जो नील है, उसको जो देखता है, वही धन्य और भाग्यवान है।

अब ज्ञानेश्वर का एक और अभंग कहने के लिये मैं उत्सुक हूँ, क्योंकि यह अभंग मेरा आराध्य दैवत है। मेरा ही नहीं, बल्कि मोक्षमार्ग में चलनेवाले सभी जनों के लिये यह महामन्त्र है। इतना ही नहीं, अभी जो कहने चला हूँ वह अन्तर का साक्षी है, साक्षात्कार का प्रमाण है और गुरु-रहस्य की कुंजी है। इसलिये यह अभंग मेरे लिये मन्त्रतुल्य है। हे मेरे प्यारे सिद्ध-विद्यार्थियो! सुनो। जो गुह्य से भी अति गुह्य है उसे ध्यान से पढ़ो।

डोळांची पाहा डोळां शून्याचा शेवट।
नीळ बिंदू नीट लखलखीत ॥ १ ॥
विसावों आलें पातलें चैतन्य तेथें।
पाहे पा निरुतें अनुभवें ॥ २ ॥
पार्वतीलागीं आदीनाथें दाविलें।
ज्ञानदेवा फावलें निवृत्तिकृपा ॥ ३ ॥

अर्थात् 'हे सिद्धविद्या के साधकजन! आप के नयन का भी जो नयन है, जहाँ शून्य का अन्त हो जाता है, वह है नीलबिन्दु : शुद्ध, चमचमाता, चमकीला। जिसका उदय होते ही साधक को विश्रांतिस्थान प्राप्त होता है वही चैतन्य आत्मा का परम स्थान है। देखो भाई! इतना ही अनुभव का गुह्य रहस्य है। पार्वती से आदि भगवान परशिव ने यही कहा था। ज्ञानदेव कहते हैं कि मैंने अपने सद्गुरु निवृत्तिनाथ की कृपा से यही देखा।' नीलबिन्दु की ऐसी महानता है जिसका अब तक मैंने नीलेश्वरी कहकर वर्णन किया है। ऐसे बिन्दु के दर्शनमात्र से जीवन्मुक्ति है। परन्तु वह पूर्ण साक्षात्कार वा सिद्धपद वा सिद्धमार्ग की पूर्णता नहीं है। नीलबिन्दु के बारंबार दर्शन होना तुरीयावस्था कहलाती है। नीलदर्शन के अनन्तर यदि साधक की मृत्यु हो जाये तो वह ब्रह्मलोक को जाकर शेष बची हुई साधना को वहाँ पूर्ण करके परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है। अस्तु।

मैं एक महान दिव्य तेज का गोला पुनः पुनः देखता था। उसका तेज दूसरी सब ज्योतियों से अधिक था। ऐसे दिव्य तेज को देखते देखते मेरी ध्यानावस्था उत्तरोत्तर बढ़ती चली। अब भी वे चतुरंगी ज्योतियाँ पूर्व के अनुसार ही ध्यान में प्रथम प्रकट होती थीं। नीलेश्वरी का उदय होते ही, नीलेश्वरी को देखते देखते ध्यानवृत्ति उसमें बहुत काल तक स्थिर रहती। ऐसा होते ही चित्त को अति आनन्दपूर्ण विश्रांति का अनुभव होने लगता। प्राण-अपान स्थिर और क्षीण हो जाता। प्राण नाक से दो अंगुल ही बाहर बहता। अन्दर जाते समय कण्ठ तक ही जाता, हृदय तक तो पहुँचता ही नहीं था। कहीं ध्यानवृत्ति भंग न हो जाय इस डर से उसकी ओर मैं विशेष ध्यान भी नहीं देता था। ध्यान की स्थिरता को बड़ी सावधानी से मैं सम्भालकर रखता था। ऐसा होते होते अनेक दिव्य गन्धें आतीं। ये गन्धें इतनी उच्च जाति की थीं कि उनके आगे मेरे प्यारे भक्तजनों द्वारा लायी गयी भारी-भारी अति सुगन्धित वस्तुएँ भी फीकी पड़ जाती थीं। उस सुगन्ध के समान जगत में और कोई सुगन्ध है ही नहीं। ऐसी दिव्य सुगन्ध से मैं उन्मत्त हो जाता। मन आनन्द में डूब जाता। क्या दिव्य सुगन्ध! ऐसी अनुभूति बहुत काल तक होती रही। इन सुगन्धों के उदय के समय श्वास-प्रश्वास बहुत ही ह्रस्व हो जाता था याने उनकी आने जाने की गति बहुत धीमी हो जाती थी। उस समय सहज में ही विशेष प्रकार का प्राणायाम अपने आप होता था। प्राण की इस प्रकार की गति में प्रेम की ऐसी मधुर और सुन्दर वृत्ति उठती कि मानो वह साक्षात् परमात्मा का ही सत्य एवं प्रकट रूप हो। प्रेम ही परमात्मा है। इसीलिये नारदजी ने कहा है, **अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् (भक्तिसूत्र-५१)** याने इस प्रेम का वर्णन वाणी से हो ही नहीं सकता।

ऐसी सूक्ष्म दशा की अनुभूति करते करते ध्यान में मेरी रुचि और भी बढ़ी। मन की दशा ऐसी विचित्र हो गयी थी कि मैं जो ध्यान करता वह बड़ा मस्त और ऊँचा होता, मगर दूसरे दिन उससे भी बड़ी अनुभूति होती जिसके आगे पहले दिन का आनन्द कुछ नहीं था। पता लगा कि इस आनन्द की तो कोई सीमा ही नहीं है। प्रेम नित्य बढ़ता है। प्रेम में परिसमाप्ति नहीं। इस अनुभूति में एक ऐसा ज्ञान उदित होता कि अभी कुछ और भी आगे है। ध्यान होते होते कभी ध्यान की गति

झट से बदल जाती। आँखें धीरे-धीरे ऊपर चढ़ जातीं और सहस्रार के ऊर्ध्वाकाश में लटक जातीं। दोनों आँखें एक केन्द्र में आ जातीं। अब दोनों को दो अलग अलग चित्र नहीं दिखायी देते, बल्कि एक ही दीखता। इसी को बिन्दुभेद कहते हैं। अहा! सिद्धयोग की क्या देन है! कुण्डलिनी का क्या प्रभाव है! जो ग्रंथ-पठन द्वारा समझा जाता है वह सिद्धयोग द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूति में आ जाता है।

सिद्धलोक को गमन

नील नक्षत्र फिर से मेरे सामने स्थिर हो गया। हिलता ही नहीं था। अपने अन्तर में सहस्रार के ऊर्ध्वाकाश में देखते देखते मैं कई लोकों को चला गया। उस बड़े नील नक्षत्र के सहारे गमन होता था। नीलज्योति नहीं, नीलबिन्दु नहीं, वह नील नक्षत्र था। वह छोटा होने पर भी इतना बड़ा था कि मैं उसके अन्दर समा गया। वह नील नक्षत्र मुझे बहुत दूर ले गया और एक स्थान में ले जाकर उसने मुझे उतार दिया। क्या ही सुन्दर लोक था! वाह! वाह! अब तक जितने लोक देखे थे उनसे यह लोक बहुत रुचिकर था। उसकी इतनी सुन्दर रचना थी कि मैं वर्णन नहीं कर सकता। उसको शब्दों में उतारना या वर्णन करना उसका अपमान करना है। नील नक्षत्र ने मुझे एक दिव्य लोक में छोड़ा। वहाँ मैंने एक बहुत रमणीय रास्ता देखा। अनेक प्रकार के वन, छोटी-बड़ी गुहाएँ, बहते हुए निर्मल झरने, श्वेत-नील-हरे रंग के हिरन तथा कुछ श्वेत मयूर वहाँ देखे। वहाँ का वातावरण कितना शांत था! प्रातःकाल उदित हुए सूर्य को यदि नील कांच में से देखा जाये तो जैसा सुन्दर प्रकाश दिखायी देता है वैसे ही सुन्दर प्रकाश से वह लोक भरा हुआ था। उस लोक में न चन्द्र था न सूर्य। अपने आप ही प्रकाश सर्वत्र फैल रहा था। वहाँ उतरते ही ऐसा वेग और अन्दर से ऐसी स्फुरणा हुई कि मैं समझ गया कि पूर्वकालीन ऋषियों के दर्शन की एक बहुत बड़ी अनुभूति होनेवाली है। वहाँ मनोवेग से मैं फिरने लगा। इतने में मैं क्या देखता हूँ! यह तो सिद्धलोक है! असंख्य सिद्धों को देखा, सब तन्मय होकर अपने ध्यान में मग्न हैं। सब अपने आसन पर कुछ नयी नयी मुद्राओं में बैठे हैं। मेरी तरफ देखते ही नहीं। कोई जटाधारी हैं, कोई सिर मुंडित किये हुए हैं, तो किसी के कान फटे

हुए हैं। कोई वृक्षों के नीचे, कोई पत्थर पर, कोई गुहाओं के अंदर बैठे हैं। जिनके बारे में पुराणों में पढ़ा था उन महर्षि लोगों को भी वहाँ मैंने देखा। शिरडी के साईंबाबा को भी देखा। नित्यानन्द बाबा गणेशपुरी में थे, परन्तु उनको भी वहाँ देखा। सभी की एक अलग अलग कुटिया थी, गुहा थी, छोटे छोटे नये ढंग के मकान थे। कुछ महात्माओं को शांत भाव से बैठे हुए देखा।

वहाँ की जलवायु बहुत अच्छी थी। वहाँ का प्रकाश बड़ा रमणीय था। वहाँ प्रवेश होते ही मुझे सब बातों का ज्ञान होने लगा। प्राचीन काल के ऋषि-मुनियों का ज्ञान होने लगा। जब थोड़ा आगे निकला तब वहाँ अनेकों योगिनियाँ देखीं जो अपनी दिव्य मुद्राओं में स्थिर बैठी थीं। योगिनियों और सिद्धमहात्माओं को देखते हुए उस सिद्धलोक में बहुत समय तक फिरता रहा। उस लोक में वृत्ति बहुत रम गयी। कोई अन्य लोक इतना अच्छा नहीं लगा था। ऐसा लगा कि यहीं रहें तो अच्छा हो। उधर से बाहर जाने को मन ही नहीं होता था। फिर कमल का एक विशाल सरोवर देखा जिसमें स्वर्ण कमल खिले हुए थे। वहाँ से आते आते सप्त ऋषियों का समूह देखा। उनको देखते ही मन को सुख, शांति और प्रेम की अनुभूति हुई। ऐसी दशा में ही फिरता रहा। न जाने कौन फिरा रहा था? फिर आगे एक और वन में प्रवेश किया जो बहुत सुन्दर था। वहाँ के वृक्ष किस जाति के थे इसका मुझे पता नहीं लगा। वहाँ सिद्धों को देखते देखते मेरी भी इच्छा हुई कि वहीं पद्मासन लगाकर ध्यान में बैठ जाऊँ। बैठते ही वह नील नक्षत्र आ गया। न जाने क्यों उसके अन्दर बैठना ही पड़ा। कैसे बैठा? कौन प्रेरणा कर रहा था? यह सब मैं नहीं जानता था। मेरे बैठते ही वह नक्षत्र फिर से बड़े वेग से मुझे ध्यान के स्थान पर ले आया।

आते ही वह नील नक्षत्र मेरे अन्दर प्रविष्ट होकर सहस्रार में पहुँचकर फट गया और सहस्रार के विशाल प्रदेश में फैल गया। अब सामने कोई नक्षत्र नहीं था। केवल एक श्वेत, मधुमय ज्योति थी। फिर तन्द्रालोक में चला गया। वहाँ से तन्द्रालोक बहुत निकट है। तन्द्रालोक में आते ही सिद्धलोक के एक सिद्ध वहाँ प्रकट हुए। वे मेरे परिचय के नहीं थे। वे बोले, "अभी तुमने जो देखा वह सिद्धलोक था। वहाँ जीवन्मुक्त

महापुरुष ही रहते हैं। वहाँ भूख नहीं, निद्रा नहीं, जागृति नहीं। वहाँ आनन्द ही खाना, आनन्द ही पीना, आनन्द ही रहना होता है। आनन्द ही भोग होता है। आनन्द ही वहाँ के सब विषय हैं। जैसे मछली पानी में ही सोती, पानी में ही रहती, पानी में ही खाती, पानी में ही विहार करती है, वैसे ही सिद्धलोक के वासी आनन्द में ही विचरते हैं। वहाँ सिद्धकृपा के बिना कोई जा नहीं सकता। जिसका साधन सिद्धमार्ग है, जो सिद्धपरम्परा का है और जिसे पूर्ण सिद्धत्व प्राप्त होगा, उसका ही वहाँ जाना होता है। तुमको नील नक्षत्र वाहन बनकर उधर ले गया था, वही उधर आने-जाने का साधन है। इतना ही नहीं, लोकलोकान्तरों में आने-जाने का भी साधन है। जब तक वह नक्षत्र फटता नहीं; आवागमन मिटता नहीं, कर्मबन्धन कटता नहीं, पाप-पुण्य का पर्दा फटता नहीं। उसके फटने से ही भेददृष्टि मिट जाती है।" इतना कहकर और मुझे आशीर्वाद देकर वे महापुरुष चले गये।

स्वर्ण-कमल का सिर पर गिरना

मैं तन्द्रालोक में बड़ी मस्ती में था। बड़ी स्फूर्ति भी थी। इतने में ऊपर से मेरे सिर पर पुष्पवृष्टि होने लगी। पुष्प गिरते ही मेरा ध्यान ऊपर की ओर गया। उस सिद्धमहात्मा ने सिद्धलोक के सरोवर से एक दो फुट व्यास का बड़ा स्वर्ण-कमल मेरे सिर पर बड़े ज़ोर से फेंक दिया। मैं उस कमल को नीचे आते देख रहा था। वह ॐ कार उद्‌गीथ के गुनगुन नाद के साथ नीचे उतर रहा था। वह सट्-सा शब्द करके ज़ोर से मेरे कपाल पर गिर पड़ा। शब्द सुनते ही मेरी आँखें खुल गयीं। मगर मैं रहा तन्द्रालोक में ही। ऐसा लग रहा था मानो किसी ने बड़े ज़ोर से सिर पर थप्पड़ लगाया हो। तन्द्रालोक में होने पर भी आँखें खोल कर देखा तो वह स्वर्ण-कमल मेरे सिर से पृथ्वी पर आ गिरा था। क्या ही सुन्दर था! क्या ही अद्‌भुत उसकी रचना थी! क्या ही उसकी दिव्य सुगन्ध थी! मैं बड़े आश्चर्य और कुतूहल से उसको देखता रहा। अभी तक मेरे सामने पड़ा था। देखते हुए अपने भाग्य को भी सराह रहा था और कुण्डलिनी की महिमा की वाह वाह कर रहा था। फिर एकदम गुरुदेव की कृपा की याद आयी। झट से आँखें बन्द करके मन ही मन गुरुदेव को नमस्कार किया।

जब फिर आँखें खोलीं तब वहाँ कुछ नहीं था। अरे! यह क्या बात है? क्या घटना घटी है? कैसा आश्चर्यकारक अनुभव है?—ये सब प्रश्न मन में उठ रहे थे। सिर में उस वक्त की लगी हुई मार की कुछ अनुभूति अभी भी है। मैंने आसन खोला। ध्यान की मात्रा पूरी हो गयी थी। बाहर गया। इधर उधर फिरा। एक बार आकाश को देखा। जिस दिशा में मेरे गुरुदेव गणेशपुरी में थे उस दिशा को नमस्कार किया। शांत होकर बगीचे में बैठ गया। पुनः आँखें मीचकर मैंने ध्यान के दृश्य को याद किया तो कुछ अनुभव याद आये, वही पहले के दृश्य दीखे।

इसके पश्चात् ध्यान में बैठते ही प्रथम कुछ क्रिया होने लगती। पुनः वह रक्तेश्वरी ज्योति जाग जाती। इस रक्तेश्वरी ज्योति का यदि हम कहीं उल्लेख न करें तो भी पाठक इसे भूले नहीं। सूर्योदय होने पर जैसे दिन होता है वैसे ही रक्तेश्वरी के उदय होने पर ध्यान आरंभ होता है। रक्तज्योति का तेज बढ़ गया। अब वह पहले जैसी नहीं रही। बड़ी दिव्यता से चमकती थी। ऐसा अनुमान होता था कि सहस्रार में जो नील नक्षत्र फट के फैल गया था उसीका प्रकाश इस ज्योति में मिल गया हो। या वह शायद सिद्धलोक के पुण्यदर्शन के कारण था। क्यों नहीं! यदि मैं काशी जाता तो कुछ पुण्य पाता, द्वारका जाता तो कुछ पुण्य लाता, रामेश्वर जाता तो कुछ फल पाता, गणेशपुरी जाता तो कुछ आनंद लेता। तो क्या सिद्धलोक की यात्रा का कुछ फल नहीं है? मैंने यह भी अनुमान किया—'अभी मैं सिद्धलोक की यात्रा करके आया हूँ। आने के पश्चात् सुवर्ण पुष्प सिर पर गिरा। शायद उसके स्पर्श से ऐसा हुआ हो।'

रक्तेश्वरी की दिव्य ज्योति में उस फटे हुए नक्षत्र की अनंत चिनगारियाँ चमकती थीं। उसीके प्रकाश से मुझे शरीर के अंदर की सभी नाड़ियाँ, मलकोष और पित्तकोष आदि सब कुछ दीखते थे। फिर रक्तेश्वरी के अंदर चमकती शक्ति के वेग से प्रवाहित एक सुन्दर तेज को देखा; वह था मेरे सद्गुरु की कृपाशक्ति का तेजपुंज। ऐसा देखते देखते रक्तेश्वरी चली जाती और श्वेतेश्वरी आ जाती। उस अंगुष्ठमात्र श्वेत को भी उसी नवीन तेज में देखता। उसका भी तेज बढ़ गया था। श्वेत के अनन्तर कृष्ण को देखता। उसका भी कृष्ण तेज बढ़ गया था। फिर नीलेश्वरी आ जाती। उसमें नये प्रकार की अनेक दिव्य किरणें खुल गयी थीं। नील ही थीं, परन्तु पूर्व की

अपेक्षा उसका भी तेज बढ़ गया था। नित्यप्रति यह तेज बढ़ता रहा। नीलेश्वरी बहुत तेजस्वी बनी। उसमें ध्यान स्थिर हो गया। स्थिर होते ही एक उच्चावस्था का प्रेम हृदय में बहने लगा। वह प्रेम उतना ही व्यापक था जितना कि सभी नाड़ियों में पसरती हुई नील किरण। इसी भांति उस प्रेम को सब नाड़ियों के अन्दर तरंगरूप से उछलता हुआ, कूदता हुआ देखता। इन्द्रियों में भी उसका ही स्फुरण होता। जैसे जैसे वह चितिकिरण सर्वांग में फैलती, उसके साथ साथ आनन्दकिरण भी फैलती जाती। ऐसी प्रेम-मस्ती में ध्यान करते करते तन्द्रालोक में चला जाता।

एक बार तन्द्रालोक में जाते ही सिद्धलोक का मैंने जो दर्शन किया था उसका रहस्य खुला। मैं जहाँ गया था वह सिद्धलोक सत्य था। जिसको भी सिद्धावस्था प्राप्त होनी हो, चाहे वह किसी भी पंथ का हो, उसके लिये लोक एक ही है। मेरे सिर पर जो सुवर्ण कमल गिरा था वह सिद्धलोक का प्रसाद था। वह सिद्धलोक का कृपापूर्ण आशीर्वाद था। मैं जिस नील नक्षत्र में बैठकर गया और आया था वह न्यूनाधिक मात्रा में सभी प्राणियों के सहस्रार में स्थित है। उसके तेज में ही न्यूनाधिक भेद है, किन्तु प्रमाण एक ही है। उसीके द्वारा जीवात्मा देहान्तर में आवागमन करता है। कितने बार भी मनुष्य को जलाओ, कितने बार भी उसे दफ़नाओ, परन्तु वह नील नक्षत्र जैसे का तैसा ही रहता है। प्राण के साथ ही वह शरीर से बाहर निकल जाता है। निकलने के पश्चात् मृत्यु के ग्यारहवें दिन तक मरण-स्थान पर रहता है। उसके बाद जो विधिविधान होता है उसके अनुसार पाप-पुण्य को लेकर लोक-लोकान्तरों को जाता है। वह नील तारा ही इस जीवात्मा की बिना ड्राइवर के अपने आप चलनेवाली मोटर है। फिर जब जीव पुनः जनमता है तब वह साथ में आता है। मेरा जब वह तारा फट गया तभी मेरा आना-जाना मिट गया। क्योंकि मोटर ही टूट गयी तो फिर आना-जाना क्या? इसको हृदयग्रन्थिवेध भी कह सकते हैं। मेरे जन्म-जन्मान्तर के कर्म कट गये थे, तन्द्रालोक में मुझे ऐसा ज्ञान हुआ। ऐसा होते ही तत्क्षण लोक बदल गया। ये सब अनुभूतियाँ मेरे नहीं, अन्तरशक्ति के आधीन थीं। क्योंकि शक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र है।

पितृलोक

लिखते लिखते मेरा पहले का एक अनुभव छूट गया है जिसके बारे में बताना अत्यन्त आवश्यक है। वह है मेरा पितृलोक को देखना। यह पितृलोक स्वर्ग और सिद्धलोक के बीच में है। पितृलोक में अनेक प्रकार के पितर हैं। उनको मैंने प्रत्यक्ष देखा है। जैसे स्वर्गलोक, नागलोक और चन्द्रलोक में सब के लिये एक समान भोग है, वैसा पितृलोक में नहीं। जैसे हम पृथ्वीलोक में धनवान या पुण्यवान, साधारण धनवान, कम पुण्यवान या दरिद्री इस प्रकार की विषमताएँ देखते हैं वैसा ही अंतर पितृलोक में भी है। फिर भी वहाँ यहाँ से अधिक सुख है। कुछ अपने बचपन के परिचित वृद्धों को भी मैंने वहाँ देखा। यह लोक निराला है। यह निस्संदेह सत्य है कि हम लोग जो तर्पणादि पिंडदान करते हैं उसका सूक्ष्मभाव वहाँ पहुँच जाता है। क्योंकि हमारे पितर वही चीज़ खाते हैं, जो हम देते हैं। वे हमारे दान-पुण्य को ग्रहण करते हैं और अपने वंशजों को आशीर्वाद देते हैं यह भी पूर्ण सत्य है। इसलिये पितृलोक के वासियों को तर्पणादि देकर खुश करना आवश्यक है। हे सिद्धविद्यार्थियो, आप को इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं होना चाहिए। तर्पण का सूक्ष्मभाव मन्त्र द्वारा पितृलोक में अवश्य पहुँचता है। मन्त्रवाहक चितिशक्ति मन्त्र द्वारा उसे यहाँ से वहाँ तक ले जाती है, वह एक ही है। आप को आज के जीवन से एक नया उदाहरण देता हूँ। मान लीजिये, आप का एक मित्र अमेरिका में है। यहाँ से अमेरिका बहुत दूर है फिर भी वह टेलिफोन द्वारा आप से कहता है, "मैंने तुम्हें अपने बैंक द्वारा इतने डॉलर भेजे हैं। तुम वहाँ से ले लो।" आप को वे डॉलर मिल भी जाते हैं, इसमें कोई संशय नहीं। यह एक जड़ व्यवहार, जड़ कार्य, जड़ शब्द द्वारा टेलिफोन के ज़रिये सिद्ध होता है; आप को इसका पता है। फिर मन्त्र द्वारा सूक्ष्म मन्त्रपिंड के पितृलोक में पहुँचने में सन्देह क्या है?

मैंने पितृलोक में बहुत लोगों को देखा। जिस नील नक्षत्र द्वारा मैं सिद्धलोक गया था उसी द्वारा पितृलोक गया। मैं फिर से आप को याद दिलाता हूँ कि वह नीलबिन्दु या नीलज्योति नहीं, बल्कि नील नक्षत्र है। हे सिद्धविद्यार्थियो, जहाँ तुम और हम रहते हैं वह मृत्युलोक है। जैसा मृत्युलोक सत्य है, वैसा पितृलोक भी सत्य है, और मैंने वह प्रत्यक्ष देखा है।

इस प्रसंग में एकनाथ महाराज की एक कथा याद आती है। इस कथा के बारे में किसी समय मेरे मन में संशय था। वस्तुतः महापुरुषों के चरित में, उनके गुणकीर्तन में, उनके कार्यों में सन्देह होना अच्छा नहीं है। यह सन्देह संगदोष के कारण था। मैं तुमको यह कई बार कह चुका हूँ कि सिद्धों की रीति-नीति में सन्देह मत करो। उनके कर्म में पाप-पुण्य का विचार मत करो। उनका हरेक व्यवहार भगवत्प्रेरित होने से यज्ञरूप है। श्रीएकनाथ महाराज पूर्णदर्शी थे। उन्होंने परमेश्वर का पूर्ण साक्षात्कार किया हुआ था। उनको वन में और जन में, उच्च और नीच में, ग्राह्य और त्याज्य में, पापियों और पुण्यात्माओं में, एक परमात्मा ही दीखता था। सिद्धपुरुषों की दृष्टि नाम, रूप और आकार को नहीं देखती। वे केवल सद्वस्तु को ही देखते हैं। इस सम्बन्ध में एक कथा कहता हूँ :

एक रामजा नाम का चरवाहा था। वह बड़ा धनवान था। वह अपने इष्टदेव खंडोबा और उसके वाहन की सुवर्ण मूर्तियों की पूजा करता था। खंडोबा का वाहन घोड़ा मूर्ति से बड़ा था। महापुरुषों का कथन कि लक्ष्मी चंचल है, वस्तुतः सही है। स्थिर कुछ भी रहनेवाला नहीं है। दिन बदलते रहते हैं। रामजा की भी ऐसी ही स्थिति बदल गयी। श्रीमान था, दरिद्री बना। आप इसे ऐसा समझें कि एक ही माता की दो सन्तानें हैं— सम्पन्नता और दरिद्रता। दोनों सगी बहनें हैं। इसी भांति सुख और दुःख, कीर्ति और कलंक भाई-भाई होने से साथ-साथ रहते हैं। परस्पर बड़े प्रेम से रहते हैं। एक दूसरे से कभी दूर नहीं होते। न ही एक दूसरे को भूलते हैं। इतना ही है कि हमारा स्वागत कभी बड़ा भाई करता है तो कभी छोटा भाई। जब बड़ा भाई स्वागत करता है तो हम संपत्ति, ऐश्वर्य, सत्ता एवं राजत्व पाते हैं। जब छोटा भाई बड़े भाई से कहता है, 'दादा, तुम ज़रा विश्राम करो, अब हम थोड़ी सेवा करेंगे' तब कंगाली, फकीरी, आपत्ति, दुर्दशा आ जाती है।

रामजा के साथ भी यही हुआ। बड़ी बहन विश्रान्ति लेने गयी और छोटी बहन स्वागत करने आयी। रामजा कंगाल बना। खाने पीने की भी मुश्किल हो गयी। लोगों ने कहा, "अरे रामजा दादा, क्यों ऐसा दैन्य भोगते हो? यह देखो, तुम्हारे देवघर में जो सोने की मूर्तियाँ हैं उनको भगवान से क्षमा के लिये प्रार्थना करके बेच डालो। फिर से भेड़ें लो और

अपना धंधा चलाओ। फिर से पैसा कमाओ। फिर नयी मूर्तियाँ बनाना, उनमें प्राणप्रतिष्ठा करना, पूजा करना, ब्राह्मण, साधुसंत, गरीब, अन्धे, लंगड़े सब को खिलाना। तेरा धंधा चलने से सत्कर्म भी होंगे।"

दरिद्रता की अवस्था में विचार भी कनिष्ठ हो जाते हैं। मानव दरिद्री केवल सोने या धन में ही नहीं, बल्कि विचार में भी हो जाता है। रामजा ने लोगों की बात मान ली। घोड़ेसहित खंडोबा को झोली में लेकर वह सर्राफ बाज़ार में चल दिया। एक सर्राफ की दूकान में जाकर बैठ गया। सर्राफ ने पूछा, "क्यों रामजा दादा, क्या बात है?" रामजा दादा ने झोली से भगवान खंडोबा और उनका वाहन घोड़े को बाहर निकाला और कहा, "सेठ जी, ये हमको बेचना है। कुछ पैसे की ज़रूरत होने से बेचना पड़ता है। इनका मूल्य करो।" सर्राफ़ ने वज़न किया। भगवान खंडोबा की मूर्ति थी एक सेर की और वाहन घोड़ा था तीन सेर का। उस समय हज़ार रुपये में एक सेर सोना मिलता था। सर्राफ बोला, "रामजा दादा, तुम्हारे भगवान का एक हज़ार रुपया मिलेगा और घोड़े का तीन हज़ार।"

रामजा सुनते ही बिगड़ गया। "क्यों सेठ जी," वह कहने लगा, "तुम में अक्ल है या नहीं? मेरे भगवान की कीमत एक हज़ार रुपये और घोड़े की तीन हज़ार! तुमको कुछ समझ है या नहीं?" बोलते बोलते रामजा क्रोध के मारे लाल हो गया। वस्तुतः अक्ल की कमी रामजा में ही थी। सेठ ने कहा, "अरे रामजा, अक्ल तेरे में बहुत कम है। भगवान और घोड़ा तेरी दृष्टि में है। मेरे लिये तो दोनों सोना है और वज़न के अनुसार कीमत है। तेरे भगवान में एक सेर सोना है इसलिये उसका मूल्य एक हज़ार; और घोड़े में तीन सेर सोना है, इसलिये घोड़े के दाम तीन हज़ार। बेचना है तो बेच, वरना अपना रास्ता पकड़।"

परम सिद्ध श्रीएकनाथ महाराज ऐसे ही समदर्शी थे। वे केवल सोना देखनेवाले थे। उनके लिये संसार में सर्वत्र एक परमात्मा ही था। उनमें उच्च-नीच का भाव, जाति-व्यक्ति का भेद या छोटे-बड़े का ज्ञान नहीं था। 'हरिरेव जगत्' ऐसी उनकी दृष्टि थी और वे पूर्ण समता भाव से रहते थे। एक दिन उनके पास एक महार (हरिजन) जाति की लड़की आयी और बड़े प्रेम से, भक्तिभाव से बोली, "हे बाबा! तेरे यहाँ भगवान पानी भी भरता है। मैं न तो उस भगवान को देख सकती हूँ, न तो उसे बुला सकती हूँ।

हे एकनाथ बाबा! तू ही मेरा देव है। मेरी रूखी-सूखी रोटी और चटनी खाने मेरी झोपड़ी में आना। मैंने तेरी कथाएँ सुनी हैं। कथा में तू कहता है कि महापुरुष देवों के समान होते हैं। तो बाबा, मेरे यहाँ आज भोजन करना। मैं तुझे बुलाने आयी हूँ।" इस प्रकार उसने दैन्यभाव से प्रार्थना की। एकनाथ महाराज ने उसकी बात मान ली। वे उस हरिजन लड़की के यहाँ भोजन को गये। उन्होंने उसकी पकायी हुई रूखी-सूखी रोटी खा ली। वहाँ के सब लोगों ने यह देख लिया। फिर क्या कहना! बड़ी चर्चा शुरू हो गयी।

लोगों ने कहा, "देखो न, उस एकनाथ ने, हरिभक्त ब्राह्मण होने पर भी, एक महार के यहाँ भोजन किया। छिः! छिः! वह तो भ्रष्ट हो गया। इस कर्मभ्रष्ट के यहाँ कोई ब्राह्मण न जाय।" इस प्रकार सब ब्राह्मणों ने एकनाथ महाराज को बहिष्कृत कर दिया।

एकनाथ महाराज के लिये इसमें कोई फर्क नहीं पड़ा। वे तो हररोज़ की भांति मस्त थे। उनका नियम था: 'संपदा आपदा माने जो सम सदा'। उनकी समस्थिति रही। वे शांत भाव से रहे। गांव का वातावरण उनके विरुद्ध होते चला। कुछ न कुछ कहकर सब लोग उनका अपमान करने लगे और उन्हें धिक्कारने लगे। एकनाथ महाराज को इसका कोई दुःख नहीं हुआ। गृहस्थाश्रम में रहने पर भी उन सिद्ध महापुरुष की दृष्टि सम थी:

ममता नहीं सुतदार में, नहिं देह में अभिमान है।
निन्दा प्रशंसा एक सी, सम मान अरु अपमान है॥
जो भोग आते भोगता, होता न विषयासक्त है।
निर्वासना निर्द्वन्द्व सो, इच्छा बिना ही मुक्त है॥
सब विश्व अपना जानता, या कुछ न अपना मानता।
क्या मित्र हो क्या शत्रु, सब को एक सम सन्मानता॥
सब विश्व का है भक्त जो, सब विश्व जिसका भक्त है।
निर्हेतु सबका सुहृद सो, इच्छा बिना ही मुक्त है॥
माया नहीं, काया नहीं, वंध्या रचा यह विश्व है।
नहिं नाम ही नहिं रूप ही, केवल इक ईश ही परिपूर्ण है॥
जो ईश्वर है वही जीव है, वही सब जग का परमात्म तत्त्व है।
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, वह इच्छा बिना ही मुक्त है॥

इस प्रकार एकनाथ महाराज सदा मस्त रहते थे। उनके यहाँ हररोज़ भगवत् चर्चा चलती, हरिभजन होता और ध्यानयोग चलता। वे आनन्द में बैठते, आनन्द में उठते, आनन्द में सोते। उनके लिये आनन्द ही सर्व संसार था। परमात्मा आनन्दरूप है। उसका बनाया हुआ संसार वैसा ही सुखमय है। संसार को आनन्दरूप देखनेवाला चक्षु गुरुप्रसाद ही है। इस भांति एकनाथ महाराज मस्ती में अपना जीवन-निर्वाह करते थे।

थोड़े दिन में पितृपक्ष आया। आप से मैं पहले ही कह चुका हूँ कि तर्पणादि पितरों को पितृलोक में पहुँचता है, उनको मिलता है और वह करना आवश्यक भी है। हम सन्तान अपने पितरों के बड़े ऋणी हैं। यह बात हमें कदापि नहीं भूलनी चाहिये कि माता-पिता हमें अपना रस देते हैं, अपना रक्त देते हैं और अपने मुख का आधा ग्रास देते हैं। आप खाते नहीं, अपने बच्चों को खिलाते हैं। आप सोते नहीं, बच्चों को सुलाते हैं। जो कुछ भी अच्छी चीज़ आये, बच्चों को पहले खिलाते हैं, बचने से आप खाते हैं। माता-पिता बच्चों के लिये क्या नहीं करते? इसलिये हम लोग पितरों के सदैव ऋणी हैं। पितृपक्ष में तर्पण करना नीतिवान सुपुत्र के लिये अत्यन्त आवश्यक है। हमारे धर्म की इस रूढ़ि के अनुसार पितृपक्ष में ब्राह्मण, संन्यासी, अतिथि आदि को बुलाकर उनका सन्मान करके भोजन कराया जाता है और पितरों को तर्पण किया जाता है। एकनाथ महाराज ने भी पितृपक्ष में सब ब्राह्मणों को भोजन के लिये बुलाया। परन्तु कोई ब्राह्मण नहीं आया; क्योंकि उन्होंने हरिजन की लड़की के घर भोजन खाया था। फिर एकनाथ महाराज ने पितरों का आह्वान किया। पैठण गांव के सभी ब्राह्मणों के मरे हुए बाप और दादा एकनाथ महाराज के घर भोजन करने आये। क्या आश्चर्य की बात है! जब मैंने पितृलोक में पूर्ववर्ती पितरों को देखा तो विश्वास हो गया कि यह कथा कल्पित नहीं है। पितृलोक सत्य है।

इस तरह मैंने अनन्त लोकों को देखा। ध्यान में हररोज़ नयी नयी अनुभूति करता। पुनः ध्यान नीलेश्वरी में स्थित होते ही द्रष्टाभाव आ जाता। इस ध्यान को समाधि-अवस्था कह सकते हैं। इसमें स्मृति पूर्ण बनी रहती है। प्राणापान की गति सूक्ष्म हो जाती है, परन्तु पूर्ण कुम्भक नहीं होता। यही सिद्धमार्ग की समाधि है। इसमें द्रष्टाभाव स्फुरता रहता है। यह कोई अविद्यायुक्त जड़ समाधि नहीं, जिसमें किसी प्रकार की समझ ही

नहीं रहती। चैतन्य लोक तो ज्ञानयुक्त है, इसलिये समाधि में द्रष्टाभाव रहना चाहिये।

ऐसा ध्यान होते होते मैं एक दिव्य आनन्द में झूमता रहता। इस प्रकार ध्यान की मात्रा पूरी हो जाती। बाह्य होश आ जाता। आसन को ज़रा ढीला करके पाँवों पर हाथ फिराता। इधर उधर घूमता। ध्यान के लिये बैठने का मेरा विशेष क्रम ऐसा था कि मैं चारों दिशाओं को गुरुरूप और पराशक्तिरूप समझकर नमस्कार करता। जिस आसन पर बैठता था उसको गुरुपीठ और शक्तिपीठ समझकर बैठता। उसको चटाई या मखमल की चद्दर नहीं समझता। अपने ऊपर नीचे, सर्वत्र चिति की व्याप्ति देखता। सभी को मन ही मन नमस्कार करके बैठता। ऐसे ही जब ध्यान से मैं उठता तब अपने आसन को स्पर्श करने के पश्चात् उसे नमस्कार करता।

उस दिन ध्यान के पश्चात् बाहर आने पर भी, ध्यान में बहत्तर हज़ार नाड़ियों में जो प्रेम-किरण फैली थी, उसका अनुभव मुझे होता रहा। मैं बड़ी उन्मत्त अवस्था में था। वह किरण बहुत ही स्फूर्तियुक्त थी और मेरे रक्त के कण-कण में आनन्दरूप में उछल-कूद कर रही थी। इस प्रकार प्रेम-पागल की स्थिति का अनुभव होने लगा था। पहले जैसे पागलपन के अलग अलग अनुभव हुए थे, अब प्रेम के पागलपन का उदय हुआ। ऐसा लगता था कि वह प्रेमलहर सर्वांग में पसरकर पराशक्ति की प्राप्ति का परिचय दे रही हो।

दिन प्रतिदिन ऐसा ध्यान होता रहा। सुबह ध्यान, दोपहर ध्यान, शाम को ध्यान। तुकाराम का वह अभंग याद आता : **तुका म्हणे दिन-रजनीं हाचि धंदा**। जैसे किसी सेठ, ऑफिसर या नौकर का नित्यक्रम होता है—प्रातः उठते ही स्नान करना, नाश्ता करना, दोपहर का खाना साथ लेना, दफ्तर जाना, वहाँ काम में लग जाना, काम पूरा होने के बाद दफ्तर बन्द करना, फिर वापिस आना। यदि कोई उससे पूछे कि तुम क्या करते हो, तो वह कहेगा, 'वही जो हररोज़ करता हूँ—जाना-आना, खाना-पीना और रातको सोना।' बस, मुक्तानन्द स्वामी की भी ऐसी गति हो गयी थी। दिन में सुबह शाम ध्यान करना; ध्यान खुलते ही बगीचे में काम करना। फिर थोड़ा पानी सींचना। रात को फिर से ध्यान करना, और सो जाना।

नादलोक

अब ध्यान में एक नया स्थान प्राप्त हुआ। उस स्थान का नाम है **नादलोक**। नाद अनेक प्रकार के हैं। सागर के जल के शब्द जैसा, मेघ-गर्जन जैसा, झरने के जलप्रवाह की गति के जैसा, अथवा वेग से चलने वाली रेलगाड़ी या विमान की दूर से सुनायी देनेवाली ध्वनि के जैसा, स्मशान में जलती हुई अग्नि के स्फुरण जैसा—ऐसे अनेक प्रकार के नादों की ध्वनियाँ मैं सुनने लगा। कभी बहुत जनों द्वारा किये हुए नामसंकीर्तन का घोष, मृदंग और दुंदुभि की ध्वनि, कभी शंख का गंभीर दिव्यनाद, कभी उद्गीथ ध्वनि का बोध करानेवाला बड़े घण्टों का प्रचण्ड नाद, कभी वीणा आदि तन्तुवाद्यों की चिन् चिन् करती मधुर झंकार सुनायी देती। बीच बीच में कभी भ्रमर, मधुमक्खी आदि कीटकों की ध्वनियाँ तो कभी सूर्योदय के बाद वन में मयूर, कोयल इत्यादि पक्षियों का गुंजन सुनता। कभी इन्द्रलोक या इतर अनेक लोकों में सुनी हुई संगीत-ध्वनियाँ सुनायी देतीं। और भी बहुत प्रकार की अलक्ष्य ध्वनियाँ मैं हृदयाकाश में सुनने लगा। चिन् चिन्, चिञ्चिण, घण्टा, शंख, वीणा, करताल, वंशी, मृदंग, भेरी और मेघ—ऐसे दस नाद क्रमानुसार भी सुनता था। अब नादश्रवण की नयी मस्ती में झूमने लगा। इससे कभी कभी मेरी निद्रा पन्द्रह-पन्द्रह दिन के लिये चली जाती। लगता है कि निद्रा और नाद का कुछ विरोध है। शायद इसी कारण निद्रा रूठ के चली गयी। परन्तु निद्रा चले जाने से मैं घबराया नहीं। चित्त रुष्ट भी नहीं हुआ। किसी और कारण से निद्राभंग होने से चित्त में दोष आ जाता है अथवा शरीर में विकार पैदा होता है, पर ऐसा मेरे साथ कुछ नहीं हुआ। निद्रा जाने के बावजूद पहले जैसे ही स्फूर्ति रहती। आनन्द रहता। निद्रा की आवश्यकता ही नहीं लगती थी। आहार कम हो गया था। शरीर भी कुछ कृश-सा लगने लगा था।

इसी नादानुसन्धान के समय योगी में एक नृत्य कला उदित हो जाती है। वह नाचने लग जाता है। मैं भी कभी कभी रात्रि में ऊपर पहाड़ पर जाकर घण्टों तक नाचता था। उस समय क्या दिव्य भाव रहता था मेरा! अपने नृत्य को केवल मैं ही देखता था। किसी और को नहीं दिखाता था, क्योंकि मुझे बहुत लज्जा आती थी। इसलिये छिपकर नाचता

था। ऐसा कलामय नृत्य होने से भूख थोड़ी बढ़ जाती थी, अंगों में कुछ हल्कापन अनुभव करता। मन में एक विचार उठता कि अच्छे अच्छे घर के लड़के-लड़कियाँ, नर-नारियाँ सभा में निर्लज्ज होकर कैसे नाचते हैं! मेरी तो अभी तक लज्जा ही नहीं गयी, इसलिये मुझमें कुछ कमी है क्या, ऐसा सोचता। नादानुसन्धान के साथ साथ मैं उसका सूक्ष्मता से निरीक्षण भी करता। साधक समझते हैं कि नाद का उदय दायें या बायें कर्ण में होता है। परन्तु वह कर्ण में नहीं होता, सहस्रार के ऊर्ध्वाकाश में होता है। वहाँ मस्त ध्वनि उठती है। वहाँ से किसी भी कर्ण में सुनायी देती है। मेरे मस्तक के अंतर्गत आकाश में एक परम दिव्य स्फूर्ति उदित हो गयी। स्मृति इतनी बढ़ गयी कि कितने आदमी दर्शन को आये, कौन क्या लाया, यह सब पूरा याद रहने लगा। धारणाशक्ति बढ़ गयी। मन में कभी विचार उठता कि यदि विद्यार्थियों को ऐसा स्फुरण हो जाये तो उनको बहुत-सी टिप्पणियाँ लेने की, बहुत लिखने की जरूरत नहीं रहेगी। मुझे ज्ञानेश्वर की, जो कुण्डलिनी विषय के पूर्ण ज्ञाता थे, एक ओवी याद आती : **हेचि आत्मप्रभा नित्य नवी**। मुक्तानन्द भी कहता है : वैसे ही ध्यानप्रभा नित्य नयी। न जाने कितनी नयी नयी अनुभूतियाँ होतीं। रोज़ ध्यान करने पर भी ध्यान के प्रति मन कुण्ठित नहीं होता, साधन-क्रिया शिथिल नहीं होती। बल्कि प्रयत्न और पुरुषार्थ की बाढ़ आ जाती। जैसे मनुष्य अपना गंतव्य स्थान नज़दीक आने से भागना शुरू कर देता है, वैसी ही गति मेरे ध्यान की हो गयी। नित्यप्रति नादों के अनन्त स्वर उदित हो रहे थे। कई बार मैं मुरली की मधुर तान सुनता। क्या उसके स्वर में दिव्य आकर्षण था! मैंने मुरली के आकर्षण के विषय में कुछ काव्य सुने थे। एक गोपी कहती है :

"हे भगवान, तू अपनी बाँसुरी बन्द कर। क्योंकि जब तेरी बाँसुरी बजती है तब मुझसे कोई काम नहीं होता। मुझे अपने बालबच्चों की याद नहीं आती। मैं घर नहीं जा सकती। हे प्रभु, हमको घर जाना है। अरे! अपनी मुरली ज़रा बन्द कर। तेरी ऐसी मनमोहक मधुर बाँसुरी है कि हमारे पाव घर की तरफ़ नहीं मुड़ते। हमारा मुँह घर की दिशा में नहीं फिरता। हे मनमोहन, कृपा करके ज़रा अपनी बाँसुरी बन्द कर। मुझे बालबच्चों को खिलाना पिलाना है। पति को भोजन कराना है। सास-ससुर मेरी राह देखते

होंगे। अरे! कृपा करके मुरली बजाना बन्द कर।" इस तरह वह गोपी दीन होकर भगवान से प्रार्थना करती है।

मेरे प्यारे सिद्धविद्यार्थियो, मैं जब सहस्रार में मुरली की ध्वनि सुनता तब मुझे तन्द्रालोक का पता भी नहीं रहता। मेरा वह द्रष्टा कहाँ चला जाता था उसका भी पता नहीं रहता। उस मधुर बंसी को सुनते सुनते मैं किधर चला जाता था, मुझे क्या हो जाता था इन बातों का मुझे पता ही नहीं रहता। फिर परमानन्दस्वरूप भगवान श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष बाँसुरी सुनने से गोपियों की ऐसी दशा हो जाना क्या मुश्किल है? इस विषय में किंचित्मात्र सन्देह नहीं। प्रकट मुरली की ध्वनि सुननेवाली वे गोपियाँ प्रातःस्मरणीय कृष्ण-प्रेम की किरणें थीं। सहस्रार में मुरली का नाद सुनने पर जब योगी की ऐसी तन्मय अवस्था हो जाती है तब उन गोपियों की क्या दशा होती होगी?

मैं कभी नाचता, कभी झूमता, कभी प्रेमोन्मत्त होकर उस दिव्यनाद में खो जाता। यह नाद ही परब्रह्म है। यह श्रीगुरु नित्यानन्द का शब्दमय शरीर है। यह पराशक्ति महामाया श्रीकुण्डलिनी के स्फुरण का स्फूर्तियुक्त स्पन्दन है। इसका ही नाम *आदौ भगवान शब्दराशिः* है। इन्हीं ध्वनियों में मैं भगवान को देखता था। यही मेरी क्रियाशील कुण्डलिनी का उत्तर-रूप था। इस प्रकार नादानुसन्धान करते करते चित्त वहीं स्थिर हो जाता जहाँ से नाद का उदय होता था। मैं द्रष्टा होके वहीं देखता जहाँ से इस नाद के स्पन्दन से दिव्य ज्योति के स्फुलिंग निकलते थे। फिर सर्वेन्द्रियों की गति उधर ही होने लगी। जिह्वा उधर ही दौड़ती। ऐसा नादानुसन्धान होते होते जो जो नाद सुनायी देता उस उस के अनुरूप शरीर में झन्-झन्-सी मन्द वेदना होती। सब शरीर टूटने लग जाता। स्वेद बहने लगता। सिर जोर से काँपने लग जाता। सारे अंगों में जैसे कोई मन्द अग्नि जल रही हो ऐसी अनुभूति होती। कभी कभी ऊर्ध्वाकाश में से अमृत का छोटा बिन्दु भी टपक जाता। कभी कभी वहाँ से भिन्न भिन्न प्रकार के रसास्वाद—खारा, खट्टा, कड़वा, तीखा—आते। कभी नादलोक से दूध जैसा रस तालु में झरता। वह जठराग्नि में प्रवेश करके बहत्तर हज़ार नाड़ियों में फैल जाता। इसके परिणामस्वरूप शरीर की कई सूक्ष्म बीमारियाँ चली जातीं। शरीर को कितना भी कष्ट होने पर श्रम नहीं लगता। ऐसे दिव्यनादों को सुनते सुनते और यह जानते हुए कि नाद

शब्दब्रह्म है, मैं नादरूप में शब्दब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता। मेरी क्रियारूप कुण्डलिनी भी अपने नादरूप पति से मिलकर अत्यन्त प्रसन्न होती। उसकी प्रसन्नता की लहर मेरे सारे तन में फैलने लग जाती। मुक्तानन्द नाचने लग जाता। उन नाद-लहरों का तन में प्रसार होने से मेरा मन भी स्फुर्तियुक्त बन जाता था।

परमात्मा का बंसीनाद सुनते सुनते गूढ़ विषयों का ज्ञान उदित होते चला। नादश्रवण की मात्रा बढ़ रही थी। व्यवहार में भी नाद सुनता। आते नाद, जाते नाद। सोते भी नाद। खाते भी नाद। जब क्रोध आता तब नाद और भी बढ़ जाता। जितना जितना बंसीनाद सुनता, उतना उतना वाणी का गुण भी प्रकट होते चला। इस प्रकार भिन्न भिन्न नादों को सुनता और उनके गुण प्राप्त करता। भेरीनाद को सुनता और उससे प्राप्त दिव्य चक्षु से दूर देखने लग जाता। कभी कभी मैं अपने कमरे में बैठे हुए दूसरे कमरे की घटना भी देख लेता था। कभी ऐसा भी हो जाता था कि कोई किसी दूसरे कमरे में छिपकर कुछ कार्य करता तो मैं तत्क्षण वहाँ पहुँच जाता, मानो मुझे किसी ने उधर बुलाया हो। हाँ, उससे केवल यही कहता था कि मुझको अमुक ने बुलाया है। ऐसा भेरीनाद सुनते, उसके गुण को पाते, मेरा ध्यान चन्द्रकला के समान रोज़ बढ़ता गया।

तदनन्तर अन्तिम नाद सुना जिसका नाम है मेघनाद। यह महान दिव्य नाद है। यह नादों का राजा है। यह योगियों की अपनी इष्टपूर्ति कर देनेवाली कामधेनु है। इसके श्रवण में ऊर्ध्वाकाश धमक उठता है। थोड़े दिन के लिये उस दिव्य ध्वनि की गड़गड़ाहट के कारण, साधक को होश नहीं रहता; क्योंकि योग का लक्ष्य समाधि को प्राप्त करा देनेवाला यह नाद है। *इस मेघनाद में से ही योगी को उद्गीथ नाद यानी ॐ कार का नाद सुनायी देता है। तब पता लगता है कि ॐ कार स्वयंस्फुरित है।* संप्रदायों के अन्यान्य मन्त्रों की भांति ऋषियों द्वारा बनाया हुआ नहीं है। किसी महन्त का रचा हुआ नहीं है। यह स्वयंभू नाद है। यह सहस्रार के ऊर्ध्वाकाश में सहज ही स्फुरता है। यह स्वयंस्फुरित है, किसी प्रेरणा से स्फुरित नहीं है। इस नाद का उदय होते ही योगी बड़ी मस्ती में आ जाता है। कभी कभी इस विषय के बारे में अपने नियम को भूलकर मैं लोगों से बातचीत भी कर देता। लोग प्रेम से सुनते और बड़प्पन के

लिये औरों को सुना भी देते कि मुक्तानन्द स्वामी ने यह नाद सुना, वह नाद सुना। नित्यानन्द बाबा को भी कह देते। बस, दूसरे दिन दर्शन को जाता तो बाबा बिगड़ जाते और बोलते, "क्या रे मूरख....। ऐसा बताना रे! हाँ....ऐसा गुह्य बताने से सिद्धि भ्रष्ट, योगी कष्टी....।" उनके ऐसा बोलने से थोड़े दिन के लिये साधन में विषमता आ जाती। आप से बारंबार कह चुका हूँ कि सिद्धविद्या में *गुरुकृपा हि केवलम् , गुरोराज्ञा हि केवलम्।* गुरु का क्षोभ साधना में रुकावट लाता है और पूर्णत्व में देर लगती है। अस्तु।

इस प्रकार मेरा ध्यान रोज़ रोज़ बढ़ता रहता। अब ध्यान का पूरा लक्ष्य था नील में, नील बिन्दु में। मेरा ध्यान विभिन्न शरीरों में से होकर, रक्तेश्वरी से श्वेतेश्वरी, श्वेतेश्वरी से कृष्णेश्वरी, कृष्णेश्वरी से अब नीलेश्वरी में होने लगा था। उस नीलेश्वरी के चारों ओर केसरी रंग मिश्रित एक सुवर्ण वलय देखता। नीलेश्वरी की चमक नित्यप्रति बढ़ रही थी। जैसे जैसे ध्यान की मात्रा बढ़ती वैसे वैसे नील की चमक भी बढ़ती। पहले दिन से दूसरे दिन का तेज बहुत अधिक लगता। इसकी नित्य बढ़ती चमक, मेरे नित्य बढ़ते आनन्द और नित्य बढ़ती उमंग के बावजूद हृदय में ऐसा स्फुरण होता कि पूर्णत्व में अभी कुछ कमी है। मेरा अन्तर पूर्णत्व की साक्षी नहीं देता; कहता, अभी आगे और भी कुछ शेष है। समाधान और तृप्ति होने पर भी अभी कुछ बाकी है ऐसी प्रतीति होती।

यहाँपर एक सत्य बात बताना चाहता हूँ जिससे ध्यान का उपासक दृढ़ निष्ठावान बने तथा उसके शरीर में चितिशक्ति के प्रभाव और श्रीगुरुदेव के प्रत्यक्ष अस्तित्व की पूर्ण आस्तिक्य बुद्धि रहे। वह सोचे कि जैसे मेरी नाक, कान, आँख, जिह्वा और मुख सत्य हैं वैसे ही मेरे अन्दर व्यापक श्रीगुरु सत्य हैं। प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! इस विषय का सूक्ष्मता से मनन करो। श्रीगुरु में और पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति में पक्की निष्ठा रखो। ज़रा विचार करो। जब एक डॉक्टर शरीर के किसी एक स्थान में इंजेक्शन देता है तब वह सब शरीर में प्रत्यक्षरूप से फैलता है। तुम्हें कुछ ऐसे इंजेक्शनों का भी अनुभव होगा कि जिनके प्रभाव से शरीर का रक्त तप जाता है अथवा यदि कोई वैद्यराज की छोटी-सी गुटिका खाता है तो शरीर का रोग निकल जाता है। उसका कितना गुण है, उसकी कितनी शक्ति है जो तुम्हारी

नस नस में, शरीर के अणु अणु में फैल सकती है और फैलकर वहाँ की बीमारी को दूर कर देती है। यह तो तुम्हारी प्रत्यक्ष अनुभूति है। ठीक उसी तरह सद्गुरु ब्रह्मानन्दरूप से विलसती हुई पराशक्ति को लेकर, सर्व अनर्थों की कारणरूप अविद्या का संहार करनेवाली शक्ति को लेकर, तुम्हारे अन्दर दीक्षानिमित्त से, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से दृष्टि, शब्द, संकल्प, सहवास अथवा किसी अंग की स्पर्श-क्रिया से आप ही प्रवेश करता है। प्रवेश करके सप्तधातु में सप्तधातुमय, सर्व इन्द्रियों में सर्व इन्द्रियमय, पंचकोषों में कोषमय, नख-शिखांत तुम्हारे अन्दर मूर्तिमंत होकर रहता है। फिर तुम्हें अन्दर से मार्गदर्शन मिलना, साक्षात्कार होना बहुत कठिन नहीं है। ऐसे गुरु के ज्ञान से दूर, प्रेम से दूर, निष्ठा से दूर, आज्ञापालन से दूर होने से वह भी दूर हो जाता है। वस्तुतः वह मूर्तिमंत होकर तुम्हारे अन्दर क्रियाशक्ति के रूप में रहता है। तुम्हारे अन्दर इस प्रकार रहते हुए, तुम्हारे अन्दर से तुमको कुछ बतलाना, कुछ सिखलाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। *मुक्तानन्द इतना सत्य कहता है कि श्रीगुरु पूरी तरह तुम्हारे हैं, परन्तु तुम पूरी तरह उनके नहीं हुए हो। वे तुम से किंचित् भी दूर नहीं हैं, तुम ही उनसे दूर हो। इसी कारण अन्तर के नित्य नवीन साक्षात्कार से तुम कुछ दूर हो जाते हो।*

मेरी गुरुनिष्ठा बड़ी पक्की थी। कहीं भी जाने से मेरे पास गुरु का फोटो होना जरूरी था। फिरने को जाता तो साथ फोटो। खाने को बैठता तो साथ फोटो। सोते समय भी फोटो साथ में लेकर सोता। इतना ही नहीं। स्नानगृह में भी फोटो रखता था। लोग चाहे कुछ भी कहें। अस्तु।

श्रीगुरुदेवरूप अन्तरज्योति से अथवा पहले जिसका मैंने वर्णन किया है उस सर्वज्ञलोक से सूचना मिली : 'अरे मुक्तानन्द! नीलेश्वरी के दर्शन से जीवन्मुक्ति प्राप्त होने पर भी, तुरियानन्द की अनुभूति होनेपर भी, अभी पूर्ण प्राप्ति बाकी है। दिव्य साक्षात्कार यह नहीं। उसके लिये तो तुम्हें और भी नील में प्रवेश करना होगा।' अन्दर से चिति पारमेश्वरी का यह सन्देश मिला। मैं इस आदेश को सत्य मानकर ध्यान को बढ़ाने लगा। जैसे जैसे ध्यान बढ़ा, नीलेश्वरी भी अधिक समय तक स्थिर खड़ी रहने लगी। जैसे जैसे वह ठहरी रहती वैसे वैसे उसका तेज बढ़ता। जितना समय वह स्थिर रहती उतनी ही उसकी रीति-नीति,

चमत्कार, नवीनता नयी नयी होती। सच पूछो तो क्या वह नील है या श्रीनीलकंठ? वह नील है या नील रंग का श्रीनित्यानन्द? वह नील है या नीले रंग की नीलेश्वरी भवानी उमाशक्ति कुण्डलिनी?—ऐसी अनन्त भावनाएँ अन्तर में उमड़तीं। नीलेश्वरी अब नजदीक आती चली। जितना जितना नील बढ़ता, उसकी चमक बढ़ती, उतना उतना मुक्तानन्द बढ़ता, मुक्तानन्द बदलता, मुक्तानन्द खुलता, मुक्तानन्द सर्वत्र पसरता और समझता कि मुक्तानन्द क्या है। जो जो गति नील की होती, वही वही गति मुक्तानन्द की होती। अब नील में मेरी निष्ठा और भी दृढ़ हो गयी। जिस प्रकार शरीर के अवयवों में 'वे मेरे हैं' या 'वे मैं हूँ' ऐसी प्रत्यक्ष निष्ठा होती है वैसी नील में हो गयी।

नीलपुरुष का दर्शन याने सगुण साक्षात्कार

हे मेरे प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! अब एक नवीन घटना घटी। तुम इसे प्यार से सुनो। सुनकर छोड़ना मत। एक दिन मैं मस्त होकर ध्यान में बैठा था। ध्यान को बैठते ही भगवती कुण्डलिनीशक्तिरूप सद्गुरु श्रीनित्यानन्द की महापूजा आरम्भ की ; 'हे गुरुदेव! तू मेरे पूर्व, तू मेरे पश्चिम, तू मेरे उत्तर और दक्षिण में है। हे सद्गुरु! तू मेरे ऊपर और तू मेरे नीचे है। हे प्यारे श्रीगुरु! तू मेरी आँख में, तू मेरे कान में, तू मेरी नाक में, तू मेरे मुख में। हे कृपादाता सद्गुरुनाथ! तू कण्ठ में, तू बाहु में, तू छाती में, तू पीठ में, तू पेट में। हे गुरुमाता! हे गुरुपिता! तू मेरी जंघा में, तू मेरे पाँव में, तू मेरे चरणों में। हे मेरे बाबा! तू मुझ में। मैं तुझमें। और जो तेरे मेरे में रूप-आकार का भेद है उसमें भी तू ही है।' इस प्रकार गुरु को अभिमन्त्रित करके ध्यान को बैठते ही जगमग जगमग करती हुई वह रक्तेश्वरी चमक उठी। एक के बाद एक रक्तेश्वरी श्वेतेश्वरी, कृष्णेश्वरी, नीलेश्वरी आकर खड़ी हो गयीं। हृदय में आनन्द स्फुरने लगा। सहस्रार में योगियों के मित्र मेघराज की गड़गड़ाहट करती हुई गर्जना होने लगी। फिर एक महान चमत्कार का उदय हुआ। इस चमत्कार के विषय में मुझे बोलना नहीं चाहिये। मगर श्रीगुरु बोलने की प्रेरणा कर रहे हैं। इस समय इस चमत्कार के विषय में लिखने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। मेरा हाथ नहीं हिलता। अंगुली चलना बन्द हो गया। आँखें नहीं

खुलतीं। जिह्वा मात्र चालू है। शायद उस जिह्वा में वह नित्यानन्द बलात् आकर बैठा होगा। मेरा बोलने का अधिकार न होने से भगवान नित्यानन्द ही बोलता है। अब लिखने का काम मेरा प्यारा यंदे भाऊ करता है, जो महाराष्ट्र के अर्थ मंत्री का स्वीय सहायक है। वह बाबा नित्यानन्द को समर्पित है। इसलिये वह लिख रहा है। अस्तु।

वह महा तेजस्वी नीलबिन्दु अन्तरंग की अनन्त प्रकार की तेजयुक्त किरणों सहित मेरे समीप आते ही बढ़ने लगा। वह मेरे सामने अण्डाकृति होकर मनुष्य आकार में बढ़ता चला। उसको बढ़ते हुए मैं प्रत्यक्ष देख रहा था और परम आश्चर्य में डूबा हुआ था। वह अण्डा बढ़ते बढ़ते मनुष्य के आकार का हो गया। उसमें से दिव्य तेज फूट निकला। क्षण भर के लिये मेरा होश चला गया। कौन जाने तन्द्रालोक कहाँ सो गया! वह सर्वज्ञलोक कहाँ विश्रान्ति लेने चला गया! जिसकी प्रज्ञा से मैंने सब विषय जाने वह प्रज्ञालोक किधर गया! मुक्तानन्द क्षणभर के लिये अपने को भूल गया। आप नहीं रहने से दूसरा भी सब लुप्त हो गया। देखनेवाला नहीं तो दृश्य भी नहीं। सुननेवाला नहीं तो शब्द नहीं। सूंघनेवाला नहीं तो गन्ध नहीं। अब क्षणभर कुछ भी ज्ञात न रहा। हाँ, मेरी ध्यान की स्थिति वैसी की वैसी थी। मेरा उत्तराभिमुख पद्मासन पूरा बंधा हुआ था। फिर से वह अण्डा मनुष्य आकार में चमकने लगा। उसके चमकते ही फिर मुक्तानन्द आ गया। मुक्तानन्द का तन्द्रालोक आ गया। प्रज्ञा आ गयी। मुक्तानन्द की सतत देखभाल करनेवाली अन्तर रिपोर्टररूप दिव्य स्मृति पुनः आ गयी।

मेरे सामने मनुष्यरूप धारण किया हुआ अण्डाकृति नील बिन्दु खड़ा था। फिर उसका तेज कम होते चला। देखा कि उसमें एक नील मनुष्य है। क्या रूप था उसका! क्या नीलिमा से चमचम चमकता था। उसका शरीर सप्तधातुओं के रसवीर्यों का बना हुआ नहीं था। वह तो, जिस नीलपुंज का 'चिन्मय अंजन' कहके तुकाराम महाराज ने वर्णन किया है, जिस अंजन से दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, उस अनन्त चिन्मय किरणपुंज के शरीर का था। वह तो चैतन्य का गोला था। मुक्तानन्द के अन्तरप्राण का प्राण था। नित्यानन्द का रूप था। वह तो मेरी चिदम्बा, चिद्विलासिनी कुण्डलिनी का स्वरूप था। सामने वह दिव्य महापुरुष खड़ा था जो चमचम चमक

रहा था। क्या सुन्दर शरीर था! वाह! क्या सुन्दर आँखें थीं! क्या उसकी नाक की चोंच थी! क्या उसके कर्ण और कर्णकुण्डल थे! कितने सुन्दर बाल थे! क्या सुन्दर मस्तक था! दाढ़ी नहीं थी। मस्तक पर नवरत्नों से मढ़ा हुआ किरीट था। वे रत्न इस पृथ्वी के नहीं थे, वे तो चिन्मय थे। यहाँ के जैसे जड़ नहीं थे। क्या उसके सुन्दर लम्बे हस्त, क्या अंगुलियाँ, क्या नख! सब नील। क्या सुन्दर मुलायम वस्त्र पहना हुआ था! क्या उसके लम्बे लम्बे पाँव थे! क्या पाँवों की अंगुलियाँ थीं! उसका सर्वांग कितना सुन्दर था! मैं उसको नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे तक आश्चर्यान्वित होकर एकटक देखते रहा।

वह मेरे सामने आकर हुँकार करते हुए कुछ संकेत-सा करता रहा। 'कुछ बोलो', उसने कहा। मैं क्या बोलता? मैं उसको देखने में ही मस्त था। उसने मेरी प्रदक्षिणा की। एक प्रदक्षिणा करके फिर खड़ा हो गया। फिर मेरी तरफ देखकर आँखों से कुछ संकेत करने लगा। वह बोला, 'हमें सब ओर से दिखायी देता है। आँखों से भी दीखता। नाक से भी दीखता। हमारे सर्वत्र चक्षु हैं।' पाँव किंचित् ऊपर उठाते हुए उसने कहा, 'इस पाँव से भी दीखता। मुझे सर्वत्र दीखता है। मेरे सर्वत्र जिह्वाएँ हैं। मैं जिह्वा से ही नहीं, हाथ से भी बोलता हूँ और पाँव से भी। मेरे सर्वत्र कान हैं। मैं सर्वांग से सुन सकता हूँ'। इस प्रकार वह मेरे सामने कह रहा था और मैं सुन रहा था। 'मैं पाँव से भी चलता हूँ और सिर से भी। मैं कैसे भी चल सकता हूँ। मैं एक क्षण में कितनी भी दूर जा सकता हूँ। पाँव बिना चलता हूँ, हाथ बिना पकड़ता हूँ। जिह्वा बिना बोलता हूँ, आँखें बिना देखता हूँ। दूर से दूर होते हुए भी बहुत नज़दीक रहता हूँ। सभी शरीरों में शरीर होकर रहते हुए भी शरीर से भिन्न रहता हूँ।' ऐसा कहकर कुछ और कहा जो नित्यानन्द ने सुना। वह यहाँ लिखने का विषय नहीं है। **'यही साधन, सिद्धमार्ग, सत्यपंथ है,'** इतना और उसने कहा। एक हाथ ऊपर उठाकर आशीर्वाद-मुद्रा में हिलाया। मैं परम विस्मय में था। मेरे देखते देखते वह नील अण्डा, जो छः फुट तक बढ़ा था, अब सिकुड़ने लगा। छोटा छोटा होता गया। छोटा होते होते वह नीलेश्वरी हो गया। वह मेरी नील ज्योति यानी नील बिन्दु होकर रह गया।

मैं अत्यन्त विस्मित था। अन्तर में महान आनन्द था। श्रीगुरुदेव भगवान

नित्यानन्द की कृपा का, पारमेश्वरी श्रीचिति कुण्डलिनी का परम स्मरण होते ही मैं तन्द्रालोक में चला गया। तन्द्रालोक में जाते ही वहाँ समझ में आया कि ये ही वे नीलपुरुष हैं जिनको सगुण साक्षात्कार के दाता बोलते हैं। इनको अव्यक्त महापुरुष भी कहते हैं, जिनके वरदान से आगे चलकर सत्य साक्षात्कार होता है। वह महापुरुष कुछ आशीर्वाद देकर जिस नील से आया था उसी नील में चला गया। ऐसा होते ही ध्यानोत्थान हो गया।

क्या ध्यानलोक के अनन्त दर्शन हैं! क्या मानव की योग्यता है! क्या उस नील बिन्दु की महानता है! क्या ध्यानेश्वर की देन है! क्या मानव की महिमा है! यह मानव महान है। अरे मुक्तानन्द! तू महान है। तू अनन्त है। तू अद्भुत है। इस प्रकार मानवता को धन्यवाद देता हुआ, देखे हुए दृश्य को फिर से एक बार ध्यान में लाता हुआ, बहुत आनन्दित हो गया। अब 'अहम् आत्मा इति' यह निष्ठा पूर्ण रूप से स्थिर हो गयी। 'सोऽहं', 'हंसः' में पूर्ण विश्वास हो गया। 'तेरे में देव, देव में तू' की अनुभूति का साक्षात्कार होने लगा।

मेरे मन में यह निश्चय हुआ कि वह गीता के तेरहवें अध्याय में वर्णन किया हुआ दिव्य पुरुष था :

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

अर्थात् जिसके सर्वत्र हाथ और पाँव हैं, जिसके सर्वत्र आँखें, सिर और मुख हैं, जो सभी को जानकर, सब को आवृत्त करके स्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

अर्थात् जो सहस्रार में रहकर सर्वेन्द्रियों के गुणों में सूक्ष्मरूप से भासमान होता है, जो इन्द्रियों से भासमान होने पर भी सर्व इन्द्रियों से दूर, इन्द्रियरहित है, जो शरीर में 'मैं मुक्तानन्द हूँ', 'मैं हूँ', 'मैं हूँ' ऐसा कहने पर भी अनासक्त है, वह सब का पोषण करनेवाला, बहत्तर हज़ार नाड़ियों के अणु अणु को सम्भालने वाला, रस को रसमय, रक्त को रक्तमय करके पोषण करनेवाला है। वह गुणातीत, केवल निर्गुण होने पर भी इस शरीर

में सहस्रार में रहकर सर्व गुणों को भोगता है। कोई अन्न दे तो खा लेता है। कोई फूल दे तो वह धारण कर लेता है। कोई वस्त्र दे तो उसे पहन लेता है। कोई नमस्कार करे तो उसको भी ले लेता है। देनेवाले के यह समझने पर कि 'हम बाबा को देते हैं', वह ले लेता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

अर्थात् सभी मानव-दानव, पशु-पक्षी, कृमि-कीटरूप स्थावर-जंगम जगत में अन्तरबाह्य व्याप्त होकर रहनेवाला वह सूक्ष्म होने से समझ में नहीं आता। वह बहुत दूर रहनेवाला है ऐसा समझने पर भी अत्यन्त निकट, सहस्रार के बीच में रहता है। ऐसा परमात्मा व्यक्ति, जाति, क्रिया, नाम, रूप, देश, काल आदि में भेदरूप से दिखायी देने पर भी अभेद होकर रहता है। वह मनुष्य में मनुष्य, पक्षी में पक्षी, गाय में गाय, घोड़े में घोड़ा, नर में नर, नारी में नारी होकर रहता है। अधिक क्या कहूँ? सब कुछ होकर भी सबसे निराला रहता है। सभी भूतों को मातासमान अपनी शक्ति देते हुए, उनका भरण-पोषण करते हुए, सब को अपने में समेट लेता है। वह ज्योतियों की परम ज्योति है। उसी से सब ज्योतियाँ चमकती हैं। वहाँ तम है ही नहीं। वह सब का ज्ञान रखता है। यदि ऐसा न होता तो मुक्तानन्द उस नीलपुरुष को कैसे जान सकता? जो परम ज्ञेय है, जो ध्यान की उच्च दशा में प्राप्त होनेवाला कुण्डलिनी का प्रसादरूप है, जो सर्वज्ञलोक के ज्ञान से समझ में आनेवाला है और जो सर्वथा हृदय और सहस्रार में निवास करनेवाला है, उस नील बिन्दु, उस नीलेश्वर महादेव, उस नील नित्यानन्द का मुझे दर्शन हुआ था।

हे साधको! तुम्हारे नील के अन्दर वह है। परन्तु ऐसा मत समझो कि नील के दर्शनमात्र से ही तुम पूर्ण हो गये हो। वह अव्यक्त महापुरुष साधक के लिये गुह्यातिगुह्य है। वह सिद्धिप्रद मार्ग का लक्ष्य है। कालांतर में भी वह कहने की बात नहीं है। न तो लिखने का विषय है। इसके ही प्रसाद से आगे दिव्य साक्षात्कार होगा। यह न लिखनेवाली बात कैसे लिखी गयी यह तो सिद्धविद्यार्थी ही जानें। मैंने लाचार होकर कहा। यंदे भाऊ ने लिखा।

इतना होने पर भी पूर्ण समाधान होने में कुछ शेष था। अब का ध्यान बहुत दिव्य हो गया था। कुछ समय के लिये मैंने जो नीलपुरुष देखा था उसको अव्यक्त तेज का गोला कहते हैं। जिसने भूमण्डल को अपने अन्दर समा लिया है उसको योगीजन ध्यान द्वारा नील के अन्दर देखते हैं। अब इसका ही ध्यान होता। इसका ही स्मरण होता। अब यही मेरे मनोदेश में मूर्ति होकर बैठ गया। नित्य ध्यान करता। ध्यान में वही मधुमय तेजयुक्त नील उत्तरोत्तर अनन्त प्रकार से मुझे दीखता। उसमें रुचि अधिक बढ़ती जाती, क्योंकि वह नित्य नये नये प्रचण्ड तेज को धारण करता। अब ध्यान सहस्रार में होता। साथ साथ मेघनाद का दिव्य गर्जन भी सुनता। मेघनाद सुनते सुनते ध्यान इतना आनन्दमय हो गया कि चित्त की नाना प्रकार की पूर्व वासनाएँ इसके गर्जन से छिन्न भिन्न होकर न जाने कहाँ चली गयीं। यह नाद सुनते सुनते उस निरामय परब्रह्म में क्षणभर के लिये एकत्व लाभ की अनुभूति हो जाती।

साधक यह बात न भूलें कि अन्तर्ज्ञान की भंडारस्वरूप, मूलाधार में स्थित, महाशक्ति कुण्डलिनी गुरुप्रसाद से जब जग जाती है तब वह साधक का पूर्ण योगक्षेम करती है। साधक जितना इस कुण्डलिनी और गुरु में शरण लेता है, उतना ही वे रक्षण के लिये उसके सन्मुख खड़े रहते हैं। श्रीगुरु और शक्ति की अनन्य शरण लेने की बात को बारबार स्मरण करना चाहिये। इस महाशक्ति को **पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति** कहने से सिद्धविद्यार्थी यह समझें कि वह कुण्डलिनी है, गुरु है, परशिव है। जैसे सुई वस्त्र को स्पर्श करके बींधती हुई ऊपर जाती है, वैसे ही यह महाशक्ति कुण्डलिनी मूलाधार से, सुषुम्ना में चक्र-वेधन करती हुई, ब्रह्मरन्ध्र में जाती है। तब साधक के शरीर में उसके स्पर्श का अनुभव अवश्य होता है। जब कुण्डलिनी महाशक्ति जागृत होती है तब वह बहत्तर हज़ार नाड़ियों में व्याप्त होकर साधकों को मृदु, कोमल, सुखद, दिव्य स्पर्श का बोध कराती है। यह स्पर्श साधकों की प्रकृति की आवश्यकता के अनुसार कोमल या कठोर भी होता है। जब कठोर होता है तब सर्वांग में अग्नि जैसी जलन की अनुभूति होती है। ऐसा होने पर भी मृदु और कठोर, ये दोनों उसी परब्रह्म के स्पर्श हैं।

ऊर्ध्वध्यान स्थिर हो जाने पर जब सहस्रार में मेघ-गर्जन होने लगता है और जिह्वा तालु में लटक जाती है तब साधक दिव्य रस का पान करने

लगता है। कभी यह जिह्वा जब तालु में लग जाती है तब शीतल चन्द्रामृत का भी पान होता है। इस अमृत का पान करने से सिद्धविद्यार्थी आश्चर्य में मग्न हो जाता है और नित्यप्रति अभ्यास में रुचि को बढ़ाते हुए उसके अधिकाधिक पान करने का प्रयत्न करता है। इस रसपान के भी बहुत प्रकार हैं। इस विशेष रसपान में साधक को मक्खन, दूध, घी, मट्ठा, मधु आदि के रस की जाति के पेयों का भी अनुभव होता है। यह रसपान तब होता है जब साधक का मन आज्ञाचक्र में लीन हो जाता है और भ्रूकुटी में निर्वात दीप सदृश आत्मदर्शन होता है। ऐसा रसपान होने से अनेक प्रकार के आन्तरिक रोग भी चले जाते हैं। ध्यान करते करते साधक की प्राणवायु भ्रूमध्य में स्थिर हो जाने पर वहाँ दिव्य सुगन्ध का उदय होता है। उस दिव्य सुगन्ध को सूँघते ही बड़ी उच्च दशा प्राप्त होती है। ऐसी अनन्त प्रकार की अनुभूतियों को लेकर मेरा ध्यान आगे बढ़ता चला।

इस नीलपुरुष के दर्शन के बाद ध्यान ऊर्ध्वाकाश में ही स्थिर होने लगा। उस ऊर्ध्वाकाश में मैं बादल के धुएँ जैसा दिव्य तेज देखता और उस तेज के मध्य में नील बिन्दु दिखायी देता। वह तेज नित्यप्रति बढ़ने लगा। उस नील के आसपास सर्वत्र यह तेज है। ऐसा समझा जाता है कि सहस्रार आकाश का तेज इस बिन्दु की महिमा पर आश्रित है। उसे नील से ही तेज प्राप्त होता है। रोज़ यही ध्यान। नित्यप्रति ध्यान में *आत्माहम् इति* वृत्ति का उदय होता था। कभी कभी यह भी अनुभूति होती कि वह नील कुछ समय के लिये अन्दर और बाहर आता-जाता है। यदि किसी महापुरुष के आने-जाने का दृष्टान्त मिले तो आप समझें कि उस नील द्वारा ही यह सब होता है।

मरणभय

मैंने ध्यान में पुनः एक नया आश्चर्य देखा। ध्यान करते करते ऐसी एक स्थिति आ जाती जिसमें मेरी आँखें ऊपर की ओर चढ़ जातीं। ऊपर की और नीचे की, दोनों पलकें ऊपर चढ़ जातीं। दोनों नेत्रबिन्दु ऊर्ध्व सहस्रार के मध्य, नील बिन्दु में आकर्षित हो जाते। अब ध्यान में गर्दन ज़रा-सी ऊपर उठ जाती। नेत्र उधर खिंच जाते। सहस्रार में एक अव्यक्त तेज का गोलाकार है, जिसका मैंने पहले वर्णन किया है। एक दिन

उसका तेज खुल गया और खुलते ही एक दो हज़ार नहीं, बल्कि कोटि सूर्यों का तेज वहाँ फैल गया। वह इतना प्रखर था कि उसको सहन करना मेरी शक्ति के बाहर था। मेरा धैर्य टूट गया। अब ध्यान भंग करना मेरे आधीन नहीं रहा। आसन से भी स्वयं नहीं उठ सकता था, आसन भी पराधीन था। आँखें मीचने या खुली रखने में भी पराधीन था। उस तेज ने मुझे अपनी ओर खींच लिया था। तेज को देखते देखते मैं मूर्च्छित हो गया। फिर जरा होश में आने के उपरान्त, 'हे भगवती, हे सद्गुरुनाथ, बचाओ!' कहकर पुकारने लगा, क्योंकि मुझे मृत्यु का भय लगता था। प्राण की गति, मन की गति रुक गयी। मैं अनुभव करने लगा कि मेरा प्राण उत्क्रमण कर रहा है। 'हे भगवान! हे सद्गुरु!' ऐसा कहते कहते, 'ॐ, ॐ' उच्चारते उच्चारते शरीर पर से मेरा अधिकार छूट गया। जैसे मनुष्य मरते समय मुँह खोलकर और हाथ फैलाकर एक अजीब ध्वनि करता है, वैसी ही ध्वनि करके मैं गिर पड़ा। गिरते ही एक क्षण में मेरा मूत्र निकल गया, इससे मैंने समझा कि मेरी स्मृति पूर्णरूप से नष्ट हो गयी है।

उस अनजानी मूर्च्छा की स्थिति में कुछ समय पड़ा रहा। फिर जैसे मनुष्य निद्रा से उठता है, उसी भांति घण्टे डेढ़ घण्टे के पश्चात् मैं उठा और हँसा कि 'अभी तो मर गया था। फिर से ज़िन्दा हो गया हूँ।' बड़ी शांति से, बड़े प्रेम से, बड़े आनन्द से उठा। मैं समझ गया कि कोटि सूर्य के समान उस दिव्य अव्यक्त तेज के दर्शन में ही मुझे मृत्यु की अनुभूति हुई थी। मैं बहुत डर गया था। इस अनुभूति से 'मौत क्या है' यह मैं समझा। मैंने विचार किया कि मौत की केवल इतनी ही दशा है। वह दिव्य अव्यक्त तेज का गोला देखकर मैं भय से निर्भय हो गया। वही दशा जीवदशा से मुक्ति की है। तब से मेरा धैर्य बहुत बढ़ गया है और भय का मुझे ज्ञान नहीं है। किसी का डर नहीं है। क्या होगा यह चिन्ता नहीं है। कोई क्या करेगा इसका विचार भी नहीं है। मेरा भय का स्थान ही नष्ट हो गया। मैंने पूर्ण निर्भयता प्राप्त कर ली है।

सत् चिन्मय नीलिमा

अन्तर से अब स्वयं ही आत्मानुभूति उदित होते चली। पहले 'देहोऽहम् इति' ऐसा स्फुरण रहता था; अब वह बदलकर 'शिवोऽहम्' का स्फुरण

अपने आप अन्दर से होने लगा। अब आनन्द की मस्ती और भी बढ़ी। वे सब स्मृतियाँ—उस सगुण नील महापुरुष की, उसके आशीर्वाद की, उसके मेरे अन्दर रहते हुए की, 'वही मैं हूँ' ऐसे भाव की, अधिकाधिक स्फुरने लगीं। नाद की ध्वनि की मस्ती, सर्वांग में व्याप्त प्रेम की उत्कटता और अव्यक्त दिव्य तेज के गोलाकार से भय के नष्ट होने की स्मृति, इन सब के आनन्द में मैं झूमने लगा। ध्यान और बढ़ा। आत्मानुभव बढ़ते चला। फिर भी अन्तर्वृत्ति कहती कि इसके आगे और कुछ शेष है। और मैं अभाव की अनुभूति करता। परन्तु कोई उपाय नहीं था। एकमात्र अन्तर शक्तिरूप श्रीगुरुदेव की अनन्य शरण बिना अब उस अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती थी। फिर भी ध्यान करते रहा। रोज़ रोज़ वह दिव्य तेज का गोला और उसके बीच नील देखता, मेघनाद को सुनता। यही मेरी ध्यान की अवस्था थी।

कभी कभी उन सर्वज्ञ महापुरुष नीलेश्वर का विद्युत्-वेगतुल्य दर्शन होता। ध्यान भी बढ़ता। अब इस भाव में प्रतिदिन मेरी दृढ़ता बढ़ने लगी थी कि 'वह मेरा अन्तरात्मा ही है जिसका उजाला सारे विश्व में फैला हुआ है'। वह दिखायी न देने पर भी नीलपुरुष के दर्शन में मैं अपने अन्तरात्मा को देखता। जो सब के अन्तर में रहकर, विश्व में सर्वत्र व्याप्त होकर, सब को क्रियाशील बनाता है, जो पूर्ण 'एकमेवाद्वितीयम्' होने पर भी द्वैतरूप से भेदरहित अनन्त रूपों में स्फुरता है, जो एक से ही अनेक, अनेक से ही एक होकर विलास करता है, वही नीलमय मेरा आत्मा है यह ज्ञान भगवान श्रीनित्यानन्द के कृपा-प्रसाद से होता चला। वही श्रीमद् भागवत के **सत् चिन्मय नीलिमा**रूप श्रीकृष्ण हैं। यही श्रीमद्भागवत का लक्ष्य है। वह चिन्मय नीलिमा गोपीजनों का प्रिय प्राण है। वह नीलिमा योगीजनों का आत्मा है। ***यह अन्तर की सत्चित् नीलिमा ज्ञानीजनों का 'सोऽहम् ब्रह्म' है।*** वह नीलिमा ही भक्तों का प्रेमरस बढ़ानेवाला आराध्य, इष्टदेव है। वही सत् चिन्मय नीलिमा मुक्तानन्द स्वामी का आराध्य देवता श्रीगुरु नित्यानन्द है। वही सत् चिन्मय नीलिमा सिद्धविद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों की अनुग्राहिका पारमेश्वरी शक्ति है। इसका ज्ञान न होने से 'परब्रह्म परमेश्वर में ही यह जगत भासता है' यह बात समझ में नहीं आती। लेकिन पराशक्ति कुण्डलिनी के विकास के फलस्वरूप ज्ञान हो जाने से यह जगत परब्रह्मरूप में विलसता हुआ दिखायी देता है।

जिसका अनुग्रह होने से माया महेश्वररूप बन जाती है, वही मेरा अन्तर-नीलेश्वरी रूप आत्मा है, ऐसा ज्ञान मुझे स्फुरने लगा। जिस नील की ज्योति सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है, जो सभी का परम शुद्ध साक्षी है, जो कूटस्थ भूमा, ध्रुव सत्य है, जिस नीलिमा से मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ, वह नीलिमा मेरा आत्मा है ऐसा ज्ञान होता चला। जैसे सूर्य को मेघ ढक नहीं सकता, प्रकट होने पर भी अन्धे को दीख नहीं सकता, उसी प्रकार जो नीलिमा सबका द्रष्टा है, प्रकट होने पर भी गुरुकृपा के बिना दिखायी नहीं देता, क्षण में प्रकट होता है और क्षण में छिप जाता है, छिपने पर भी प्रकट ही है, वही मेरा आत्मा है, अन्तर में दृढ़तापूर्वक यह ज्ञान होने लगा। जो मेरे योगक्षेम का वाहक है, जो पूर्वजों का ज्ञान है, भविष्य में आनेवालों की जो पहचान है, जिसके कृपाज्ञान से प्रपंच का पूर्ण लय है, वही मेरा सच्चिदानन्द है ऐसा विश्वास होने लगा। जो प्रकाश का भी प्रकाशक है, जो जड़ में भी प्रकाशित है, जिसका ज्ञान न होने से सब ज्ञान अपूर्ण है, जिसके जानने से सब कुछ सहज में ज्ञात हो जाता है, वही श्रीगुरु नित्यानन्द की कृपारूपी नीलिमा है, ऐसी अन्तःस्फूर्ति दृढ़तापूर्वक नित्य उदित होती चली। जितनी यह दृढ़ता बढ़ती जाती उतना ही 'अभी थोड़ा बाकी है' ऐसा सूक्ष्म ज्ञान भी होता जाता। महाकुण्डलिनी ध्यान के साथ साथ ब्रह्मज्ञान को भी बढ़ाती जाती।

ज्ञानोदय

ध्यानोत्तर विचार में वेदान्तियों का लक्ष्य समझने लगा। वेदान्तियों को द्रष्टाभाव से निर्विकाररूप में जो बुद्धिगोचर होता है, सूक्ष्म बुद्धि जिसका अनुशीलन करते करते अपने को खो देती है और बुद्धिवृत्ति का जिस सत्य में लय होना ही वेदान्त की प्राप्ति है, वह मुझे ध्यान में सहज ही समझ में आने लगा। मनुष्य जागने पर भी जागृत अवस्था से दूर रहकर जागृति के सर्व प्रपंच को जो 'इदम्' करके देखता है, स्वप्न में सो जाने पर जो न सोते हुए जागते रहता है और जागते हुए, मन और इन्द्रियरहित होकर स्वप्न के सब प्रपंच को 'इदम्' करके जानता है, जो गाढ़ी सुषुप्ति में, घनघोर अन्धकार में कुछ न दीखने पर भी, प्रकाशमान होकर उधर के अभाव को देखता है, वही ध्यान का परम लक्ष्य निर्विकार आत्मा है, ऐसा ज्ञान मुझमें उदित होने लगा। जो नेत्रों में बैठकर रूप का अवलोकन

करता है, जो कर्णगोलकों में रहकर सब शब्दों का अर्थ अपनी अपनी इन्द्रियों को समझा देता है, जो प्राणापान को गतिशील करके प्राणापान के बीच निर्विकार दशा में स्थिर रहता है, वह साक्षी आत्मा वेदान्त का लक्ष्य है, ऐसा ज्ञान अन्तर से सहज में होने लगा। मानव अज्ञानवश कहता है कि 'मैंने खाया, मैंने पिया, मैंने लिया, मैंने दिया', परन्तु सभी का भोक्ता, कूटस्थ, साक्षी, अन्तरात्मा है और वही ब्रह्म है। ऐसा बोध होने पर संसार के अनेक प्रकार के लोग कोई रोते, कोई चिल्लाते हुए आते थे, वे सत्य कहते हैं या झूठ बोलते हैं, ऐसा विचार मेरे मन में आने लगा। मेरे अन्तरात्मा की जैसी गति उनमें भी है ऐसा मुझे स्फुरने लगा। जैसे एक चित्रकार एक ही पट में, एक ही रंग से, एक ही तूलिका से, एक ही संकल्प से अनेक चित्रों को रचता है; रचने पर भी पट एक, रंग एक, संकल्प एक, चित्रकार एक, वैसे ही इस विश्व में भिन्न भिन्न रूपों में, भिन्न भिन्न रंगों में अनेक प्रकार दीखने पर भी 'एक है' याने भिन्नता में भी अभिन्नता है ऐसा ज्ञान होते चला। इस तरह ज्ञान की अनुभूति नित्यप्रति बढ़ रही थी; परन्तु उससे ध्यान कुण्ठित नहीं हुआ। साधन में शिथिलता नहीं आयी। ध्यान के साथ ऊर्ध्व दृष्टि सहस्रार में जमती गयी। दोनों चक्षुबिन्दु सहस्रार में खिंचते चले। खिंचते खिंचते एक नयी घटना घटी। जो घटना अकथनीय है। फिर भी क्या जाने कैसे मैं अब कथन कर रहा हूँ! और अब मेरे प्रिय प्रोफेसर जैन लिख रहे हैं। अस्तु। होनहार होता ही है। जो हरि की इच्छा है, वही होता है। यह सत्य बात है : **सब हिं नचावत राम गोसांई।**

साक्षात्कार

ध्यान की मात्रा पूर्ण होती चली। साधन की समाप्ति, परमार्थ यात्रा की पूर्ति, अन्तरात्मा की पूर्ण तृप्ति समीप आ गयी। गुरुदेव के आज्ञापालन का कार्य पूरा होने का समय आ गया। इसको दिव्य साक्षात्कार कहते हैं अथवा मानव का भाग्योदय कहते हैं। परमार्थयात्रियों की साधनारूपी मोटर वहाँ आकर सदा के लिये रुक जाती है, वहाँ पहुँचने पर, कुछ नहीं देखने पर भी सब देखा-सुना हो जाता है, सब कुछ पा लिया ऐसा दृढ़ निश्चय अन्दर से अपने आप हो जाता है। इसकी प्राप्ति के अनन्तर साधक आनन्द में बैठता, आनन्द में सोता, आनन्द में फिरता, आनन्द में बाहर आता-जाता

है। वह आनन्द में मठ में रहता है, आनन्द का ही आचरण करता है, आनन्द का ही उसका व्यवहार होता है और वह आनन्द में भोजन करता है। 'अब मैं भवसिन्धु से पार हो गया हूँ' इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति भी उसे होती है। इसके एक दर्शनमात्र से सभी व्यवहारों को करते हुए भी उन व्यवहारों का क्षोभ मिट जाता है, हृदय सागरसम गम्भीर हो जाता है, मन के सब क्लेश गल जाने से चित्त चिति ही हो जाता है, 'वह सभी का प्यारा, सभी का आत्मा मैं ही हूँ, मैं ही हूँ, मैं ही हूँ,' ऐसी अन्तर-ध्वनि उठती है। जिसके दर्शन से साधक निर्द्वन्द्व सुख भोगता है, निर्द्वन्द्व ज्ञान पाता है, निर्द्वन्द्व विज्ञान और निर्द्वन्द्व सुख समताज्ञान प्राप्त करता है, उसी सच्चिदानन्दमय नीलेश्वर का फिर से एक बार मुझे दर्शन हुआ।

मेरे प्यारे आत्मीय सिद्धविद्यार्थियो! अब का ध्यान पूर्व जैसा ही ध्यान था। भगवान श्रीनित्यानन्द का अन्तर-झटका लग गया। झटका लग जाते ही बहत्तर हज़ार नाड़ियों में, असंख्य रक्त-कणों में रक्तेश्वरी ज्योति की लाल किरण चमक उठी। तुरंत ही श्वेतेश्वरी आकर खड़ी हो गयी। श्वेतेश्वरी का आधार कृष्णेश्वरी, कृष्णेश्वरी का परम आधार मेरी प्यारी नीलेश्वरी आ गयी। नीलेश्वरी के आते ही एकदम ध्यान चढ़ गया। दृष्टि ऊर्ध्व हो गयी। दोनों आँखों के नीलबिन्दु इतने शक्तिशाली बने कि ऊर्ध्व सहस्रार के मध्य में ब्रह्मरन्ध्र के बीच छिपे हुए परम शुद्ध नीलपुरुष को वे बाहर खींच कर ले आये और उन्होंने उसे मेरे सामने खड़ा कर दिया। उसी छोटे-से नील को देखते देखते मैंने देखा कि वह अपनी प्रभा को फैलाते हुए सर्वत्र बढ़ने लगा है। आकाश से पृथ्वीमण्डल तक उसकी नीलप्रभा बढ़ गयी। अब वह बिन्दु नहीं रहा। जगमगाती हुई अथवा चमकती हुई वह अनन्त प्रभा बन गया, जिसको शास्त्रकारों ने अथवा सत्य के साक्षात्कारियों ने चिन्मय, चिति-ज्योति कहा है। वह प्रभा विश्वाकार में व्याप्त हो गयी। विकसित होती हुई उस चिन्मय प्रभा से पृथ्वी का उदय होते मैंने देखा। जैसे मनुष्य जलती हुई अग्नि से ऊपर उठता हुआ धुआँ देखता है, वैसे ही उस चिन्मय प्रभा से इस जगत का उदय हो रहा था। जैसे वस्त्र के अन्दर तन्तु, तन्तु के अन्दर वस्त्र है, वैसे ही उस चिन्मय प्रभा के अन्दर जगत और जगत में चिन्मय प्रभा, ऐसा मैंने प्रत्यक्ष देखा। जैसे एक बीज ही वृक्ष होकर शाखा, पल्लव, पुष्प और फल के रूप में प्रकट होता है वैसे ही वह चिति अपने

आप में ही पशु-पक्षी, कृमि-कीट, देव-दानव, नर-नारी बनती है। देदीप्यमान, परम सौंदर्ययुक्त वह चिन्मय प्रभा अब मेरे अन्दर, मेरे बाहर, मेरे ऊपर, मेरे नीचे सभी ओर एक शांत परमानन्दमय रूप से स्फुरती हुई मुझे दिखायी दी। आँखें खुलीं होने पर भी ध्यान बना हुआ था। जैसे पानी में डूबा हुआ मनुष्य पानी के नीचे जाकर अवलोकन करता है : 'मैं पानी के बीच हूँ, मेरे चहुँ ओर पानी ही पानी है, दूसरा कुछ नहीं है', वैसे ही मेरे चारों तरफ वही चिन्मय तेजपुंज था। ऐसी स्थिति में जगत लुप्त हो गया था। मैं केवल तेज ही तेज देखता था। जैसे देखनेवाले को भगवान सूर्यनारायण से असंख्य जाति की अनन्त किरणें जगमग जगमग करती चारों ओर फैलती हुई नज़र आती हैं, वैसे ही मेरे सामने के नील से असंख्य तेजकिरणें चारों ओर पसर रही थीं।

अब जगदाभास नहीं रहा। मैं एक दिव्य-भाव-सम्पन्न बन गया। पसरण के उस किरणपुंज के बीच नील के अन्दर मैंने देखा कि श्रीगुरुदेव एक हाथ ऊपर उठाये आशिष देते हुए खड़े हैं। वे मेरे परमाराध्य श्रीनित्यानन्द थे। पुनः देखता तो नित्यानन्द नहीं है, बल्कि त्रिशूल लिये श्रीपरशिव खड़े हैं। क्या सुन्दर मनोरम रूप है! वह सब नीलपुंज का है। हाथ, पाँव, नख, सिर, जटा—सब नीलमय हैं। देखते देखते नित्यानन्द भी बदल गये, परशिव भी बदल गये और मैंने पहले जो मुक्तानन्द का प्रतीकदर्शन किया था, उसी मुक्तानन्द को देखा। हाँ, मुक्तानन्द को भी उसी चिन्मय किरणपुंज में देखा। उसी नीलिमा का उसका शरीर है, उसीकी शाल, उसीकी रुद्राक्ष माला। मुक्तानन्द के पश्चात् फिर से शिव जी को देखा, शिव जी के बाद उसी नील में नित्यानन्द को देखा। वह किरणपुंज अब भी वैसा ही था। क्या उस किरण की चमक थी! क्या उस किरण का रंग था! क्या उसका बाह्य स्वरूप था! चिन्मय की चमचम चमकती प्रभा में मैंने नित्यानन्द को देखा। देखते देखते वे उसी नील में समा गये। जैसे बर्फ़ पिघलकर पानी बन जाता है और कर्पूर उड़के आकाश में समा जाता है, वैसे ही नित्यानन्द पिघलते पिघलते उस पसरे हुए किरणपुंज में समा गये। उसका अब नाम, रूप नहीं रहा। केवल जगमगाता हुआ वह ज्योतिपुंज मात्र था। अब नील से सर्वत्र पसरी हुई किरणें वापस आते आते पुनः नीलमणि में समा गयीं और एक मसूर-प्रमाण नीलमणि दिखायी देने लगी। वह मणि

जहाँ से वह बाहर आयी थी वहीं सहस्रार में जाकर समा गयी। सहस्रार में समाते ही मुक्तानन्द होशरहित, स्मृतिरहित, अन्दररहित, बाहररहित, आपरहित बन गया। यहाँ पर गुरुदेव की आज्ञा न होने से, परमेश्वर की इच्छा न होने से, सिद्धों का आदेश न होने से, मैंने एक परम गुह्य विषय नहीं लिखा है।

अब मुझे अन्तर्समाधि लग गयी। ऐसे ही कुछ काल बीत गया। फिर द्रष्टाभाव आने लगा। वह भाव आते ही नीलिमा प्रकट हो गयी जिसको शंकराचार्य ने **सत् चिन्मय नीलिमा** कहा है। उसमें मेरा ध्यान स्थिर हो गया। मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि मैं सहस्रार के मध्य में, सर्वाधार नील के मध्य में प्रवेश कर रहा हूँ। उसके अन्दर प्रवेश करते ही फिर से एक बार सर्व व्यापक विश्व मुझे दिखायी दिया। मैंने सर्वत्र देखा। जितने नर-नारी, छोटे-बड़े, उच्च-नीच देखे उन सभी में ऐसी एक एक नीलमणि देखी। जो नीलमणि मैंने अपने में देखी वही सभी में दिखायी दी। सभी के सहस्रार में यही अन्तरात्मा है इसका पूर्ण ज्ञान होते ही ध्यानोत्थान हो गया, होश में आ गया। अब होश में, पूर्ण देहभाव में आ गया था। देहभाव में आने पर भी मेरे अन्तरमन को वह नील दिखायी देता था। वह अपनी तरफ ही मेरा लक्ष्य आकर्षित कर लेता था। वहाँ देखते देखते मुझे समता और शांति प्राप्त हो गयी। दिन प्रतिदिन ऐसा ध्यान बढ़ता गया।

अब भी मैं ध्यान करता हूँ। अब मन का स्वाभाविक विश्वास हुआ है कि मुझे देखने के लिये और कुछ शेष नहीं है। अब मेरे ध्यान में पूर्ण प्राप्ति का निश्चय अपने आप उमड़ता है; क्योंकि नील के अन्दर मैंने जो तीन प्रकार के दृश्य देखे और उसके अनन्तर, उसमें से जो प्रभा का अति सूक्ष्म और शांत नीलपुंज सर्वत्र पसरा हुआ देखा वह चिन्मय प्रकाश बाह्य जगत में वैसा ही रह गया है। मिटा नहीं है। आँखें बन्द रहते हुए भी वह चमचम चमचम करके मृदु से मृदुतर, कोमल से कोमलतर, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप से चमकता रहता है। आँखें खोलने पर भी वह नील तेजोपुंज सर्वत्र देखता हूँ। किसीको भी जब मैं देखता हूँ तब पहले वह नील प्रकाश दीखेगा, फिर वह व्यक्ति दीखेगा। किसी वस्तु को देखता हूँ तो पहले वह मधुमय, सूक्ष्म, चिन्मय किरणपुंज चमकेगा, फिर वह वस्तु दीखेगी। अब जहाँ भी चित्तवृत्ति जावे, वहीं चमकते तेजपुंज के बीच जगत दीखता है। फिर जो भी क्षुद्र और महान वस्तुएँ मैं देखता हूँ, उससे

तुकाराम के, पहले कहे हुए पद[1] का सत्यार्थ भासता है। अर्थात् मेरी आँखों में उस नीलप्रभा से अंजन लगाया गया जिससे मुझे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई।

चिद्विलास

अब भी मैं ध्यान करता हूँ तो ध्यान में तन्मय होने पर नीलरश्मि, नीलपुंज और उस चिन्मय के बीच नीलबिन्दु देखता हूँ। वह मृदु, चिन्मय तेजपुंज अति सूक्ष्मरूप से हिलते हुए, चमकते हुए सभी अवस्थाओं में देखता हूँ। भोजन करते, पानी पीते, स्नान करते, बस वह मेरी आँखों के सामने खड़ा है! सोता हूँ तो निद्रास्थान में भी वह खड़ा है। अब मेरी दृष्टि द्वैत-अद्वैतरहित हो गयी है, क्योंकि द्वैत-अद्वैत दोनों में वही व्याप्त है। अब देश-काल-वस्तुभेद की मर्यादा नहीं रही। नील का सर्वत्र सूक्ष्म जो प्रसरण है वह मेरी आत्मा में भी विश्वाकार से व्याप्त है। न दीखनेवाला भी मैं देखता हूँ। जैसे न दीखनेवाला गुप्त धन मन्त्र-अंजन लगाने से दीखता है वैसे ही श्रीगुरुदेव की कृपा से और पारमेश्वरी कुण्डलिनी के प्रसाद से वह दिव्य साक्षात्कार करानेवाला नील अंजन मेरी आँखों में लग जाने से, न दीखनेवाला याने अति सूक्ष्म भी दीखता है। चारों तरफ मेरे आत्मा की ही विश्वाकार व्याप्ति है ऐसी अब मेरी पूर्ण समझ है। प्रपंच है ही नहीं, कभी हुआ ही नहीं; जिसे हम प्रपंच कहते हैं वह तो चितिशक्ति का केवल चिन्मय विलास है, ऐसा मेरा पूर्ण निश्चय है। 'सोऽहम्' में जिसको 'सः' और 'अहम्' कहते हैं, उसको मैं सहज में समझता हूँ। वेदान्त जिसको 'तत्त्वमसि' विद्या कहता है और जिस विद्या का परिणाम ब्रह्मानन्द कहा गया है, वही मेरे अन्दर सूक्ष्मरूप से स्फुरने वाला मेरा स्वरूप है। इसके पुष्टीकरण के लिये 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' ग्रन्थ से प्रमाण देता हूँ। उसमें कहा गया है कि परमात्मा शिव की ऐसी दृष्टि है :

...श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादि-धरण्यन्तं अखिलं अभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपि तु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।

---

१. पृष्ठ १०६

अर्थात् भगवान परशिव के लिये, जिसको हम परमेश्वर पराशक्ति कहते हैं, विश्व नाम की कोई वस्तु नहीं है। वे केवल सत्य, नित्य, निर्गुण, निराकार, व्यापक और पूर्ण हैं। उनको शिव से लेकर पृथ्वी तक यानी स्थावर-जंगमात्मक दिखनेवाला, प्रकट-अप्रकट सभी जगत अभेदरूप से परमानन्दमय प्रकाशरूप अपने जैसा ही प्रतीत होता है। वस्तुतः उनके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, द्रष्टा-दृश्य भाव भी नहीं है, ग्राह्य-ग्राहक भाव भी नहीं है, जीव-शिव भाव भी नहीं है, जड़-चेतन भाव भी नहीं है। अपितु श्रीमत् परमशिव परमेश्वर अकेला ही इस जगत के चित्रविचित्र अनेक रूपों में स्फुरता है। यह विश्व भगवान का शरीर है और विश्वरूप में परमशिव ही अपनी आत्मस्थिति में खड़ा है ऐसा अब मैं देखता हूँ।

ज्ञानदेव के उस अभंग के, जिससे यह ग्रन्थ लिखना शुरू[1] किया था, अन्तिम दो चरण इस प्रकार हैं:

तयाचा मकरंद स्वरूप तें शुद्ध । ब्रह्मादिका बोध हाची झाला ॥ ४ ॥
ज्ञानदेव म्हणे निवृत्ति प्रसादें । निजरूप गोविंदें जनीं पाहतां ॥ ५ ॥

'जिस नीलेश्वर का मैंने वर्णन किया है, उसके अन्दर उसका जो मूल है, उसका जो रस है, याने जो शुद्ध परमानन्दमय बोध है, वही परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है। ब्रह्मा से लेकर सभी ऋषि-मुनियों को यही बोध हो गया है।' साक्षात्कार का अनुभव बताते हुए ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, 'श्रीसद्गुरु निवृत्तिनाथ के कृपाप्रसाद से प्राप्त मेरा अन्तर्गत निजरूप, जो नील है, वही परमात्मा श्रीगोविन्द है। उसको सब जनों में मैं देखता हूँ।'

सर्वव्यापक परमेश्वर, परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ नहीं है, यह वेदान्त का कथन सत्य है। वस्तुतः परमात्मा का यह ज्ञान ही जीवन का सार है, जिस ज्ञान को पाकर हमारा संसार अमृतमय बन जाता है। परमात्मा के ऐसे ज्ञान की मानव को अत्यंत आवश्यकता है। वह ज्ञान शक्तिपात से ही सम्भव है। सिद्धकृपा से ही सभी महात्माओं ने अपने अन्तर में परमेश्वर को पाया है। ऊपर कहे हुए, ज्ञानेश्वर महाराज के जो अनुभव हैं, वही सभी के पूर्ण अनुभव हैं। जनक-सनक-नारद आदि मुनियों ने अपने जिस निज

---

१. पृष्ठ ८०

स्वरूप का अनुसन्धान किया, वही परम्परागत परमानन्दमय ज्ञान का तत्त्व है, वही परमानन्दमय गोविन्द है जो सर्व जनों में दिखता है। ज्ञानी से लेकर अज्ञानी तक सर्व मानवों में वह दिखेगा, चाहे वे मूढ हों अथवा पागल, क्योंकि पागलपना और मूढ़ता मन की वृत्ति है, आत्मा परम शुद्ध है। *सहस्रदल के ब्रह्मरंध्र के बीच जिसका निवास है वह षोडशकलातीत पुरुष निरंतर वहाँ रहता है। इस पुरुष को 'सत्रहवीं' भी कहते हैं। षोडशकला के ऊपर जो 'सत्रहवाँ' है वह आत्मा है।* जिसकी दृष्टि पूर्ण शुद्ध हो गयी है, उसको आत्मरूप नील वर्ण सहस्रदल में भासमान होता है। ज्ञानेश्वर कहते हैं कि यह परम गुह्य तत्त्व मैं सद्गुरु की कृपा से कहता हूँ।

यथार्थ सत्य यह है कि यह जगत 'चिद्विलास' है, चितिशक्ति का उन्मीलन है, इसलिये चिति का ज्ञान न होने से जगत भासता है। जब चितिज्ञान होगा तब जगत नहीं दीखेगा, सर्वत्र चिति ही दीखेगी। वसुगुप्ताचार्य का यह कथन सत्य है :

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्
स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥

स्पन्दशास्त्र

स्वय प्रकाशरूपा, संवित् देवता चितिशक्ति का विलास यह जगत हैं जिसमें हम लोग व्यवहार कर रहे हैं। जिसकी इस प्रकार की दृष्टि हैं उसके लिये जगत पारमेश्वरी शक्ति का विलास मात्र है। न उसके लिये बन्ध है, न मोक्ष है। न साधन है, न साध्य है, न कुछ संकोच है। क्योंकि गुरुप्रसाद से उसके ज्ञानचक्षु खुल गये होते हैं। द्वैत दिखानेवाले भेद का परदा फट गया होता है। गुरुकृपा न होने से वह पारमेश्वरी चिद्विलासिनी चिति आँखों में आकर नहीं बैठती और जगत के सत्य स्वरूप को प्रकट नहीं होने देती। श्रीगुरुदेव के अनुग्रह के साथ साथ सिद्धविद्यार्थी के अन्तर में जब वह प्रविष्ट होती है, तब सर्वांग में फैलकर, उसको पूर्ण शुद्ध करती हुई, उसको अपने स्वरूपमय बनाती हुई, उसकी आँखों, हृदय और चित्त में बैठ जाती है। तदनन्तर उस विद्यार्थी को यह जगत चितिशक्ति का विलासरूप दीखता है। यह सत्यदर्शन है। वसुगुप्ताचार्य का यही निर्णय है कि जगत कोई अन्य वस्तु नहीं है, संवित्रूपा चिति की क्रीड़ामात्र

है। इस चिति का स्वरूप परम स्वतन्त्र है, स्वप्रकाशमय है। वह सृष्टि-स्थिति-लय करनेवाली शक्ति को अपने में धारण करके विद्यमान है। यही चिति सभी का मूल कारण होकर सब के सुख का उपाय है। यह चिति देश, काल, आकार से पृथक् होने पर भी देश, काल, आकाररूप भासती है। सब देश, सब काल, सब आकार इस चिति से ही प्रकट होते हैं। चिति जगतरूप में प्रकट होने पर भी सर्वव्यापक, सदा परिपूर्ण, नित्य प्रकाशरूप होने से अपने अखण्डत्व और एकत्व में पूर्ण है।

देशकालाकारभेदः संविदो न हि युज्यते।
तस्मादेकैव पूर्णाहं विमर्शात्मा चिदुच्यते॥

जब परमशिव को रचना करनी होती है तब यह चिति अपनी स्वतन्त्रता से अपना प्रसरण करके, अपने आप में ही भेद को अंगीकार करके, अनन्त-पदार्थरूप होके व्यक्त हो जाती है।

यह चिति प्रवृत्तिरूप से बाह्य जगत में संपूर्ण विश्वाकार होकर स्वयं ही प्रकाशित होती है। इसको चिति का विश्वात्मक रूप कहते हैं। विश्वाकार होने पर भी यह चिति विश्वोत्तीर्ण होकर यानी विश्वातीत होकर स्वयं प्रकाशमय, परम शुद्ध, निर्मल रहती है। और इसी प्रकार मानव के अन्दर भी यह चिदात्मा या चिति बाह्य प्रवृत्तिरूप से स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण शरीर, पंचकोष, चार अवस्थाएँ, अंतःकरण-चतुष्टय से लेकर पंचतत्त्वों के छत्तीस तत्त्वमय शरीर में बहत्तर हज़ार नाड़ीसमुदाय को लेके, सप्तधातुरूप होकर, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ एवं उन उनके विषय, पंच प्राण एवं उन उनके कार्य, मस्तक से अंगुष्ठ तक न जाने कितने रूपों को धारण करती है। सुख, दुःख, भय, व्याधि, विकार, शैशव, यौवन, स्वर्ग, नरक ऐसे अनेक भाव और रूपों को रचकर आप ही उनमें प्रवेश करती हुई बाह्य विश्वाकार बनती है। फिर भी उसकी शुद्धता और निर्मलता ज्यों की त्यों है। जैसी की तैसी रहकर वह चिति इस बहिरंग जगत में विलास करती है। विश्वोत्तीर्ण याने विश्वातीत दशा में वह जागृति से भिन्न, जाग्रत अवस्था के शरीर के सभी शुभाशुभ कर्मों से भिन्न, स्वप्नों से भिन्न, स्वप्नावस्था के स्वप्न के सर्व व्यवहारों से भिन्न, सुषुप्ति से भिन्न, सुषुप्ति अवस्था के शून्य से भिन्न, महाकारणरूप तुरिया में तुरियातीत होकर,

केवल स्मृति मात्र, इस संपूर्ण विश्व की साक्षी होकर, समस्त विश्व के बीच विश्व से भिन्न होकर रहती है।

नील के अन्दर केवल परमानन्दमय, मधुमयी वह चिति है। उससे अन्य कुछ नहीं है। उसके जैसा दूसरा कोई नहीं है। इस तरह एकाकार होकर केवल साक्षीरूप में वह चिति, जिसको परम संवित्ति, परम शिव कहते हैं, अपने आप में अकेली है। उसके आगे, उसके मध्य में, उसके पीछे भी कोई नहीं है। इसको विश्वोत्तीर्ण परमशिव कहते हैं जो वेदान्तियों का 'निर्गुण निराकार परब्रह्म' है। इसके उभय रूप हैं—एक विश्वोत्तीर्ण परम शुद्ध, दूसरा विश्वात्मक। चिति का विश्वात्मक रूप वह है जिसमें वह अपनी इच्छा से, अपने में ही आप जगतरूप बनती है।

सिद्धविद्यार्थियो, आप यहाँ थोड़ा विमर्श कर सकते हैं। जब आप गुरुप्रसाद पाकर, गुरुप्रसाद के फलस्वरूप, ऊर्ध्वसहस्रार में अपने आप में परम सुखमय होकर क्षणभर रहते हैं, उस समय आप न तो अपने से भिन्न कुछ जानते हैं, न आपसे कुछ भिन्न दीखता है और न कुछ है ही। केवल आप हीं आप हैं। अपने ही आनन्द को, अपनी ही गुरुप्रसादरूप मस्ती को, अपने ही में आप ही, अपना करके भोग लेते हैं। इसका ही नाम "पूर्णाहंतायाम् '*आवेशो*'...." है। यह सिद्धविद्यार्थियों का विश्रांतिस्थान है। यहाँ आप को अपने में आप ही भासता है, इसको 'अहम्' कहते हैं। यदि कोई पूछे कि यह 'अहम्' क्या है तो कहना कि यही अहम् ब्रह्म है, यही अहम् शिव है, यही राम, यही शक्ति, यही कुण्डलिनी और यही अहम् सिद्धविद्यार्थी है। जब यह 'अहम्' तुरियातीत दशा से 'इदम्' आकार धारण करके अपने विश्वात्मक रूप में प्रकट होता है, तब तुरिया से सुषुप्ति, सुषुप्ति से स्वप्न, स्वप्न से जागृति में आकर नख से शिखा तक पूर्ण विश्वाकार हो जाता है। इस विश्वात्मक दशा में वह सभी गुणों में क्रीड़ा करता है। वह अपने आप, अपनी ही इच्छा से, तुरियातीत से जागृति तक प्रकट होता है। विश्वरूप होने पर भी वह न अपनेपन को भूलता है, न और कुछ होता है, न अपनेपन को कुछ बिगाड़ता है। इस तरह अपनी ही इच्छा से, अपने आप में ही इस विश्वको रचता है।

इस चिति के उभय रूप हैं—एक ग्राह्य भाव, दूसरा ग्राहक भाव। जो 'इदम्' करके समझ में आने वाला यावन्मात्र प्रपंच समुदाय है

वह ग्राह्य भाव है। 'इदम् घटः', 'इदम् पटः' ऐसा पृथक् पृथक् करके, 'इदम्' को अन्तर से जानने की जो शक्ति है वह ग्राहक भाव है। यह समग्र विश्व ग्राह्य है। इसका ग्राहक विश्वात्मा है। इस ग्राहक के अनुरूप, उसके लिये ही यह ग्राह्य प्रपंच है। ऐसी अनन्त चमत्कारयुक्त, सामर्थ्यवान चिति ही ग्राह्य-ग्राहक भाव में विश्व-विश्वात्मा होकर रहती है। वही चिति जगद्-विलास है और यह जगत चित्-शक्ति-विलास है। कश्मीरी शैवमत के अनुसार:

शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं
शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति।

अर्थात् जो सिद्धविद्यार्थी इस शरीर को छत्तीस तत्त्वमय चिति का रूप समझता है, याने इसको परमशिव रूप ही देख लेता है, वह इस सिद्धविद्या के नियमानुसार सर्वसिद्धि प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः भेदाभेद रूप से वह चिति ही अपना विलास कर रही है। जैसे मनुष्य की चारों अवस्थाएँ उसकी ही हैं, उससे भिन्न नहीं है, वैसे ही यह विश्वरूप चिति का अपना निजरूप है, उससे भिन्न नहीं है।

सभी शास्त्रों का यही सिद्धान्त है कि ब्रह्म सच्चिदानन्दमय और सुखरूप है। ब्रह्म से उदित हुआ यह जगत्, ब्रह्म से अन्य नहीं है। मैं, तू, यह— ऐसा जो दीखता है वह सब ब्रह्म का ही विलास है। भेद में अभेद, अभेद में भेद ऐसा वह परमेश्वर ही है। यही सत्य सिद्धान्त है। जैसे सागर में अनन्त जलबिन्दु, फेन, बुद्बुदे, तरंग होने पर भी वे सब सागर से अन्य कुछ नहीं हैं, वैसे ही इस विश्व के सब नाम, रूप, गुण चिति से यत्किंचित् भी अन्य नहीं हैं। जल की शीतलता का स्पर्श जैसे जल से कभी भिन्न नहीं होता, वैसे ही चिति का विलासरूप यह चिन्मय जगत तुम से भिन्न नहीं होता। जैसे पट होने पर भी विचार दृष्टि से वह केवल सूत है, सूत बिना पट हो ही नहीं सकता, वैसे ही *विश्व दीखने पर भी परमार्थ दृष्टि से परब्रह्म ही है, ब्रह्म बिना जगत हो ही नहीं सकता। जगत ब्रह्मविलास है—इसका ही नाम संवित्ति क्रीड़ा है।* ऐसा देखना ही पराशक्ति की पूजा है और यही सत्य श्रीगुरुबोध है।

जो इस चित्-शक्ति-विलास को न जानते हुए, जगत को चिति से

पृथक् देखते हैं, उनको ऐसा 'जगद्भ्रम' होने से वे ही नाना दुःख उठाते हैं। जो इस चितिमय जगत को चित्-शक्ति-विलास जानते हैं, वे मूर्तिमंत चिति ही हो जाते हैं। वेदान्त का भी यही सिद्धान्त है:

है ब्रह्म सच्चा, जगत मिथ्या, यह मात्र सिद्धान्त है।
ब्रह्मात्मा को जाने बिना, होता नहीं दुःख का अन्त है॥
जो जानता सब में एक को, वही नर पाता शान्ति है।
जो ब्रह्म है सो आत्म है, यही कहता वेदान्त है॥

इसलिये सिद्धविद्यार्थियों को आगे लिखे हुए महामन्त्र को मनन द्वारा निजात्म-स्मृतिरूप बना लेना चाहिये। जैसे कोई व्यक्ति भारत का सच्चा नेता हो, जिसमें भारत के प्रति दृढ़ आत्मबुद्धि हो, भारत के जनों के प्रति आत्मीयता हो, उस मनुष्य को उठते, बैठते, आते, जाते, सर्व कार्य करते हुए 'मैं ही भारत का आत्मा हूँ, भारत ही मेरा आत्मा है' रात्रिदिन ऐसा अभेदभाव सहज ही स्फुरता है; जैसे एक प्रतिष्ठित घराने का व्यक्ति हो, जिसका बड़ा कुटुम्ब हो, जिसमें सौ दो सौ छोटे-बड़े जन हों—भाई, बच्चे, नाती, पोता और अपना समग्र संसार भिन्न भिन्न होने पर भी 'यह मेरा है' ऐसी अभेद दृष्टि से उसे वह देखता है; वैसे ही, मेरे प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! उस परमशिव में ही 'वह शिव मेरा, मैं शिव का, उससे बना हुआ विश्व शिव, विश्व की सब क्रियाएँ शिव, वह शिव मुझसे भिन्न नहीं'—ऐसा प्रतिदिन अपने अन्दर सहज स्फुरने वाला स्फुरण बना लो।

यह विश्व शिव की वाटिका, है सैर करने के लिये।
ना राग, ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, वैर करने के लिये॥
यह विश्व शिव की मूर्ति, शिव-भक्ति करने के लिये।
विश्व शब्द का बाध कर, शिव-ध्यान करने के लिये॥
यह विश्व शिव-अवतार है, न जान धोखा खाय है।
शिव से विलक्षण जान कर, व्यर्थ अतिभय पाय है॥
यह विश्व शिव-दर्पण भवन, शिव बन जो भीतर देखता।
सर्वत्र ही शिव एक उसको, बिम्ब प्रतिबिम्ब भासता॥

सिद्धविद्यार्थियों के लिये अब एक मनन-मन्त्र लिखता हूँ :

सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता॥

प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! आप मन्त्र को भावना, फल, क्रियासहित पूर्ण आत्मसात् कर लें। छत्तीस तत्त्व के समुदायरूप यह प्रत्यक्ष भासनेवाला, जो हमारे जीवन का आश्रयरूप विश्व अथवा जगत है वह मेरा ऐश्वर्य है, ऐसा विश्वात्म-भावना से जो कोई जान लेता है, उसके अन्तर में अभेद में भेदरूप विकल्प को उदित करनेवाली वृत्ति रहते हुए भी उसकी 'महेशता' याने उसका सिद्धत्व वैसा ही रहेगा, विचलित नहीं होगा। जैसे प्रशान्त समुद्र में अनेक प्रकार के तरंग विलसित होने पर भी उसका समुद्रत्व भंग नहीं होता, उसी प्रकार 'यह सर्व विश्व मेरा ऐश्वर्य है' ऐसा जान लेने पर, विश्वाकार वृत्ति का उदय होने पर भी, आप का ईशत्व सिद्ध होकर ही रहेगा।

हे सिद्धविद्यार्थियो! विश्व आप का है, विश्वात्मा आप हैं, विश्व की विकृतियाँ आप से ही उठती हैं। आप की ही हैं। इसलिये आप विश्वात्मरूप में पूर्ण हैं। आप यह स्मरण करते रहें कि यह विश्व आपका वैभव है। यह आप को श्रीगुरु का आदेश है, परशिवानुशासन है। सिद्धों की रीति-नीति है। मोक्षधर्म की सुगम, सुलभ साधना है। पराशक्ति को प्रसन्न करने का यज्ञ है। चिति-समावेश का महामन्त्र है। यह आत्मबोध है। यह श्रीगुरु-ध्यान है। यह मुक्तानन्द का स्वधर्म-यज्ञ है।

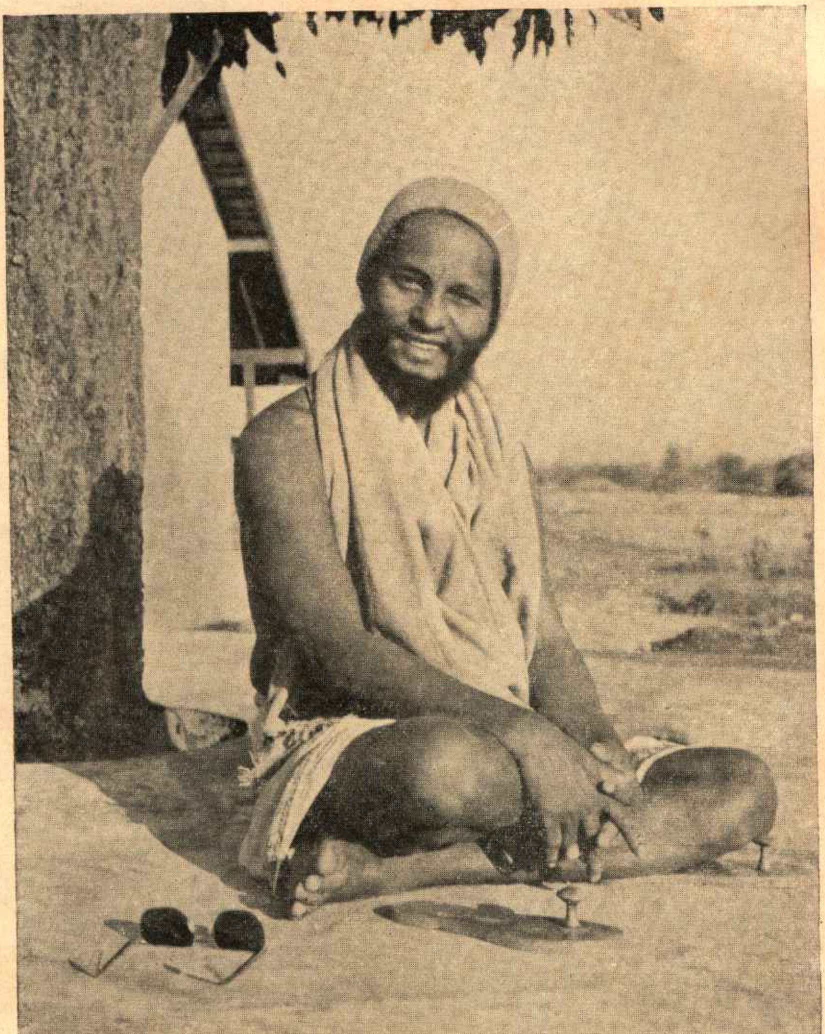

आश्रम में स्वामीजी

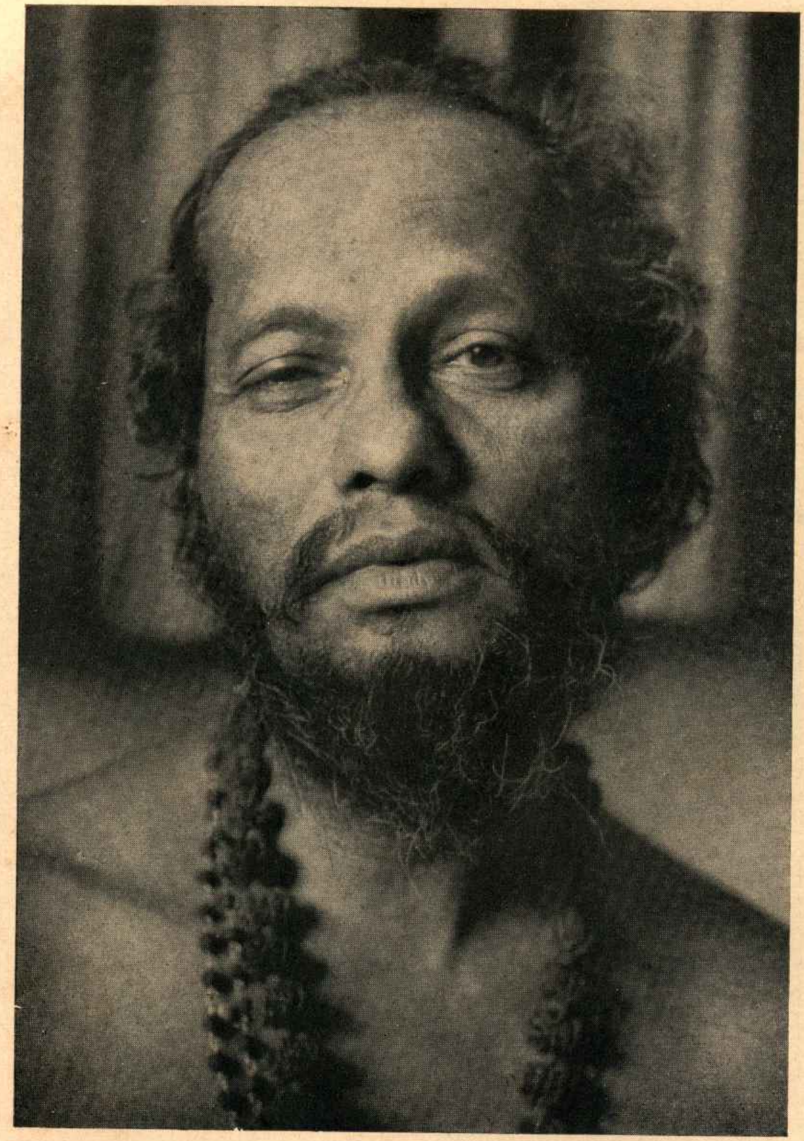

श्री गुरुदेव

द्वितीय खण्ड

सिद्धानुशासन

१

सिद्धों का आदेश

प्यारे सिद्धविद्यार्थियों के लिये एक विशेष बात कहनी है। अपना मार्ग है सिद्धमार्ग। अपना पंथ है सिद्धपंथ। अपना लोक है सिद्धलोक। हमारे प्यारे गुरुजन भी हैं सिद्धलोक के वासी। हमारा मन्त्र सिद्ध है। हमारा क्रम-नियम भी सिद्धों का है। अपना जीवन है सिद्धाश्रय। साधना सिद्धों की है, साध्य आत्मसिद्धि है। रहना है सिद्धावस्था में, जाना है सिद्धलोक को। हमारे कार्य पूर्णरूप से सिद्ध ही होते हैं। सिद्धकृपा कभी असफल नहीं होती। सिद्धकृपा अमोघ है।

मछली के बच्चे छोटे होने पर भी मछली के ही गुणधर्मवाले हैं और पानी में सहज ही जीवन बिताते हैं। सिंह के छोटे बच्चे भी पूर्णतया सिंह ही हैं। हाथी के छोटे शावक, जिनके अब तक एक दांत भी नहीं, हाथी ही हैं। हाथी के उन बच्चों के छोटे होने पर भी, उनके रस, रक्त, मेधा, दांत, हाड़, मांस में अपने बीजप्रद उस बड़े हाथी के ही पूर्ण गुण हैं। वैसे ही आप में अपने उस पूर्ण पिता की पूर्णता है। इसलिये आप को सोचने का काम नहीं। चिन्ता का विषय नहीं। बालक सहज में ही बढ़ता है। वह समयानुसार, वय की मर्यादानुसार आप ही बढ़ेगा। 'मेरा कान क्यों छोटा?', 'दांत क्यों नहीं?', 'मुझे लोग बड़ा क्यों नहीं समझते?' 'मुझमें बड़े के जैसी सामर्थ्य क्यों नहीं?'—ऐसा चिन्तन व्यर्थ है। आप के दिन प्रतिदिन के विकास के साथ ही आप के पिता का बीज पूर्णत्व को प्राप्त हो ही जायेगा। एक मानव का बाल्य से पूर्ण यौवन तक का विकास अपने आप होता है। इस विषय में चिन्तन करना भ्रान्ति है, मूढ़ता है। वह मूर्खता ही बन्धनकारक है। अतः चिन्तन करके अपने आत्मधैर्य और बल को नहीं घटाना चाहिये। ***सिद्ध का शिष्य कभी बद्ध नहीं होता, इस बात को याद रखो।***

छोटी उम्र के सिद्धविद्यार्थियों को अपने माता-पिता की सीख में रहना चाहिये। उन्हें शासन में रहना जरूरी है। नियमबद्ध रहना आवश्यक है

नहीं तो अवश्य ही फल में अपूर्णता रहेगी। साधन भी दुर्बल हो जायेगा, सिद्धता में कमी रह जायेगी। विशालता में रुकावट आ जायेगी। चिति में एकीकरण के समावेश में देर लगेगी।

सिंह के बच्चे कभी गदहे जैसे नहीं होते। वे नख, शिखा, सर्वांग में पूर्ण सिंह ही हैं। यदि सिंह का बच्चा गदहे की संगति में रातदिन समय बिताये, तो उसका पानी उतरता जाता है। गदहे भी समझने लगते हैं कि यह हमारी जाति का ही है। रोज़ रोज़ उसका तेज, उसका स्वभाव, उसके नियम की रीति-नीति बदलती जाती है और धीरे धीरे गदहे के गुण-स्वभाव उसमें आ जाते हैं। वह गदहे जैसी गर्जना करने लगता है। गदहे की तरह उसके साथ साथ गंदी चीज़ें खाता है। गलियों के गंदे पानी में नहाता है। ऐसा करते करते शरीरमात्र सिंह का रहता है, अन्तरगति तो गदहे की हो जाती है। धीरे धीरे सिंह की शूरता-वीरता, वन की एकान्तप्रियता, अपनी जाति, अपनी नीति, अपने कर्म-धर्म भूल जाता है। गांव की गलियों में, शहरों के बीच में वह रहने लग जाता है। इतने में धोबी उसे ढूँढ़ता हुआ आ जाता है कि हमें कोई गदहा मिल जाय तो अच्छा, जिस पर सारे गांव के मैले कपड़े लादे जायें। इस प्रकार गदहे की संगति में रहने से सिंह को भी मैला कपड़ा उठाना और धोबीघाट की यात्रा करनी पड़ती है। वह सिंह का बच्चा ऐसा नहीं समझता कि वह स्वयं ही सिंह का गदहा हो गया है। वह समझता है कि चूँकि बहुजन गदहे हैं, उनके समान ही हमारी भी सुधरी हुई नयी जाति है।

सुधरते सुधरते गदहे का सिंह होना चाहिये, न कि सिंह का गदहा। आप को बद्ध मुमुक्षु जैसा इधर-उधर, घर घर मार खाते नहीं फिरना चाहिये। आप का लोक, सिद्धलोक, सब से श्रेष्ठ है। महान सामर्थ्ययुक्त लोक है। आप के लोक के आगे इन्द्रलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक आदि सब जगत एक नये पैसे के समान हैं। आपका वंश महान है। आप के वंश में अनेक सिद्धयोगी और योगिनियाँ आपके रक्षण के लिये आप के पीछे खड़े हैं। इस कारण बद्ध-अवस्था के साधु या भक्तजनों में आप को अपना समय नष्ट नहीं करना चाहिये। याद रखिये, आप को सिद्धलोक जाना है।

आप के असंख्य पुरोगामी लोग सिद्धलोक में हैं। परमसिद्ध श्रीआदिनाथ से लेके सप्तर्षि और असंख्य सिद्ध-मुनि, जो पूर्वकाल से अब तक हो गये

हैं, वे सब पूर्ण सामर्थ्ययुक्त होकर उस सिद्धलोक में निवास करते हैं, आप को शक्ति प्रदान करते हैं, आप के योग को क्रियाशील बनाते हैं और आप के संरक्षण के लिये, आप का योगक्षेम वहन करने के लिये तैयार रहते हैं। आप को यह नहीं समझना चाहिये कि आप केवल एक अपने गुरु के ही विद्यार्थी हैं। आप सिद्धलोकवासी की परम्परा के पूर्ण वंशज हैं। आप अपनी परम्परा को नहीं जानते। जब आप को सिद्धलोक का दर्शन होगा तब आप को अपनी परम्परा का पूरा ज्ञान होगा। आप के कुल में आदिशिव प्रज्ञानानन्द आनन्दघन महेश से लेके देवर्षि नारद, महर्षि व्यास, शेष, शुकदेव, याज्ञवल्क्य, काकभुशुंडि, सूत, शौनक, शांडिल्य, भीष्म, राजा जनक; सिद्धावस्था को प्राप्त हुईं सभी व्रजनारियाँ; पृथु, अम्बरीष, भरत आदि राजा; प्रह्लाद, ध्रुव, सनक, हनुमान, अक्रूर, उद्धव, विदुर, संजय, सुदामा, कश्यप, सुतपा, पृश्नि, मनु, दशरथ, कौशल्या, राजा विभीषण तक असंख्य सिद्धमहात्मा और अब के शिरडी के सांईबाबा, नशीराबाद के मेरे प्यारे जिप्रुअण्णा से लेकर आप के परमगुरु भगवान श्रीनित्यानन्द तक, कोटि कोटि सिद्धयोगी और सिद्धयोगिनियाँ सिद्धलोक में आप के संरक्षण के लिये खड़े हैं। इसलिये आप को किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिये और परम पतिव्रता भक्ति के अनुरूप अपने सिद्धमार्ग में डटे रहना चाहिये।

आप को अपनी सिद्धता का पता न होने से इधर उधर ताकना पड़ता है। आप को अपने पंथ में, अपने सिद्धमार्ग में, अपने ध्यानयोग में, सिद्धमन्त्रों में प्रत्यक्ष दृढ़ विश्वास होना चाहिये। आप के पीछे पर्वत की नाईं सिद्धकृपा खड़ी है। ऐसा रहते हुए आप को इधर-उधर ताकने की, अपने पतिव्रता-धर्म को नष्ट करने की क्या आवश्यकता है? जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के सिवा अन्य कुछ नहीं समझती, उसका पति में ही प्रेम, पतिभक्ति का ही नेम, पतिक्षेम में ही उसका क्षेम, पति में ही उसकी रति होती है; उसका रसभोग भी पति, जपयोग भी पति और पति को ही अपनी मति अर्पण कर देती है, उसका ज्ञान-ध्यान और तीर्थस्नान भी पति है; पति-स्नेह ही उसका जीवनव्रत है, पति बिना दूसरा व्यसन नहीं, पति बिना गति भी नहीं, वैसे ही आप को, सिद्धविद्यार्थी और सिद्धविद्यार्थिनियों को, सिद्धमार्ग में पूर्ण रति और प्रेम होना चाहिये।

आप संकोच न करें कि आप को कुछ प्राप्ति नहीं हुई है। सिद्धों को

आप को खोलने में एक ही क्षण लगता है। आप में पूर्ण भक्ति, पूर्ण श्रद्धा, दृढ़ आस्तिक्य बुद्धि, सर्व समर्पण भाव होते ही सिद्धकृपा को बहुत देर नहीं। तुरंत सिद्धकृपा हो जायेगी। जब महान सिद्धों की कृपा होती है तब आप केवल साधनसम्पन्न ही नहीं, मोक्षपति ही नहीं, पूर्ण सिद्ध ही बन जाते हैं। सिद्धकृपा से साधक सिद्ध ही होता है। वह कभी बद्ध नहीं रह सकता। आप को बारंबार अपने सिद्धलोक की याद रखनी चाहिये। सिद्धों की असमर्थ को समर्थ बनाने वाली अलौकिक सामर्थ्य की आप को याद रखनी चाहिये। आप को अपने अन्दर जागती ज्योत की बारंबार याद रखनी चाहिये और सिद्धों को सिद्धपद देनेवाले चैतन्य मन्त्र की। आप को हमेशा के लिये याद रखनी चाहिये कि आप के अन्दर स्वतन्त्रता से अनेक प्रकार के कार्य करने वाली महाशक्ति ही क्रियाशील है। आप को हमेशा के लिये याद रखनी चाहिये कि आप के अन्दर दिव्य तेजोमय महाशक्ति मूर्तिमंत होके निवास करती है। इसलिये अपनी योग्यता समझकर आप को अपनी दिनचर्या रखनी चाहिये। *आप संकोच मत करिये कि मेरे साधन का क्या होगा? कभी फलेगा? कितने अंश में फलेगा? मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सिंह का बच्चा सिंह ही होता है। आप को इसकी ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये। यह गुरुवाक्य है। यह गुरुआज्ञा का पालन है।*

अर्जुन ने गीता सुनकर इतना ही कहा : **करिष्ये वचनं तव**। गुरुआज्ञा को पूरा पालो। गुरु के उपदेश को हृदय में धारो। गुरूपदिष्ट रास्ते पर चलो। यह तुम्हारी भवतारण-नौका है। जैसे जैसे तुम गुरुशासन को, गुरुआज्ञा को, गुरु द्वारा सिखायी हुई सीख को, गुरु के बताये हुए मार्ग को अधिक से अधिक श्रद्धा और प्रेम से हृदय में धारोगे उतनी ही जल्दी पूर्ण रूप से फल पाओगे। गुरु की अवहेलना मत करो। ऐसा करने से तुम साधनभ्रष्ट होकर भ्रान्त बन जाओगे। गुरुबन्धुओं में वैर, ईर्ष्या, मृषा वार्तालाप, गुरुकुल की रीति-नीति की मर्यादा के भंग से और ध्यान के समय में या पढ़ने के समय में आपस में कलह करके चित्तभंग करनेसे अन्तरशक्ति धीरे धीरे क्षीण हो जाती है। रोना, चिल्लाना, अति मानी बनना और दूसरे के अन्तःकरण को रुष्ट बनाना यह गुरुसेवाभावी का लक्षण नहीं है। मेरे गुरुदेव मुझे एक बार भी पुकारें तो चाहे मैं कितनी भी दूर क्यों न होऊँ, तीन बार 'हाँ गुरुदेव' कहते हुए भागकर आ जाता। एक

बार पूछने पर तुरंत उत्तर देता, क्योंकि बारंबार पूछने से उनको कहीं कष्ट न हो, मेरे गुरुदेव तंग न हो जायें ऐसा ख्याल रहता।

एक बात तुम ज़रूर याद रखो कि तुम्हारी अन्तरविकसित क्रियाशक्ति गुरु ही है। इसलिये तुम्हारे साधन को शुद्ध निर्मल बनाने के लिये किसी की भी संगति, विचार करके करो। कुसंगति महान प्राणघातक है, अतिशय हानिकारक है। दु:संग से बचने का दृढ़ व्रत ले लो। दु:संग से मनुष्य में आसुरी सम्पत् के सभी दुर्गुणों और दुराचारों का स्वभावत: विकास होता है। दु:संग से मनुष्यों के सभी सद्गुणों का नाश हो जाता है। परम सुशील, स्नेहमयी प्रेममयी कैकेयी मन्थरा दासी की कुसंगति के कारण ही राजा दशरथ, भरत और तमाम अयोध्यावासियों के शोक का कारण बनी थी और उसको अपने परमप्रिय भरत का भी त्याग करना पड़ा था। जैसे दूध का समुद्र भी क्यों न हो, उसको खट्टे रस की एक ही बूँद बिगाड़ देती है, वैसे ही कुसंगति से सभी दुष्ट आचरण सहज में अपने में आ जाते हैं। जगतचर्चा, लोकनिंदा, अविवेक, घमंड, द्वेष, अपवित्रता, असत्याचरण, सिनेमा-नाटक और होटल के अशुचि अन्न जैसी वस्तुओं में रुचि, कुसंग से हो जाती है। इससे सिद्धविद्यार्थियों को सर्वथा बचना चाहिये, क्योंकि यह अन्तरशक्ति के वेग को कम करती है।

जिसके पलक खोलने से जगत का उदय और पलक मींचने से जगत का नाश होता है, ऐसी चिति पारमेश्वरी तुम्हारे अन्तर में जब परम मित्र के जैसी रहती हो, जिस चिति का किंचित् संग पाकर जगत में प्रियता उदित हो जाती है ऐसी प्रियरूप शक्ति जब तुम्हारे अन्दर क्रिया कर रही हो तब उस शक्ति में रमण, मित्रता करना छोड़ के नीच संगति करना कितना हानिकारक है, यह तुम ही सोचो। इसलिये चिति के स्फुरण से लिखा गया यह आदेश, चितिप्रिय होने से, चिति के अन्दर से प्रकट होने से, चिति-प्राप्ति का हेतु होने से, चितिशक्ति का सन्तोषकारक विषय होने से, चिति से भिन्न न होने से, चितिमय है। इसको पालने से चिति की प्राप्ति है।

२

सिद्धविद्यार्थियों की जगत्क्रीड़ा

प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! आपको हम बारंबार कहते आये हैं कि चिति के विलास बिना जगत में कुछ है ही नहीं। चिति, जो अपने आप संवित्-विलासरूप क्रीड़ा करती है, जगतरूप है। इसलिये अनन्त जगतरूपों में आप ही स्फुरती है—**चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्त-जगदात्मना स्फुरती**। ध्यानयोग के प्रभाव से सिद्धविद्यार्थी को जब चिति का ऐसा ज्ञान हो जाता है तब वह अन्दर-बाहर सर्वत्र, यावन्मात्र जगत को चिति का विलास जानकर हर एक कार्य और क्रिया में परमानन्द पाता है और हर एक कर्म में चिति के स्फुरण को देखता है। क्योंकि सिद्धविद्यार्थी ज्ञान द्वारा चिति के विकास का बारंबार परिशीलन करता रहता है। जगत की सब क्रियाएँ चिति का उन्मेष होने से चिति ही हैं, ऐसा वह सतत अनुसन्धान करता रहता है। सब कुछ पारमेश्वरी चिति ही है ऐसा दृढ़ ज्ञान हो जाने पर लौकिक व्यवहार में भी—भोजन, रसपान, उल्लासविलास आदि क्रियाओं से उदित होनेवाली अन्तरतृप्ति को चिति भगवती का स्फुरणरूप परमानन्द है ऐसा जानकर स्वयं परमानन्दमय बन जाता है। इतना ही नहीं, अपने अपने आश्रमोचित विषयोपभोग से उदित होनेवाला आनन्द चितिस्फुरणरूप परमानन्द से भिन्न नहीं ऐसा चिति के ध्यान से शुद्ध हुई मनोवृत्ति से वह जान लेता है। विषयों को भोगने से वह जैसा तृप्त और आनन्दित रहता है, उसी प्रकार निर्विषयी होने से भी वह चिति के आनन्द को वैसा ही भोगता है। ***ऐसा संसारयोगी, संसार की सारी क्रियाओं में चितिक्रिया देखकर, उन क्रियाओं में स्फुरनेवाले उन्मेष को परमानन्दमय चिति का स्फुरण समझकर मन में पूर्ण तृप्त हो जाता है।*** उस तृप्ति की स्थिति को अपने भावनाबल से बढ़ाते रहने से, विकल्पवृत्ति दिन प्रतिदिन क्षीण होकर, अन्दर से परमानन्दस्वरूप प्रकाश फैल जाता है। विज्ञानभैरव में कहा है :

जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद्भरितावस्थां महानन्दमयो भवेत् ॥
गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥
यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत् ।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रकाशते ॥

वस्तुतः संसार में व्याप्त परमेश्वर को न जानना ही दुःख है। जानते ही सुख है। प्यारे सिद्धविद्यार्थी ! तू चिन्मात्र, सर्वव्यापक, परिपूर्ण है। विश्व तुझसे कभी भिन्न नहीं है। क्या त्याग करने को जाता है ? क्या ग्रहण करने को दौड़ता है ? संसार में तुझसे अन्य कुछ नहीं है। विश्वभर में तू ही व्याप्त है, तू ही सिद्ध अक्षय तत्त्व है। तुझमें और जगत में भेद नहीं है। न कुछ द्वैत है। तू ही अद्वैत रूप से सब विश्व में भरा है। तू ही प्रशान्त, अव्यय, निर्मल, चित्प्रकाश कुण्डलिनी है। तुझमें अज्ञान कभी हुआ नहीं, कभी होगा नहीं; तू ही संविद्-विलास है। तू राजसी नहीं, तामसी नहीं; तुझमें किसी तत्त्व का प्रभाव नहीं। तू निर्गुण, सगुण, निरामय, एकरस, शुद्ध चिद्विलास है। सुवर्ण से बने हुए कटक, कंकण, नूपुर और रुचक जैसे सुवर्ण ही हैं, वैसे ही पराशिवशक्ति के विकास से उपजा हुआ यह जगत कार्यकारणरूप से चिति से अन्य नहीं है।

प्यारे सिद्धविद्यार्थी ! जो जो जहाँ जहाँ तू देखता है वह सब तेरा ही प्रकाश है। तुझसे कुछ भी भिन्न नहीं हैं। तू ही सब में व्याप्त है। 'मैं यहाँ हूँ, मैं वहाँ नहीं' यह भिन्नता मन में मत मान। 'मैं सर्वत्र हूँ', 'सभी का आत्मा हूँ' ऐसा निरन्तर ध्याया कर। तेरे बिना इस संसार में अन्य का कुछ अस्तित्व नहीं है। **स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्**—ऐसा शिवसूत्र कहता है। यह विश्व नाम की भ्रान्ति तुझमें केवल मलदोष से आयी है। चिति भगवती की उपासना कर। मल अमल होने से विश्व ही चिति-विश्रान्ति-स्थान है। चिन्मात्र तू ही है। तू एक शुद्ध तत्त्व है। तेरा ही स्फुरण यह सब दृश्य जगत है। काहे को व्यर्थ हाय हाय करता है। सब में चिति परिपूर्ण है। सब से पहले तू ही एक सत्य था। अब भी तू है, आगे भी तू रहेगा; तेरा आना जाना कहाँ है ? जब बन्ध नहीं, तब मोक्ष कहाँ ? अरे, सब का कर्ता चिति

है, फिर तुझे भोक्तृत्व कहाँ? सर्वत्र तू ही परिपूर्ण, तू ही नित्यानन्द तत्त्व है। निज वृत्ति को संकल्प और विकल्प के क्षोभों में मत फँसने दे। संकल्प और विकल्प चिति का स्फुरण समझकर चिति में समा दे। अल्पत्व भासने पर भी अल्प में परिपूर्णत्व है ऐसा समझ ले। वासना को चितिमय बना दे। वासनारहित होकर दिन बिता दे। हृदय के ध्येय को सर्वत्र व्यापक कर दे। सर्वत्र ही फैला दे। 'आत्मा सदा पूर्ण है' ऐसा समझकर तू ध्येय को ध्याता कर दे। जब दूसरा है ही नहीं फिर ध्यान किसका? सर्वत्र अपना वैभव समझकर मन को शांतिपूर्ण कर दे। जिन्दगी भर अनन्त शास्त्रों को भले ही तू मनन करता रहे, रातदिन षट्शास्त्र पढ़ाता रहे, उपदेश भी देता रहे, परन्तु जब तक तू चिति में समावेश नहीं पाता, तब तक तेरा भय नहीं मिटेगा। जब 'मैं-मेरा' यह भेद ध्यानाग्नि में जला देगा तब तू अक्षय परमानन्द पायेगा।

कर्म का कितना ही आचरण करते रहो और कितने ही भोगों को भोगते रहो, अथवा लाखों बार समाधि पे समाधि लगाते रहो। जब तक तू चिति से भिन्न रहेगा, तेरा बन्धन कभी दूर नहीं होगा। जब तू चिति में मिलकर चिति हो जायगा तब अक्षय नित्यानन्द पायेगा। 'यह हमको करना है' या 'यह नहीं करना है'; 'इतना कर लिया है' या 'इतना करने को बाकी है'—इन सारे द्वन्द्वों से मुक्त हो जा। धर्मांधता त्याग दे। काम त्यज दे। मोक्ष-आकांक्षा भी छोड़ दे। तू निरपेक्ष होके चितिविश्रान्ति में प्रविष्ट हो जा। तब स्वतन्त्र शांति प्राप्त होगी। अक्षय सुख पायेगा। त्यागी विषय को त्याग कर विषय का द्वेष नहीं छोड़ता। रागी विषयों से राग कर विषय से प्रेम जोड़ता है। प्यारे सिद्धविद्यार्थी! तू विषयों में रागद्वेष दोनों मत कर। तब तू मुक्तानन्द हो जायेगा। द्वन्द्वसंसर्ग से छूट जायेगा। अक्षय शांति पायेगा।

जहाँ तक त्याग और ग्रहण है वहाँ तक ही तुझको संसार है। त्याग-ग्रहण की स्मृति को जो खो देता है, वह संसार से पार हो जाता है। त्याग-ग्रहण का न त्याग कर, न ग्रहण कर। स्व-स्वरूप में रम जा। संसार को चित्शक्तिविलास समझकर अक्षय शांति पाये जा। सुनता हुआ, देखता हुआ, छूता और सूँघता हुआ, खाता और पीता हुआ, जागता या सोता हुआ जो सदा चितिबुद्धि रखता है वह मन में कभी खिन्न नहीं होता।

ऐसा सिद्धविद्यार्थी सदा जीवन्मुक्त है। जो प्राज्ञ नर आकाशसम सदा निर्लेप रहता है, किसी काल में भी मन में विक्षेप आने नहीं देता, वह पूर्ण ध्यान कर चुका है, क्योंकि वह चिति भगवती से अन्य नहीं है। वह सिद्धविद्यार्थी महा-भाग्यवान है। जो संसार में सो जाता है, अपने आत्मध्यान में जग जाता है, वह सदा ही परमानन्द भोगता है। जो नित्यानन्दमय है उस सिद्ध-विद्यार्थी की योग्यता पूर्ण है। वह महान है। जो अपने को आप में जान कर आप में ही मग्न रहता है; अपने आप में ही तृप्ति पाकर, अपने में ही आप संलग्न होता है; जिसको बस्ती में अरुचि नहीं होती, न अरण्य में रुचि बढ़ती है, वह सिद्धविद्यार्थी महा पुण्यतीर्थ है।

यह सारा जगत भ्रममात्र है। परमार्थ दृष्टि से ही यह चितिविलास है। नित्य शाश्वत शिवतत्त्व ही सब विश्व में स्फुर रहा है। सब कुछ रक्त, श्वेत, कृष्ण, नील से परिपूर्ण चिन्मय चित्प्रभा है ऐसा जिस सिद्धविद्यार्थी का ज्ञान है, वह चिति का ही पूर्ण रूप है। वह सब अभ्यास कर चुका है। भेद-त्याग-रूप वैराग्य पा चुका है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर चुका है। वह चिदम्बा को हृदय में धर चुका है। जिस ज्ञानी को यह ज्ञान है कि ब्रह्मात्म प्रत्यक्ष है, अभिन्न है, वह सिद्धविद्यार्थी है। वह धन्य है। वह जगन्मान्य है। उसने बहुरूप में भासनेवाले अपने आत्मा को पहचान लिया है। वह देहादि में दृष्टि नहीं देता। सब चित्शक्तिविलास ही मानकर चलता है। वह ज्ञानयुक्त, नित्यमुक्त, ब्रह्मानन्द पा जाता है। वह सिद्धविद्यार्थी जीवन्मुक्त है।

उसके माता पिता धन्य हैं। उसको यद्यपि सुतदार में ममता नहीं है, फिर भी वह परिवार में रहता है। निंदा-प्रशंसा दोनों का एक-सा सन्मान करता है। जो संसार के भोग आने पर भोग लेता है, पर विषयासक्त नहीं होता; जिसका मन वासनारहित और दृष्टि चितिमय है वह जीवन्मुक्त है।

वह विश्व को विश्व करके नहीं जानता। यही जानता है कि यह केवल चित्शक्तिविलास है। शत्रु में, मित्र में, सभी में चितिप्रकाश को देखता है। *सब विश्व की जो भक्ति करता है, सब विश्व जिसका परमेश्वर है, वह संसार में रहते हुए भी शुद्ध जीवन्मुक्त है।*

जो सभी के साथ रहने पर भी किसी का संग नहीं करता, चिति के रंग में इतना रंग जाता है कि उस पर और कोई रंग नहीं चढ़ता, जो

अपने आप में मस्त, अपने आप में अनुरक्त, अपने आप में संतुष्ट रहता है, वह सदा के लिये जीवन्मुक्त है।

जो सब जगतव्यवहार को यथावत् करता है, भ्रान्तसम दीखने पर भी अन्तर में परम शांत है, जिसको न राग में राग, न द्वेष में द्वेष होता है, जो सब गुणों से मुक्त है, सभी को जो प्यार करता है, वह सहज में ही जीवन्मुक्त है।

वह दुःख से कभी नहीं घबराता, सुख की कभी इच्छा नहीं करता। वह सन्मार्ग पथ कभी नहीं छोड़ता, बुरे रास्ते में कभी नहीं जाता। उसका अन्तःकरण सदा चितिस्फुरणपूर्ण है। वह गंभीर, धीर, शुद्ध, विरक्त है। वह दया, प्रेम, अनुग्रह से युक्त सिद्धविद्यार्थी संसार में ही मुक्त है।

वह मरण से नहीं डरता, न जीवन में भी उसको बहुत रुचि है। जीवन-मरण उसके लिये दोनों चितिविलास है। वह चितिशक्ति को पूरा जानता है। वह श्रीगुरुदेव की पूर्ण कृपा पाता है। ऐसा ज्ञानी जगत में जीवन्मुक्त कहलाता है।

उसके लिये न माया है, न काया। उसके लिये यह विश्व चिति की वाटिका है। उसको यह ज्ञान है कि जो ईश है वही जीव है, वही जगत है। ऐसा ज्ञानयुक्त सिद्धविद्यार्थी चिति भगवती में पूर्ण विश्रान्ति पाता है। उसने जन्म पाकर जो करना था सो कर लिया है। अब उसको कुछ और नहीं करना है। जो कुछ उसको प्राप्त करना था, प्राप्त कर लिया है। न ही उसको प्राप्त करने के लिये उससे अन्य कुछ है। जो समझना था वह आप ही है ऐसा समझकर उसने अपने आप में ही शिव को पा लिया है। वही वैकुण्ठ, वही कैलास, वही बद्री-काशी है। सब तीर्थ उसके साथ हैं।

३

बगुला ध्यान

ध्यान करनेवाले प्यारे सिद्धविद्यार्थियो ! तुम्हारा ध्यान सच्चा होना चाहिये। केवल प्रशंसा या मान-बड़ाई का पुजारी बनकर कपटी, ठग एवं दम्भी नहीं होना चाहिये। यदि कोई ऐसा करता है तो वह अपने को ही धोखा देता है, अपनी जेब आप ही काटता है; उसमें क्या लाभ है ? दम्भी की जब परीक्षा होती है तब उसे उसमें पूर्ण उत्तीर्ण होना कठिन हो जाता है।

तुममें अनेक क्रियाएँ होती हैं यह बिल्कुल ठीक है। तुम्हें ध्यान में भावपूर्ण होना आवश्यक है। परन्तु भाव में कुभाव नहीं होना चाहिये। ध्यानयोगियो ! बाहर की अपेक्षा तुम अधिकतर अन्तरशक्ति की सम्पदा रखो। अन्तरशक्ति सर्वज्ञ, ज्ञानशालिनी है। तुम्हारे अन्दर से शक्ति क्रियारूप से भावावेश में आती है, तुम भावपूर्ण बनते हो, इन सभी बातों का अन्तरशक्ति को पता है। वह अन्तरशक्ति भूत, भविष्य एवं वर्तमान की क्रियाएँ और घटनाएँ पूर्ण रूप से जानती है। क्योंकि वह सर्वज्ञ शिव से भिन्न नहीं है। स्पन्दकारिका (३–४८) में कहा है :

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।

अर्थात् तुम्हारे अन्दर वही शक्ति क्रिया कर रही है जो परमशिव की है। वही परमगुरु श्रीनित्यानन्द में रहती है। हे सिद्धविद्यार्थियो, तुम्हें याद रखनी चाहिये कि तुम्हारा साधनपथ अच्छा हो, उसमें सत्यता हो, क्योंकि अन्तरात्मरूप से यह क्रियात्मिका शक्ति सब कुछ देखती है।

एक अच्छे शक्तिपात करनेवाले योगी हैं। वे अपने अनुयायियों को खड़े खड़े ध्यान कराते हैं। सब शिष्यों को एक साथ पंक्ति में खड़ा करके 'दिया' ऐसा एक शब्द कहते हैं। ऐसा कहते ही सब को वेग आ जाता है। वे (शिष्यलोग) बहुत प्रकार की क्रियाएँ करने लगते हैं। कोई रोता है, कोई हँसता है,

कोई चिल्लाता है तो कोई नाचता है। ऐसे ही एक घण्टा बीत जाने पर 'लिया' ऐसा कहते हैं, तब सब के सब पूर्ण स्वस्थ होकर ध्यान से उठ जाते हैं। यदि ऐसे एक शब्द का उपयोग करने पर कोई न उठा तो उनको कहना पड़ता है कि उठो माधवजी, उठो उद्धवजी....और उसे ध्यान के लायक नहीं समझा जाता। उनका कहना है, "जब मैं अपनी शक्ति अपने अधिकार में 'दिया' कहकर देता हूँ तब उसको ध्यान की क्रियाएँ होती हैं। जब मैं 'लिया' बोलकर शक्ति को वापस ले लेता हूँ तब भी यदि कोई नहीं उठता तो वह शक्ति के प्रभाव के कारण नहीं, बल्कि इसलिये कि वह दम्भी है, पाखंडी है।"

कितने लोग एक दूसरे से कहते हैं : 'क्या ध्यान की तन्द्री लगी! वाह, वाह! क्या भाव उठा! वाह, वाह!' वे ऐसा कहके केवल शाबासी पाना चाहते हैं। उनका ध्यान शाबासी पाने का ध्यान है। ऐसा ध्यान आत्मा का ध्यान नहीं है। इसको कविजन 'बगुला ध्यान' कहते हैं।

बगुला आँखें मीचकर पानी में खड़े खड़े बहुत काल तक ध्यान करता है। कभी कभी बहते पानी में भी खड़ा होके ध्यान करता है। पूरी आयु ऐसे ही काटता है—खड़े ध्यान, नित्य ध्यान, बहुकालीन ध्यान। फिर भी बगुले को शक्तिपात नहीं, ज्योतिदर्शन नहीं, परमेश्वर का साक्षात्कार नहीं। कारण वह ध्यान भगवान का नहीं, किन्तु मछली का है। वह ध्यान आत्म-शांति पाने का नहीं; बल्कि मछली के प्राणघात का है, पेट भरने का है। वह ध्यान अच्छी अच्छी मछली को खाकर अपने शरीर का पोषण करने का है। वह ध्यान मौजमज़े का है। यदि कोई मुझे प्रश्न करे, "बाबाजी! सामने की नदी में कई बगुले बहुत काल से ध्यान करते हैं। इतना ही नहीं, वे नदी के आसपास की जगह छोड़कर और कहीं जाते भी नहीं। उनको ध्यान का फल—ज्योति-दर्शन, आनन्द, समाधि—क्यों नहीं मिलता?" तो मैं उत्तर में कहता हूँ, "अरे! आपने क्या महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछा है! आप कितने स्याने हैं! कितने विद्वान हैं! कितने समझदार हैं! और क्या जाने कितने पहुँचे हुए हैं! फिर भी बातें अन्धे जैसी करते हैं। मूढ़ जैसे पूछते हैं। देखो भाई! बगुले का जो ध्यान है वह तो नित्य मछली पकड़कर उसे खा-खा के मस्त और तगड़ा बनने का ध्यान है।"

इस प्रकार बगुले-योगी भी होते हैं जो सद्गुरु नित्यानन्द का ध्यान

नहीं करते, जो पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति का ध्यान नहीं करत। वे बगुले-विद्यार्थी ध्यान अपने आत्मस्वरूप का नहीं करते, उनका ध्यान मछली का होता है, सो उनको वही प्राप्त है। जो मछली का ध्यान करता है वह नित्य मछली पकड़ के खाता है और शांत, तृप्त रहता है। अब कहोजी, मछली के ध्यान से परमेश्वर की प्राप्ति कैसे होगी? मछली के ध्यान से ज्योतिदर्शन कैसे होगा? ध्यान करना भेलपूरी का, 'पिक्चर' का, और चाहता है समाधि! ध्यान-योगियो! बगुला ध्यान वैकुण्ठ नहीं पहुँचायेगा। जिसका ध्यान करोगे वही पाओगे।

इस बगुला ध्यान से सावधान होने के लिये ध्यान करनेवाले सिद्धविद्यार्थियों को ज्ञान होना चाहिये कि ध्यान करानेवाले गुरु की शक्ति उनमें किस प्रकार पांच रूप में कार्य करती है। तन्त्रसार में इस विषय को यों समझाया है : '**प्रकाशरूपता चित्शक्तिः। स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः। तत्चमत्कार इच्छाशक्तिः। आमर्षात्मकता ज्ञानशक्तिः। सर्वाकार-योगित्वं क्रियाशक्तिः।**' अर्थात् यह चित्शक्ति गुरुदेव से परम प्रकाशयुक्त होकर, परम स्वतन्त्र आनन्द को लेकर, अनन्त चमत्कारयुक्त अपनी स्वतन्त्र इच्छा से चलते हुए, तुम्हारे हृदय की छोटी-बड़ी सब बातों का ज्ञान रखते हुए, सिद्धयोग की जितनी क्रियाएँ तुममें होनी चाहिये, जितनी क्रियाओं की तुमको ज़रूरत है यह सब जानकर उतनी यौगिक क्रियाएँ कराते हुए तुम्हारे अन्दर प्रवेश करती है। इस रीति से एक ही परशिव की परमशक्ति, जिसको हम लोग चितिशक्ति कुण्डलिनी कहते हैं अथवा गुरुकृपाशक्ति कहते हैं, अथवा गुरुदेवों की अपनी आत्मशक्ति कहते हैं, चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया ऐसे पंचविध रूप में तुम्हारे अन्दर रहती है। यह चित्शक्ति विश्वात्मक शिव में और विश्वातीत परमशिव में समान रूप से रहती है। वह तुम्हारे गुरुदेव में भी उसी तरह रहती है। जो गुरुदेव में है वह तुम में सहज में ही है। यदि तुम गुरु के होके रहोगे तो यह शक्ति भी तुममें उतने ही प्रमाण में रहेगी। बगुला ध्यान में यह शक्ति नहीं है। यह शक्ति अन्य आश्रय बिना अपने आप ही स्वयं प्रकाशित है, अन्य किसीकी अपेक्षा बिना आप में ही स्वतन्त्र आनन्द को भोगनेवाली है, चाहे सो करने की सामर्थ्य रखनेवाली अप्रतिम, दृढ़ संकल्प-युक्त, चमत्काररूप इच्छाशक्ति है, द्रष्टा-दृश्य के व्यवहारों को अपने में ही

रखकर व्यवहृत होनेवाली ज्ञानशक्ति है, अनेक रूप से जगत के पदार्थों को, पदार्थों के स्पन्दनों को तैयार करनेवाली क्रियाशक्ति है। ऐसी पंचविध शक्ति परमात्मा में रहती है। वही गुरु के अनुरूप गुरुजनों में रहती है। वही शिष्य की योग्यता के अनुरूप शिष्य में प्रवेश करती है। वह एक ही पंचात्मक शक्ति शिष्य-गुरु से लेकर परमात्मा तक एकाकार से रहती है। ऐसी वस्तुस्थिति होने से, ध्यान का अर्थ गुरुदेव कैसे जानते हैं, तुम्हारे हृदय की भावनाओं का गुरुदेव को कैसे ज्ञान होता है, यह तुम्हें पता नहीं लगेगा। इसलिये बगुला ध्यान से दूर रहो, ऐसा मैं कहता हूँ।

उन बगुला पक्षियों को, सरोवर में आँखें मीचकर प्रातः से सायंकाल तक खड़े रहने पर भी, चित्शक्ति का स्वयंप्रकाश नहीं मिलता, उस आनन्दशक्ति का स्वतन्त्र आनन्द नहीं मिलता, चमत्कारयुक्त इच्छा-शक्ति का अनुभव नहीं मिलता, आमर्षात्मक ज्ञानशक्ति का फल नहीं मिलता, न तो क्रियाशक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। उन्हें यह सब क्यों नहीं मिलता? वह बगुला ध्यान योगी के ध्यान जैसा दीखने पर भी मछली का ही है। याने तुम ध्यान के बाद क्या चाहते हो? तुम ध्यान में किसका चिन्तन करते हो? घड़ी भर ध्यान करके चित्त में मैत्री किसकी करते हो? दूसरे का रोना देखकर तुम रोते हो। यह पता नहीं कि वह क्यों रोया? दूसरे का हँसना देखा तो तुम हँसे। यह पता नहीं कि वह क्यों हँसा? दूसरे ने एक अंगुली फिरायी तो तुमने दस फिरायीं। यह पता नहीं कि उसने क्यों फिरायीं और तुम क्यों फिराते हो? दूसरे ने एक चक्कर खाया तो तुमने पच्चीस खाये। यह पता नहीं कि उसने चक्कर क्यों खाया और तुमने इतने क्यों खाये? उसके देखादेखी तुमने भी किया। उसको तो अन्तरशक्ति कराती है और तुमको बाह्य मानसिक दशा कराती है। इसको बोलते हैं बगुला ध्यान।

मुक्तानन्द दोनों को 'शाबास' कहता है, "वाह! वाह! बहुत अच्छी तुम्हारी क्रिया, वाह! वाह! तुम बहुत आगे गये। तुम ऊँचे चढ़े।" ऐसा आशीर्वाद दे देता है। जैसे बगुला दिन भर ध्यान करके पेट भर मछली खाता है, वैसे ही तुम थोड़े से हँसे, थोड़े से रोये, थोड़ी सी क्रियाएँ कीं और दस बार शाबासी मिली; और क्या होना? बगुले का ध्यान मछली का, तुम्हारा ध्यान शाबासी का; अन्तरशक्ति का नहीं। उसको मछली

मिली तो तुमको शाबासी! यदि पूछने वाला बगुले से और तुमसे पूछे कि वैकुण्ठ क्यों नहीं मिला जी, तो तुमने वैकुण्ठ का ध्यान ही कब किया था? जो जिसका ध्यान करता है उसको वही मिलता है।

ऐसे इच्छानुरूप फल देनेवाले बहुत आश्रम हैं। बीस वर्ष पहले की बात है। मेरे रहने के स्थान के निकट एक आश्रम था। वहाँ एक सिद्ध-महात्मा की समाधि थी। सिद्धस्थान होने से वहाँ बहुत यात्री जाया करते थे। मैं भी जाता था। मैं वहाँ जाकर केवल आत्मनिष्ठा के लिये समाधि की प्रदक्षिणा करता और दूर जाके शांत चित्त से ध्यान करता, मेरी आत्माकार वृत्ति बन जाती और इस तरह अपने कर्म का फल पा लेता। दूसरे एक दम्पति भी वहाँ आते थे। उनके बच्चा नहीं था। वे भी बाजू में बैठकर बच्चे के लिये समाधि का चिन्तन करते थे। उनको कुछ आदेश भी मिल जाता था और उनके बच्चा भी हुआ। इस प्रकार कोई कोर्ट में अपना केस जीतने के लिये, कोई कालेज की परीक्षा में पास होने के लिये, कोई रोगों से मुक्त होने के लिये आता था और उसका ही चिन्तन करता था। वहाँ पर किसी का द्रव्य-प्राप्ति का चिन्तन, तो किसीका विषय-तृप्ति का चिन्तन होता था। किसी की मौज-मज़े के लिये समाधि की यात्रा होती थी। जिनको बम्बई में मिलने के लिये अवसर नहीं प्राप्त होता था वे समाधि के नाम से एकान्त में मिलने के लिये वहाँ आते। 'तुम उधर से आओ, मैं इधर से आता हूँ' ऐसा संकेत करके दोनों वहीं मिलते थे। कालेज के लड़के-लड़कियों की एक दूसरे से गुप्त रीति से मिलने के लिये यात्रा होती थी; क्योंकि समाधि के दर्शन को जाने की किसीको मनाही नहीं थी। इस प्रकार स्वामी मुक्तानन्द से लेकर और सब लोग समाधि की यात्रा करते थे।

लोग कहते हैं, 'मुक्तानन्द स्वामी को ऋद्धिसिद्धि और शक्तियाँ प्राप्त हैं। दूसरे लोगों को समाधि से याने बाबा से क्यों कुछ नहीं मिला?'

हमको भी पूछा जाता है : "स्वामी जी, आप को तो इतना मिला, परन्तु इनको कुछ नहीं मिला। ऐसा क्यों?"

प्रत्युत्तर में मैं कहता हूँ, "उनको भी पूरा मिला। हमारी चाह हमको मिली। हमारी ज्ञान, ध्यान, भक्ति की चाह थी, वह पूरी हुई। हमारी दोस्ती परमात्मा में जमनी थी, सो जम गयी। उनको बच्चा मिला। उनकी बच्चे में दोस्ती थी तो वह जम गयी। दूसरे की दोस्ती विद्या में थी, सो वह

वहाँ जम गयी। तीसरे को केस में विजय पाना था, उसने वह पा लिया। उस रोगी को रोग से निवृत्त होकर आरोग्य पाना था, वह भी हो गया। उन लड़के-लड़कियों को प्रेम जमाना था, वह भी जम गया। जिसकी जो चाह थी, उसकी वह पूरी हो गयी।"

तुम्हारी भावना, तुम्हारे अन्तःकरण की वृत्ति, तुम्हारी गुरुनिष्ठा और गुरुसम्बन्धी जानकारी, अपनी अन्तरशक्ति में निष्ठा और उसके विषय में पूर्ण परिचय जिस प्रकार के होंगे, जिस रीति का और जिस हेतु का तुम्हारा ध्यान होगा उसी प्रकार के और उतने ही फल तुम पाओगे। तुम्हारा ध्यान बगुले का होगा तो कैलास से विमान नहीं आयेगा। हाँ! तुम दो मछलियाँ अवश्य खा सकते हो। इसलिये ध्यान करनेवालों को सदिच्छा से, सावधानी से ध्यान करना चाहिये।

तुम देखो कि तुम्हारा ध्यान कहाँ स्थिर होता है और अन्य सम्बन्धों में तुम कितने उलझे हुए हो? जब मुक्तानन्द ध्यान करता था, उसका एक ही परम इष्ट था—भगवान श्रीनित्यानन्द। वे ही उसके गुरुभाई थे। वे ही उसकी गुरुबहिन। उनको छोड़कर न किसी गुरुभाई से प्रेम बढ़ाया, न ही किसी गुरुबहिन से सम्बन्ध चलाया। अपने भाई को छोड़कर किसी और को भाई बनाने, अपनी बहिन को छोड़कर किसी और को बहिन बनाने में क्या अर्थ है? क्या इस सम्बन्ध में कुटिलता, दोषवृत्ति नहीं है? संसार के सभी जन अपने भाई और बहिनें हैं, फिर एक में राग और दूसरे में द्वेष बढ़ाना कहाँ तक ठीक है? मुक्तानन्द के तो नित्यानन्द ही प्रिय स्वजन, प्यारे मित्र थे। उनको छोड़कर और कोई मित्र नहीं था। न तो उसने नित्यानन्द के नाम से किसी को फँसाया। वह सतत नित्यानन्द का ही ध्यान करता, नित्यानन्द का ही चिन्तन करता, नित्यानन्द में ही विचरता। उसने नित्यानन्द में ही पूर्ण सन्तोष, पूर्ण समाधान, पूर्ण शांति, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वस्वरूप ज्ञान पाया।

उस दिन एक छोटी उम्र की अच्छी ध्यानयोगिनी ध्यान कर रही थी। मैं सहज ही ध्यान-मन्दिर में गया। वह अपनी प्रेमभरी मुद्रा में आँखें मीचकर खिलखिलाकर हँस रही थी। उसको हँसते देखकर मैंने समीप जाकर पूछा, "तुम बहुत खुशी में हो ऐसा दिखता है; बड़ी हँसती हो, क्या बात है?" वह बोली, "नहीं बाबा! मुझे ऐसा लगा कि आप को भोला समझकर कोई

लोग ध्यान का आवेश लाकर आप को बनाने और धोखा देने का प्रयत्न करते हैं। मगर न आप बनते हैं और न धोखा खाते हैं। हाँ! आप न जानने का दिखावा करके उनको बनाते हैं, इसलिये मैं हँसती हूँ।" मैं बोला, "बेटी! यह सच्ची बात है। उनको जो चाहिये, मैं वही देता हूँ।"

ध्यान करनेवालो! तुमको कितना भी ध्यान हो, कितनी भी क्रियाएँ हों, कितने भी भाव, महाभाव, अतिभाव, उच्चभाव इत्यादि हों, लेकिन मेरे अन्दर से तुम्हारे अन्तरात्मा तक आमर्षात्मक ज्ञानशक्ति कागज़-पैन्सिल लेकर उन सबका 'रिपोर्ट' करने के लिये खड़ी है। इसलिये उस लड़की का हँसना और कहना बिल्कुल सत्य था। इसी प्रसंग से मैंने यह लेख लिखने का निर्णय किया। उस सिद्धविद्यार्थिनी को भी उसी आमर्षात्मक ज्ञानशक्ति ने ही ऐसा समझाया। मेरे पास एक 'ध्यान–मीटर' है, वह गुप्त है। वह कभी किसीको देखने को नहीं मिलेगा। उस 'मीटर' से मैं सब समझ जाता हूँ कि तुम्हारा किस प्रकार का ध्यान है और तुम्हारी योग्यता कितनी है? इसलिये तुम सोचो कि तुम्हारी अन्दर और बाहर की क्रियाएँ कैसी हैं? तुम्हारे बाह्य व्यवहार का लक्ष्य कहाँ है? तुम्हारी अन्तरनिष्ठा कितनी है? और तुम्हारी अन्तरवृत्ति कहाँ जाके किस चीज़ की शरणागति लेती है? इनसे पता लगता है कि तुम्हारी यात्रा समाधि की ओर होने से भी किस हेतु की है—क्या बच्चे की प्राप्ति की, या रोगनिवृत्ति की, या नौकरी मिलने की, या कालेज की डिग्री पाने की है? जो जिस हेतु से यात्रा करता है, उसे उसी चीज़ की प्राप्ति होती है। अर्थात् तुम्हारा ध्यान का हेतु क्या है इसका पूर्ण निरीक्षण करो। उत्तर का ध्यान करते और रामेश्वर क्यों नहीं दीखता ऐसा पूछते। अरे भाई! रामेश्वर दक्षिण में है। मुँह फिराओ। दक्षिण का ध्यान करो। रामेश्वर दीखेगा। आजकल के परमार्थ यात्रियों को इस विषय में एक कथा कहने की मुझे बहुत इच्छा होती है। वह है लैला-मजनूँ की कथा, जिसको रामतीर्थ के व्याख्यान-माला से यहाँ लिखता हूँ:

लैला एक राजा की लड़की थी और मजनूँ एक मज़दूर का लड़का था। दोनों में परस्पर प्रेम हो गया। लेकिन दोनों समान स्थिति और प्रतिष्ठा के नहीं होने से उनका विवाह नहीं हो सका। फिर भी दोनों एक दूसरे को बहुत प्रेम से चाहते थे। दिन प्रतिदिन प्रेम बढ़ते चला। एक दूसरे की प्रेम-स्मृति में वे पागल हो गये। लैला राजमहल की ऊँची अटारी में

चढ़कर 'मजनूँ, मजनूँ' करके पुकारती। मजनूँ शहर की गली-गली में 'लैला, लैला' करके फिरता। उसके मन की गति एकनिष्ठ, एक तार, एक ही काम, एक ही आस, एक ही प्राप्ति की इच्छायुक्त बन गयी। उसमें व्यभिचार नहीं था याने लैला के सिवा दूसरी किसी वस्तु का चिन्तन नहीं था। मजनूँ का बाप अपने बेटे का राजकुमारी के बारे में ऐसा पागलपन देखकर डर गया कि राजा उसे सज़ा करेगा। किन्तु सच्चा प्रेम किसी की परवाह नहीं करता।

दूसरी तरफ़ राजा भी अपनी प्यारी बेटी की दुर्दशा देखकर अति चिन्तित हो गया था। उसने बेटी के स्वास्थ्यलाभ के लिये वैद्य को बुलाया, मान्त्रिक को बुलाया, तान्त्रिक को बुलाया, ज्योतिषी को बुलाया। कई उपाय किये, लेकिन सब उपाय निष्फल हो गये। बेटी का मन दूसरी ओर आकर्षित करने के लिये राजा उसे नाटक देखने के लिये कहता तो लैला पूछती, 'उधर मजनूँ है?' यदि राजा कहता, 'चलो, हम बहुत दूर किसी सौन्दर्ययुक्त ठण्डे प्रदेश में जायेंगे।' तो लैला कहती, 'वहाँ मजनूँ नहीं, मैं नहीं आती।' लैला-मजनूँ की एक दूसरे के लिये ऐसी लगन थी। मुक्तानन्द कहता है कि लगन लगे तो ऐसी ही लगे, नहीं तो न लगे। जो मतलब की लगन है वह न किसी काम की, न किसी राम की।

लैला और मजनूँ ने परस्पर की स्मृति में, परस्पर ध्यान में, खुदी को खो दिया था। लैला मजनूँ के स्मरण से मजनूँ ही बन गयी थी और मजनूँ लैला बन गया था। यदि ध्यान करनेवाले खुदी को खोने में कुछ बचा कर रखते हैं तो वह चोरी ही समझी जायेगी। जितना बचा कर रखा, उतने की चोरी कर ली। अब मजनूँ की ऐसी दशा हो गयी जैसी कि एक काव्य में सुनी थी :

खटका नहीं है खाने का, चिन्ता नहीं है पाने की।
ममता नहीं है देह की, परवाह नहीं है प्राणों की॥

एक लैला की आशा में सब सुधबुध बिसर कर वह भटकता रहता था। शहर के लोग उसको पागल समझने लगे। राजा को उसकी दशा देखकर दया आयी, क्योंकि उसे मजनूँ के प्रेम में सच्चाई दिखायी देती थी। वह अपनेपन को मिटाकर लैला को अर्पण हो गया था जैसे कि कुण्डल कंचन बन जाता है। मजनूँ को सब जगह लैला ही दिखायी देती थी। उसका

आप पराया मिट गया था, लैला ही रह गया था। अतः राजा ने बाज़ार में ढिंढ़ोरा पिटवाया, "मजनूँ की दशा ठीक नहीं है। वह लैला के प्यार में परवश हो गया है। उसको खाने को दो, पीने को दो, पहनने को दो और उसका 'बिल' राज-खज़ाने में भेज दो।" यह बात शहर में फैल गयी कि लैला का ध्यान करने से मजनूँ को सब कुछ मिला। कोई अभावग्रस्त जन, कोई आलसी, कोई दरिद्री, कोई पर-अन्न जीवन वृत्तिवाले लोगों ने यह बात सुनी। सुनते ही इन सब ने सोचा कि मजनूँ बनना बहुत अच्छा है। अब रोज़ एक नया मजनूँ बनने लगा। मजनुँओं की संख्या बढ़ गयी।

अब जो भी मजनूँ बनता उसको कोई जूतेवाला जूता देता, कपड़ेवाला कपड़े देता, दूकानवाला अन्न खिलाता। 'बिल' बनते राजा के नाम में। राजा ने देखा कि मजनूँ के 'बिल' हज़ारों से ऊपर हो गये हैं। राजा ने पूछताछ करवायी तो मालूम हुआ कि हज़ार से ऊपर मजनूँ हो गये हैं। राजा ने सोचा : 'यह तो दया करने से आफ़त आ गयी। अब क्या किया जाय!' राजा का मन्त्री बड़ा कुशल था। उसने कहा, "सरकार, यदि आप मुझे पूर्ण अधिकार दें तो मैं इसका फ़ैसला कर दूँ।" राजा ने अधिकार दे दिया। मन्त्री ने शहर में एक ढिंढ़ोरा पिटवाया, 'आज से सातवें दिन, दोपहर के बारह बजे मजनूँ को फाँसी पर लटकाया जायेगा। उसने राजकुमारी से अन्याययुक्त प्यार किया है।' अब मैं मजनुँओं की दशा का क्या वर्णन करूँ? कोई लुंगी फेंकता, कोई जूता फेंकता तो कोई टोपी फेंकता। वे सब इधर उधर बहुत दूर तक भाग गये। कोई नौकरी करने लगा, कोई किसीका चाकर बना, कोई किसी का सिपाही बना। सब मजनूँ अपने को छिपाने में लग गये; वरना शूली जान ले लेगी। सब के सब अदृश्य हो गये। जो सच्चा मजनूँ था वह एक रह गया। हाँ, वह मजनूँ शूली पर चढ़ने को तैयार, अग्नि में जलने को तैयार। चाहे तो जान देने को तैयार। क्योंकि उसको जीने की कोई इच्छा नहीं थी। मात्र लैला की चाह थी। उसने अपने को लैला में खो दिया था। जिसकी चाह सच्ची थी वही एक सच्चा मजनूँ रह गया। सच्चा मजनूँ लैला पा गया।

ध्यानशाला के प्यारे विद्यार्थियो। जब तुम्हारे ध्यान की मात्रा की सच्ची परीक्षा होती है तब ध्यान करने वाले की लायकी समझी जाती है। सभी क्षेत्रों में जैसे परीक्षा होती है वैसे ही ध्यान में भी होती है। उसमें

जो सच्चा मजनूँ याने ध्यानी होता है वह लैला याने ईश्वर को पा लेता है। नहीं तो लुंगी, कफनी, जूता फेंक के भाग जाता है। सच्चा ध्यान करनेवालों की स्थिति मजनूँ जैसी होती है। इसलिये बगुला ध्यान न करके यथार्थ ध्यान करो। सच्चा सुख पाओगे।

अपने अन्दर सन्माननीय पंचरूपशक्ति का स्वागत करते हुए, श्रीगुरु का चिन्तन करते हुए तुम अपने को उसी में खो दो। ध्यान द्वारा निजपने को मिटाकर जो इष्ट में मिलकर इष्ट ही हो जाता है, जैसे कि कुण्डल का कंचन बन जाता है, वह परब्रह्म पद पा लेता है, वह धन्य हो जाता है। उसके मातापिता भी धन्य हैं। वह एक ही जी जाता है। मर्त्य से अमर हो जाता है। भक्त को इस भक्तिरस का जब स्वाद आता है, यह सब संसार निस्सार है ऐसी जब उसकी दृष्टि हो जाती है, ब्रह्मा से कीट तक सभी में जो अपने आत्मा को व्यापक देखता है, वह भीतर-बाहर प्रति रोम में, भक्तिरस से भर जाता है। ऐसी जिसकी भक्ति है वहाँ गुरु-ज्ञान की प्रतीति है, वहाँ चिति नित्य विलसती है। ऐसा सिद्धविद्यार्थी लायक है, उसने ध्यान की महिमा पहचानी है। अपने आप में प्रकट गुरुशक्ति का नित्य सम्मान करते हुए, नित्य गीता-गान करके उसका रोना मिट जाता है। मुक्तानन्द कहता है, उसमें नित्यानन्द पूर्ण है।

सच्चे का फल सच्चा होता है, झूठे का झूठा। फिर तुम क्या चाहते हो? निर्णय करो। सच्चे के लिये सच्चा ध्यान करो। पूर्ण शांति तुमसे दूर नहीं, आत्म-शांति तुममें पूर्ण है। केवल तुमको पूर्ण शुद्ध बनना है।

४

'मैं - मेरा' त्यागो, घर नहीं

यह सर्वथा सत्य है कि त्याग से पूर्ण शांति प्राप्त होती है। भगवद्वचन भी है : **त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**। परन्तु त्याग के विषय में बड़े मतभेद हैं और क्रमभेद भी हैं। कोई गृहत्याग करते हैं, परन्तु शांति के नाम में रोते रहते हैं। कोई धर्म त्यागते हैं, फिर भी शांति के अभाव से रोते रहते हैं। किसीने कपड़ा त्यागा, भभूत मली और कहलाया त्यागी! परन्तु शांति न पायी। कोई अन्नत्यागी है, मगर दूध पीता है। कहलाता है अन्नत्यागी! कोई नारी-त्यागी, तो कोई गृहत्यागी, तो कोई वचनत्यागी मौनी है। परन्तु सभी शांति के भूखे हैं। शांति नही मिली। ऐसे अनन्त प्रकार के त्याग हैं। नित्य नयी नयी चीज़ें त्यागी जाती हैं, परन्तु मिलती है केवल अशांति और उदासीनता। भगवान जो कहते हैं कि त्याग में शांति है वह सच है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि त्याग किसका करें? कैसे करें? आज संसार में त्याग के नाम से आडम्बर बढ़ा है। वह देखकर संसारी लोग थक जाते हैं, डर जाते हैं। जनता को भक्तिभाव के बदले कानों को फाड़ना, बालों को तोड़ना इत्यादि एक नया उपद्रव जान पड़ता है। प्रायः बहुजनों की ऐसी समझ है कि शांति का उपाय संसारीजनों के लिये नहीं है; क्योंकि शांति पाने के लिये त्याग अनिवार्य है। गुफा, वन या गिरि-कन्दरा में रहना, अंग को व्यंगवेशयुक्त बनाना और सोचना कि ऐसा करने से शांति की प्राप्ति होगी, नहीं तो नहीं—ऐसी गलत धारणा सारे संसार में फैल रही है। वस्तुतः ध्यानयोग द्वारा मन शांत करना सारे लोगों के लिये सहज ही संभव है।

संसारीजन एक और भ्रान्ति में हैं। वे समझते हैं कि संसार के रसहीन मौजमज़े, बाल-बच्चे, घर—इतना ही संसारी लोगों का धर्म है। ध्यान, त्याग, योग, ये तो सब गृहत्यागी साधुओं और वैरागियों के लिये हैं। परन्तु मुक्तानन्द कहता है : 'संसार जिसका है, औरत बालबच्चे जिसके हैं, कारखाने व्यापार-उद्योग जिसके हैं, घर धन-संम्पत्ति जिसके हैं, उसीके

लिये योग, ध्यान और त्याग भी हैं।' इसमें सन्देह नहीं कि त्याग की आवश्यकता है, परन्तु त्याग किसे कहते हैं? 'त्याग' 'त्याग' कहते हुए अनन्त त्यागीजन फ़कीर बनकर फिर रहे हैं। न जाने कितने प्रकार के संप्रदाय त्याग के नाम, त्याग के मन्त्र, त्याग के चिह्नों का आश्रय लेकर अपना अस्तित्व टिका रहे हैं! फिर भी वहाँ शांति की प्राप्ति नहीं। शांति के लिये त्याग सचमुच अनिवार्य है; मात्र वह त्याग न्यायोचित होना चाहिये। रामनाथ की टोपी कृष्णनाथ ने त्याग दी और ऊपर देखता कि त्याग के फलरूप विमान क्यों नहीं उतर रहा है! ऐसा त्याग नहीं होना चाहिये।

त्याग के विषय में मुझे एक प्रेमी भक्त ने एक अज्ञात रूसी संत की किताब पढ़ने को दी थी। वह बहुत ही अच्छी थी। परन्तु उसमें रूसी योगी के यात्राविवरण के प्रारम्भ में ही कहा गया था : 'मैं अब पूर्ण त्यागी बन चला हूँ। मेरी झोली में एक दो रोटियाँ और बाइबिल है। ओढ़ने के लिये एक चद्दर है; और कुछ नहीं।' हमारे भारत में कुछ ऐसे भी त्यागी हैं जो देने पर ही खाते हैं, नहीं तो नहीं। ये पूर्ण त्यागी तभी खाते हैं जब कि उनके हाथ में भिक्षा का अन्न दिया जाये। नहीं तो नहीं खाते। कोई ऐसे भी त्यागी हैं कि सुबह से शाम तक आदमी उनके साथ रोटी लेकर फिरता रहे। मन में आवे तो शाम को कभी खावे, नहीं तो नहीं। मुझसे एक ने कहा, "देखिये स्वामीजी, वह कितना त्यागी है। वह तभी खाता है जब उसको खिलाया जाय। उसके लिये चार छः जन वहाँ व्यवस्था के लिये खड़े हैं।" मैंने कहा, "भाई, मुझे तो मेरा त्याग न्यायोचित और लाभयुक्त दिखता है। क्योंकि मैं अपना अन्न समय पर अपने ही हाथ से खाता हूँ। मैंने एक के लिये जो छः आदमी अटके रहते हैं उनका त्याग कर दिया है। साधारणतया छः आदमियों की मज़दूरी, कम से कम एक की दो रुपया भी लगायी जाये, तो बारह रुपया हो जाती है। इतने आदमियों को अटका के रखना और कहलाना त्यागी, क्या मज़े की बात है? मैं अपने आप ही खाता हूँ। क्या मैंने जो छः मानवों की गरज़ को छोड़ा है वह त्याग नहीं?" बस फिर क्या था। वह महाशय चुप बैठ गये। अस्तु।

ऐसे अनन्त प्रकार के त्याग हैं। परन्तु हमें यह विचारना चाहिये कि जो जन त्यागरूप उपासना करते हैं उसका फल क्या है? भगवान ने त्याग से जिस शांति का वर्णन किया वह कहाँ लोप हो जाती है? किसी बुद्धिहीन

का त्याग इतनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है कि वह अन्न खिलाने से ही खाता है, पानी पिलाने से ही पीता है। ऐसा होने पर भी उसका फल क्या है? वह शांति किधर है? वह परमानन्द की मस्ती कहाँ है? बुद्धि से सुज्ञ पुरुष विचार करें कि त्यागने के लिये उसके पास है क्या? इस जगत में कौन-सी वस्तु विशेषरूप में स्वयं तुम्हारी है, जो तुम त्याग सकते हो! मूढ़ जनों की पशु-बलिदान एक पूजा है जिसमें निष्पाप मेंढ़ को देवी के सामने लाकर काट देते हैं। मेंढ़ की मुण्डी देते हैं देवी को और फल चाहते आप! यह बड़ी घृणास्पद पूजा है। यह बड़े अफसोस की बात है कि पुजारी भी ऐसा समझता है कि दूसरे के बलिदान से आप को फल मिलेगा। ऐसी पूजा में कोई अर्थ नहीं है। त्यागी जनों का त्याग ज्ञानयुक्त, विचारयुक्त और सत्य होना चाहिये। नहीं तो क्या? घर त्यागा तो मठ में या वन में जा बसा। मात्र घर का रूपान्तर किया! श्वेत कपड़ा त्यागा, लाल ग्रहण किया। केवल कपड़े का रंग बदला!

इस विषय में त्यागीजनों के सम्राट, राजा शिखिध्वज का त्याग मननीय है। शिखिध्वज-आख्यान 'योगवासिष्ठ' नामक ग्रन्थ में है। वह चित्त को उपशम स्थिति प्राप्त कराके परम शांति देनेवाला सद्बोध है। शिखिध्वज राजा होने पर भी बड़ा मुमुक्षु था, धर्म-जिज्ञासु था। परम तत्त्व को पाने के लिये पूर्ण उत्सुक था। दिनोंदिन उसकी जिज्ञासा बढ़ती रही। वह अनेक संत, महात्मा, ऋषि-मुनियों को मिलते रहता था। श्रद्धाभक्ति से सत्संग करते हुए साधन भी करता था। जिज्ञासा की तीव्रता के साथ साथ चित्त की व्याकुलता भी बढ़ी। अनेक प्रकार की साधनाएँ करते करते अन्त में उसने यह निश्चय किया कि त्याग के बिना प्राप्ति नहीं; त्याग के बिना समता, शांति नहीं; त्याग ही त्रिकाल अबाधित सत्यप्राप्ति है। क्या त्यागना? कैसे त्यागना? कब त्यागना? इसी विचार में वह मग्न रहने लगा। आखिर पहले राजसत्ता त्यागने का विचार किया।

रानी को राजसिंहासन पर बैठा स्वयं वन में जाने का उसने निश्चय कर लिया। राजभवन में अपनी प्रिय रानी चूड़ाला को बुलाकार उसने अपने हृदय की सब बात उसे कह सुनायी। राजा बोला, "आत्मशांति बिना मैं जी नहीं सकता। मेरा ज्ञानहीन हृदय इस जगत को देखकर नित्य ही डरते रहता है। 'मैं एक राजा हूँ' इस अभिमान से जी रहा हूँ। सोते

समय सभी की तरह सोता हूँ। खाते समय सभी की तरह खाता हूँ। पृथ्वी-मण्डल में ऐसा कौन है जिसको काल ने नहीं खाया? फिर भी जीने की आशा रखता हूँ तो यह कितनी मूढ़ता है! इस नश्वर क्षणभंगुर जीवन को, जो मरण के अनन्तर त्यागना है, पहले ही क्यों न त्यागूँ? हे रानी चूड़ाला! तुम मेरी बड़ी प्यारी पत्नी हो। तुमने मुझपे बहुत प्रकार के उपकार किये हैं। अब एक उपकार और भी करो। तुम राजगद्दी सम्भाल लो, जिससे मैं सुखशांति की प्राप्ति करके मेरे तप्त आत्मा को बुझा सकूँ।"

रानी राजा शिखिध्वज की अन्तरगति को पूर्ण जानती थी। वह गुरूपदिष्ट मार्ग की अनुयायी थी। ध्यानयोग सम्पन्न थी। उसने ध्यानयोग द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान को जानने का ज्ञान प्राप्त किया था। रानी चूड़ाला ने सोचा कि राजा त्याग के विचार से भ्रान्त है। वह समझाने से नहीं समझेगा। उसके चित्त की गति के अनुरूप समझाने से ही वह समझेगा। ऐसा सोचकर उसने राजा को जाने की अनुमति दे दी।

रानी राजपाट के व्यवहार को बड़ी निर्भयता से चलाने के योग्य थी। जिनमें आत्मज्ञान का उदय होता है, जिनको चितिकृपा प्राप्त होती है, उनके लिये राज्य का कारोबार बहुत सामान्य विषय है। 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' का कथन है : **बललाभे विश्वं आत्मसात्करोति**। जो चिति का बल प्राप्त कर लेता है वह जगत को आत्मसाम् कर लेता है। सम्पूर्ण विश्व जिस चिति का स्फुरण है ऐसी चिति मूर्तिमंत होके जिसके हृदय में रहती थी ऐसी रानी को राज्य चलाने में क्या भय? रानी जगत को चितिकिरणपुंजरूप में देखती थी। जगत रानी को आत्मा-तुल्य दिखता था। रानी राज्य-व्यवहार को बड़ी उत्तम, निर्दोष रीति से चलाती रही।

राजा हिमालय की एक गिरिकन्दरा में, निर्जन वन में कुटिया बनाकर ध्यान, धारणा, जप, तप करके दिव्य साधन करने लगा। जैसे जैसे कठिन नियम को धारता वैसे वैसे वह अति बेचैन बनता, चित्त चंचल बनता, समताहीन बनता। मुक्तानन्द कहता है, जिस जाति का जो मनुष्य है, जिसकी जो रहन-सहन है, उसमें ही सुख समाधान है। उसके विपरीत होने से सुख में भी दुःख होता है।

मेरे पास गैया के कुछ अच्छे अच्छे बछड़े थे—बड़े सुन्दर, आकर्षक और देखने लायक। आश्रम में खाद्य-चीज़ें भी बहुत आती थीं, जैसे कि पेड़े,

मिठाई, हलुवा, बरफी, तरह तरह के फल। मैं प्रेमवश उनको बहुत खिलाता था। खली, चुनी, घास खाने वाले गैया के बछड़े पेड़े, बरफी, मिठाई, फल खाने लगे। खाते ही आरोग्य के बदले रोगी हो गये। क्योंकि जिसका जो खाद्य और रहन-सहन है उसमें ही वह सुखी बनता है।

राजा की यही दशा हुई। उसने बहु काल तक राज्य-ऐश्वर्य में दिन गुजारे थे। अब वल्कल पहनता, घासफूस की कुटी में रहता, मृगछाला पर सोता। ठण्डे पानी से नहाता। कन्दमूल, फल खाता और तपस्या करता। उसका चित्त रोज़ अधिकाधिक अकुलाता। रोज़ बेचैनी बढ़ती। शांति के बदले क्षोभ, समता के बदले विषमता, आनन्द के बदले विषाद ज़ोरों से बढ़े। फिर भी राजा ने सच्चा मुमुक्षु होने से अपना धैर्य नहीं छोड़ा। नित्य त्याग के विषय में सोचता कि अब क्या त्यागना चाहिये? **त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्** लेकिन अभी शांति नहीं आयी; इसका अर्थ है हमारा त्याग पूरा नहीं हुआ।

रानी चूड़ाला एक महान योगिनी थी। चितिशक्ति से सर्वज्ञता पाये हुए थी। इतना ही नहीं वह अपने योगबल से नीलेश्वरी द्वारा जहाँ तहाँ इच्छानुसार गमन कर सकती थी। चाहे जैसे शरीर को धारण कर सकती थी। पति को वह कई बार अन्तरात्मा की स्थिति समझा चुकी थी, परन्तु राजा उसको केवल एक पत्नी के रूप में ही देखता था और इस तरह उसकी शिक्षा से उसने कोई ज्ञान ग्रहण नहीं किया। रानी भी समझदार होने से राजा को समय आने पर ही समझाने की प्रतीक्षा में थी, क्योंकि समय आये बिना समझाने का कोई प्रभाव नहीं होता। इसलिये समझाना छोड़कर रानी शांत रही। वह ध्यान द्वारा राजा की नित्य खबर लेती थी—वह क्या करता है, क्या नहीं करता है यह सब अन्तर्दृष्टि से देख लेती थी।

इधर राजा अपने त्याग को बढ़ाने लगा। दो दिन में एक बार, फिर तीन दिन में एक बार, फिर पाँच दिन में एक बार मात्र फल खाके उसने अपने शरीर को पूर्ण सुखा दिया। राजा की स्थिति को देखकर रानी बहुत दुःखी हुई। अब उससे रहा न गया। अपने शरीर को योगबल से पलट के कुम्भ नामक ऋषि के रूप और नाम को धारण करके वह राजा के सन्मुख प्रकट हो गयी। उस अपरिचित ऋषि को देखते ही राजा आश्चर्यचकित हो गया। उसने ऋषि का सन्मान किया। बैठने को आसन दिया। कुम्भऋषी

ने राजा का कुशल पूछा। राजा ने अपनी सब अन्तःस्थिति बतलायी और कहा, "हे ऋषि! मुझे अब तक शांति नहीं मिली। शांति का कुछ उपाय बतलाइये।" कुम्भ ऋषि ने कहा, "राजन्, शांति का एक ही मन्त्र है: **त्यागात् शान्तिरनन्तरम्।**" ऐसा कहके ऋषि अदृश्य हो गया। राजा शिखिध्वज '**त्यागात् शान्ति....**' मन्त्र सुनते ही और भी आश्चर्य में पड़ गया। सोचने लगा, 'क्या बात है? अभी क्या त्यागना बाकी है? राजगद्दी से लेकर सब त्याग दिया। धन, दौलत, सत्ता, वैभव, सुख छोड़े। स्वजन परजन की आसक्ति त्यागकर गिरिकन्दरा में घासफूस की कुटी में रहता हूँ। फिर भी कुम्भ ऋषि आया और '**त्यागात् शान्ति....**' बोलकर अदृश्य हो गया। अब क्या त्यागने को बाकी रहा?' त्याग का पूर्ण ज्ञान न होने से राजा ने जो त्यागना चाहिये था वह नहीं त्यागा, जो नहीं त्यागना चाहिये था वह त्यागा।

अब राजा सन्देहयुक्त हो विचार करने लगा। उसने सोचा कि अब वह कुटी भी त्याग देगा, मृगचर्म त्याग देगा, कमंडलु त्याग देगा और वल्कल भी त्याग देगा। और फिर उसने इन सभी चीज़ों को त्याग दिया। इतने में कुम्भ ऋषि फिर से प्रकट हो गया। बोला, "अरे राजन्! क्या तुम सुखी हो? शांति पायी?" राजा बोला, "ऋषि! शांति के लिये बेचैन हूँ! तड़प रहा हूँ!" कुम्भ ऋषि बोला, "अभी तक पूर्ण त्याग हुआ ही नहीं। **त्यागात् शान्ति....।**" एक ही मन्त्र बोलकर ऋषि चला गया। राजा सोचने लगा कि अभी क्या त्यागना बाकी है?

मुक्तानन्द कहता है, वस्तुतः ग्रहण-त्याग का ज्ञान महान जटिल है। यह एक कठिन समस्या है। इस विषय में एक संत के वचन की बारंबार याद आती है: **सांडीमांडी करूं जासी। तों तों विकारा पावसी। निजरूपीं भिन्न पडसी।** 'त्याग और ग्रहण का विचार करने जायेगा तो अपने स्वरूप से भिन्न हो जायेगा, स्व-स्वरूप में टिक नहीं सकेगा।' इस विषय में ब्रह्मानन्द का काव्य इस प्रसंग के योग्य समझकर लिखता हूँ, जो सिद्धविद्यार्थियों के लिये बड़ा लाभप्रद होगा:

ऐसा ज्ञान हमारा साधो, ऐसा ज्ञान हमारा रे॥ टेक०
जड़ चेतन दो वस्तु जगत में चेतनमूल अधारा रे।
चेतन से सब जग उपजत है, नहिं चेतन से न्यारा रे॥ १॥

ईश्वर अंश जीव अविनाशी नहिं कछु भेद विकारा रे।
सिंधु-बिन्दु सूरज-दीपक में एक ही वस्तु निहारा रे॥ २॥
पशु-पक्षी नर सब जीवन में पूरणब्रह्म अपारा रे।
ऊँच-नीच जग भेद मिटायो सब समान निर्धारा रे॥ ३॥
त्याग-ग्रहण कछु कर्तव्य नाहीं, संशय सकल निवारा रे।
ब्रह्मानंदरूप सब भासे यह संसार पसारा रे॥ ४॥

यही सत्य स्थिति है। राजा को यह समझना चाहिये था कि ग्रहण क्या, त्याग क्या ? परन्तु वह समझ नहीं सका। जब तक मनुष्य पर पूर्ण गुरुकृपा नहीं होती, उसकी अन्तरशक्ति नहीं विकसती, चितिप्रसादरूप ज्ञानशक्ति वह प्राप्त नहीं करता तब तक उसका ग्रहण और त्याग मनमाना ही होता है। तत्त्व-निरीक्षण करने की जब ज्ञानदृष्टि ही प्राप्त नहीं तब त्याग को कैसे पहचाने, ग्रहण को कैसे समझे ?

अब शिखिध्वज का त्याग और भी बढ़ गया। उसने पूर्ण निश्चय किया कि उसके पास जो कुछ भी है, यहाँ तक कि प्राण भी, वह त्याग देगा। उसने सोचा : 'एक बड़ी चिता रचकर सब चीज़ों को जला दूँगा। फिर स्वयं भी चिता में कूद पड़ूँगा। जब यह शरीर जल जायेगा तब शांति प्राप्त होगी।' उसने जंगल की सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करके एक बड़ी चिता रची और उसमें अग्नि लगायी। वह एक एक वस्तु को याद करके चिता में डालने लगा। कहता : 'हे कुटी ! तुझमें बहुत दिन रहा, परन्तु शांति नहीं पायी। अब तुझे अग्नि में स्वाहा कर देता हूँ। हे प्यारे कमंडलु ! तुझसे बहुत दिन जल पिया, फिर भी शांति नहीं मिली। अब तुझको अग्नि में डाल देता हूँ।' उसने मृगचर्म को अग्नि में डाल दिया, लंगोट निकाल कर डाल दिया। जो कुछ भी था, सब जला दिया। अब केवल उसका नग्न शरीर रहा। उसने चिता की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं। फिर अपने शरीर से कहा, 'हे मेरे प्यारे शरीर ! तुझे अनन्त प्रकार से षड्रस अन्नों से तृप्त करते करते थक गया फिर भी तुझ से सुख न हुआ। कई जाति के सुगन्धित जलों से तुझे स्नान कराते कराते थक गया, फिर भी तुझसे शांति न मिली। न जाने कितनी रमणियों से रमण कराया, फिर भी सुख न पाया। कितना भी धोया, कितना खिलाया, कितना शृंगार किया, फिर भी शांति नहीं मिली।' अब राजा चिता में कूदने को तैयार हो गया।

इतने में कुम्भ ऋषि वहाँ प्रकट हो गया। उसने राजा का हाथ पकड़ लिया और कहा, "अरे राजा! ठहर, ठहर। क्या अन्याय करता है? तू यह क्या अनर्थ कर रहा है?"

राजा बोला, "हे ऋषि! सब कुछ त्यागने के बाद शरीर त्यागना योग्य समझकर शरीर को अग्नि में त्याग रहा हूँ जिससे पूर्ण शांति मिल जायेगी।"

कुम्भ ऋषि बोला, "अरे राजा! यदि शरीर के चिता में जलने से शांति मिलती तो असंख्य जीव जो मर गये हैं, क्या उन्हें शांति मिली? मौत क्या शांति का साधन है? जीते जी जिस शरीर में शांति पानी है, उस शरीर को जलाकर शांति की अनुभूति कैसे करेगा? जिस शरीर में जीवन्मुक्ति की सुखशांति को भोगना है उस शरीर को तू जलाने चला है। शरीर भस्म हुए बाद शांति कहाँ और कौन भोगेगा? राजा! तुझे समझ नहीं कि क्या त्यागना चाहिये। देख राजा! तेरा प्रत्यक्ष दिखने वाला जो शरीर है उसमें बहत्तर हज़ार नाड़ी समुदाय, चार अवस्थाएँ, चार शरीर, पंचकोष हैं। वह अनन्त प्रकार की चमत्कारयुक्त अन्तर-रचनाओं वाला है। ऐसा शरीर माता और पिता के संयोग-सम्बन्ध द्वारा रज और वीर्य से रचा गया है। इसमें पिता का वीर्यरूप आधा अंश और माता का रजरूप आधा अंश है। ऐसे दोनों अंश एक होके बने हुए शरीर में त्यागने के लिये तेरी क्या और कौनसी चीज़ है?"

"हे राजा! इस शरीर का मूलकारण जो रज-वीर्य है, वह माता पिता के खाये हुए शुद्ध अन्न का रस है। वह अन्नरस पृथ्वी का है। अब हे राजा, इसमें तेरी क्या त्यागने योग्य वस्तु है? यह मानव पृथ्वी का उपजा हुआ अन्न खाकर पृथ्वी में ही विलास करता हुआ, पृथ्वी में ही समा जाता है। इसलिये यह शरीर पृथ्वीमय है; इस शरीर में आत्मारूप से परम शांत परमेश्वर प्रवेश करके रहता है, वह भी तू नहीं है। इस शरीर के सब इन्द्रियग्रामों में, आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा में अपने अपने देवता आके भिन्न भिन्न कार्य करते हैं, वह भी तू नहीं है। राजा, तू इसे त्यागने को चला है? इसमें तेरा त्याग कौनसा है? तदनन्तर, जैसे पृथ्वी में उपजकर, पृथ्वी में रहकर, पृथ्वी में समा जाने से यह शरीर पृथ्वीमय है, वैसे ही यह पृथ्वी जलमय है, क्योंकि पृथ्वी जल से उपजी है। जल अग्निमय है, क्योंकि जल अग्नि से

उपजा है। अग्नि वायुमय है। वायु आकाशमय है। आकाश अवकाशदाता परमात्मामय है। इसमें तेरा कुछ नहीं है। उसमें 'मेरापन' भ्रान्ति मात्र है ऐसा जानकर तुझे उस भ्रान्ति को त्यागना चाहिये। तू दूसरे के दिये हुए शरीर को त्याग के अपना त्याग समझता है। वस्तुतः जिसको ज्ञानदृष्टि प्राप्त हो गयी है, जिसपर गुरुकृपा हुई है, उसके लिये उससे भिन्न त्यागने को है क्या?

इतो न किञ्चित् परतो न किञ्चित्
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।
विचार्य पश्यामि जगन्न किञ्चित्
स्वात्मावबोधात् अधिकं न किञ्चित्॥"

कुम्भ ऋषि के ऐसे कहने पर, राजा ने विचार किया कि यह सच्ची बात है। जिस शरीर से मैं द्वेष कर रहा हूँ, वह सहायक है। शरीर साधक है, बाधक नहीं।

इस प्रसंग में एक कवि की काव्यपंक्ति मुझे याद आ रही है—*'साधक जग हें, बाधा नाहीं या पासुनि तुज लेश। तुजला याचा द्वेष कां रे।'* जिस शरीर में शुभाशुभ कर्म करते हुए कर्मफल भोगने का आश्रय मिलता है उस शरीर को त्यागना, उसकी अवहेलना करना, अनियम से उसका स्वास्थ्य बिगाड़ना; जिस शरीर में बहुकाल तक रमण करना है उसको अमर्यादा और असंयम से निस्तेज बनाना यह कौनसा त्याग है? *त्याग में विचार होना चाहिए। सर्व दुःख का मूल, परम अनर्थकारक जो अभिनिवेश है उस अभिनिवेश को त्यागना चाहिये। शास्त्रों में अभिनिवेश उसे कहा है: 'जो वस्तु हमारी नहीं और हम भी नहीं, उसको हमारा और हम कहना अभिनिवेश है।'* यह जो 'हम' है, यही महान अनर्थ का मूल है। इसने ही ईश को जीव माना है। सुख को दुःख कर दिखलाया है। एक को अनेक कर बतलाया है। 'अहम्' नष्ट होके, 'अहम्' के बदले 'सोऽहम्' आ जाये तो फिर त्यागना ही क्या है? चितिमय ही तो सब जगत है। अकारण त्याग, अशास्त्रीय त्याग, शांति के बदले भ्रान्ति दिलाता है। इस विषय में सिद्धविद्यार्थियों के लिये एक संतकवि का काव्य लिखता हूँ:

नहिं मिले धन त्यागे, नहिं मिले रामजी जान तजे
नारायण तो मिले उसीको जो देह अभिमान तजे ॥ टेक०

सुतदार या कुटुंब त्यागे या अपना घरबार तजे
नहिं मिले प्रभु कदापि जगत का सब व्यवहार तजे
कंदमूलफल खाय रहे और अन्न का भी आहार तजे
वस्त्र को त्याग नग्न हो रहे और परहि नार तजे
तो भी हरि नहिं मिले यह त्यागे, चाहे अपने प्राण तजे ॥
नारायण तो मिले उसीको......

तजे पलंग फूल का और चाहे हीरा मोती लाल तजे
जात को अपनी तजे, कुल की सारी चाल तजे
वन में निशिदिन विचरे और इस दुनिया का जंजाल तजे
देह भी अपनी जलावे, शरीर का भी ख्याल तजे
ब्रह्मज्ञान नहिं हो तो भी, चाहे वो अपनी जान तजे ॥
नारायण तो मिले उसीको......

रहे मौन, बोले नहिं मुख से, अपनी सारी बात तजे
बालपन से योग ले, तात तजे या पात तजे
शिखासूत्र त्याग कर दे और उत्तम अपनी मात तजे
कभी जीवकु ना मारे, घात तजे अपघात तजे
इतना तजे तु क्या होवे जो देह का नहिं गुमान तजे ॥
नारायण तो मिले उसीको......

रहे रात दिन खड़ा, ना सोवे, पृथ्वी की भी शयन तजे
कष्ट उठावे, रहे बेचैन और सारी चैन तजे
मीठा होकर सब से बोले, कडुवे अपने बेन तजे
इतना त्यागे देह अभिमान नहिं दिनरैन तजे
***बनारसी* कहे उसे मिला नाहिं चाहे सकल जान तजे ॥**
नारायण तो मिले उसीको......

सिद्धविद्यार्थियों के लिये यह एक प्रामाणिक काव्य है। **वस्तुतः विचारहीन** *त्याग भी महाभोग है। विचारयुक्त भोग भी महात्याग है।* परमात्मा को

अपनी ही अभिन्न महिमा से इस *व्यावहारिक* जगत को रचने का क्या कारण था? यह किस हेतु से रचा गया? यह जगत किस के लिये, क्या करने के लिये, क्यों रचा गया? इस विमर्श बिना यदि कोई सिद्धविद्यार्थी अशास्त्रीय त्याग करता है तो वह केवल अयोग्य है। मानवसमाज इस विश्व का सच्चा ज्ञान न होने से ही दुःखी है। यदि चितिक्रीड़ारूप विश्व का पूर्ण ज्ञान हो जाये तो प्रपंच परमार्थ बनेगा। परमात्मा का रचा हुआ 'आत्मा से अभिन्न' जगत परमात्मारूप ही है। यह सतर्क वेदान्त का सिद्धान्त है कि कारण से कार्य भिन्न नहीं होता। कार्य में कारण ही निहित है।

कुछ शास्त्रकारों का ऐसा कहना है कि जगत मिथ्या है, शुष्क है, रसहीन है और बन्धनकारक है। यदि कोई अपने प्रपंच से जिज्ञासावश थोड़ा बहुत परमार्थ पथ पर जाता है तो उसको यही पाठ पढ़ाया जाता है कि संसार रसहीन है, मिथ्या है, मर्त्य है। फिर वह जगत के विषय में निरंतर ऐसा ही मनन करता है कि यह शुष्क है, रसहीन है, मर्त्य है। दृष्टि-सृष्टि के न्यायानुसार यह कितनी अनर्थकारक बात है! मनुष्य की दृष्टि के अनुसार सृष्टि होती है, व्यवहार में कुछ एक ऐसी पुरातन गलत रूढ़ियाँ हैं कि यदि बच्चे रोते हैं तो घर के किसी कोने में भूत का भय दिलाते हैं। यह भूत बच्चे के लिये माता की एक नयी सृष्टि है। इस भूत का भय बहुत काल तक हृदय में रहता है। यह भय विदेशियों में नहीं रहता, क्योंकि वे बच्चे को ऐसा झूठा भय नहीं दिखाते। ऐसा ही 'यह जगत मिथ्या, रुक्ष, रसहीन, शुष्क है' ऐसा किसी कारणवश शास्त्रकारों के कहने पर भी वस्तुतः यह जगत ऐसा नहीं है, वह चिति का विलास मात्र है। एक चिति की सामर्थ्य बिना इस अनन्त प्रकार के जगत के होने में किसकी ताक़त है? चिति ही अनन्त रूप में विलसित है।

ऐसे चितिमय जगत में रहकर चिति को विषमरूप से देखना और जानना ही विपरीत या भेदज्ञान है। हाँ, इतना सत्य है, जब तक मानव स्वयं असत्य होता है, शुष्क-रसहीन होता है, तब तक जगत भी उसको वैसा ही भासेगा। यह न्याय सहजसिद्ध है : *जैसा आप वैसा जगत।* चाहे वह कोई गृहस्थी हो या यति या साधु या फकीर हो, आप जैसा जगत है। जो श्रीगुरुकृपा के पात्र बना, जिसने अन्तरशक्ति को जगा लिया, चिति की क्रीड़ा को हृदय में देख लिया, उसको बाहर भी चिति का ही

प्रसरण, चिति की ही स्फूर्ति दिखती है। उस मन्त्र की फिर से याद आती है:

श्रीगुरुचरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम्।
जगत् सत्यमसत्यं वा नेतरेति मतिर्मम॥

ऐसे व्यक्ति के लिये जगत सत्य है या असत्य, इसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

जगत के बारे में यह सत्य असत्य एक वाद है। वाद से प्राप्ति कुछ नही है। जब चित्त निर्विवाद बनता है तभी चिति का विलास गोचर होता है। ऐसी दशा में जगत जगदीश होके भासता है। जिसे साक्षात्कार हुआ है उसने इस जगत में जगदीश को ही देखा; न शून्य देखा, न रसहीनता को देखा। साधनकालीन जो विचार होते हैं वे साधनोत्तर प्रामाणिक नहीं होते। जैसे श्रुति में दो विभाग होते हैं : पूर्वश्रुति और उत्तरश्रुति। पूर्वश्रुति को दुर्बल श्रुति कहते हैं। उत्तर श्रुति को प्रबल श्रुति कहते हैं। पूर्वश्रुति कहती है : **अपुत्रस्य गतिर्नास्ति**। याने पुत्रहीन को सद्गति नहीं होती। तो क्या त्यागी शादी करेगा? और नारद, सनतकुमार आदि जो जीवन्मुक्त हो गये वह कैसे संभव हुआ? उत्तरश्रुति ऐसा कहती है : **न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः** (महानारायणोपनिषद् ८/१४) याने 'कर्म से, पुत्र से, धन से सद्गति नहीं होती, केवल त्याग से ही अमरता की प्राप्ति होती है।'

यह त्याग गृहत्याग नहीं, जातित्याग नहीं, आश्रमत्याग नहीं, न भोजन-त्याग है, न देहत्याग है, न निष्कामरूप प्रवृत्ति-कर्म का त्याग है। यह केवल भेद का त्याग है। जो हमारा 'अभिनिवेश' है उसका त्याग है। हमारे अभिनिवेश को त्यागते ही हमारे अन्दर छिपा हुआ सत्य प्रकट हो जाता है। बाह्य जगत में छिपा हुआ सत्य भी प्रकट हो जाता है। तदनन्तर मनुष्य को सर्व इन्द्रियों, करणों और विषयों में एक ही चिति का प्रवाह गोचर होता है। फिर उसका रोना सतत के लिये मिट जाता है। वह संसार को बड़ी आसानी से, श्रद्धाभक्ति के साथ, पारमेश्वर बुद्धि से करने को लग जाता है।

रानी चूड़ाला महान ब्रह्मज्ञानी, पूर्ण योगिनी, सुशील, पतिव्रता और चिति के विलास को यथावत् जानने वाली थी। उसके लिए यह जगत चिति का

बहिःस्फुरण था। उसके लिये अपने महल में ही समतारूप गुहा थी, सभी कर्मों में ब्रह्मदर्शनरूप ध्यान था। सभी वस्तुओं में चितिस्फुरण-बुद्धि होने से, उसका त्याग भेदरूप का त्याग होने से, पूर्ण त्याग था। यथार्थ शास्त्रीय त्याग था। चूड़ाला का त्याग स्व-स्वरूप से भिन्न करनेवाले भेद का त्याग था, गृह का नहीं। इसलिये वह ध्यान में जितनी शांत थी उतनी ही व्यवहार में भी निश्चिन्त रहा करती थी। उसके लिये —

विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितम्।
यत्र यत्र निरुप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित्॥

याने चूड़ाला की ऐसी स्थिति थी कि उसके लिये सर्व वस्तुओं में, इन्द्रियों के अर्थों में, सर्वत्र चिति ही स्फुरती थी। उसको किसी भी काल में कुछ भी अशिव नहीं था। ऐसा होने से चूड़ाला संसार में भी परमार्थ का दर्शन करके परमात्ममय होके विचरती थी।

कुम्भ ऋषि के उपदेश के अनुसार अभिनिवेश के पूर्ण त्यागने पर राजा शिखिध्वज की बाहर प्रवाहित होनेवाली वृत्ति एकदम अन्तर्मुखी हो गयी। गहरे अन्तर में उतरी हुई वृत्ति आत्माकार होके आत्मा ही बन गयी। शिखिध्वज को समभाव की समाधि चढ़ गयी। शिखिध्वज बाह्यरहित, अन्तररहित, द्वैतरहित, लिंगरहित, शांत हो गया। जैसे बहुकाल से निद्राहीन मनुष्य सुखद, शीतल जल के झरने के स्थान में मन्द मन्द वायु के बीच, यदि निद्रित हो जावे तो बहुकाल तक गाढ़ी निद्रा का सुख लेता है, वैसी ही गति शिखिध्वज की हो गयी। बहुकाल से बेचैन हुआ मन, शांति को खोजता हुआ चित्त, अन्तरशांति प्राप्त होते ही आत्मा में मिलके आत्मा ही बनके रह जाता है, चित्तपने को त्याग देता है। अपने इष्ट को प्राप्त करके राजा सुखानुभूति में मग्न हो गया। जब राजा अन्तर से बाह्य जगत में आया तब बाह्य जगत में भी वही देखने लग गया। अन्तरसुख बाहर प्रकट हो गया। राजा के हृदय से भेदभाव निःशेष निकल गया। जो अन्दर था, वही बाहर देखा।

राजा को इस सिद्धान्त का पूर्ण साक्षात्कार हो गया—'यथा अत्र तथा अन्यत्र'। राजा की दृष्टि बदल गयी। उसकी त्याग की जो गलत समझ थी उस गलत समझ को ही उसने त्याग दिया। नानात्व का त्याग होके

अब उसे एकत्व में अनुराग हो गया। भ्रान्तियुक्त त्याग को त्यागकर वह निजात्मस्थिति में जग गया। एकत्व की अभेद दृष्टि ने अनेकत्व का नाश कर दिया। सभी में 'एक' के ही दर्शन करके उसने दुई की दुविधा के पाठ को पोंछ डाला। राजा सर्वत्र विश्वेश के ही दर्शन करने लगा। बस्ती तथा श्मशान में विश्वेश का ही निरीक्षण करते रहा। बाग, बगीचे, फल, फूलों में भी विश्वेश के ही चमकीले तेज को देखने लगा। राजा को एकान्त और जनसमुदाय भ्रम का विलास दिखने लगा। यह वन है, यह निर्जन प्रदेश है, यह बहुजनों के समुदाय का स्थान है, यह नीच कर्मियों की बस्ती है-राजा का ऐसा भेद का परदा ज्ञानाग्नि में जल गया। उसको पूर्ण बोध हो गया : जो वन में, जो गुहा में, जो एकान्त में, वही मेरे महल में है। ऐसा दृढ़ बोध हो जाने से राजा को अपने राजमहल में लौटने की इच्छा हो गयी। वह राजमहल की ओर चल दिया।

सिद्धविद्यार्थियों को बड़ा आश्चर्य होगा कि इतना बड़ा त्यागी अब क्यों घर की ओर चल दिया? प्यारे विद्यार्थियो! *ग्रहण और त्याग, उत्तम और अधम, जहाँ तक अप्राप्ति है वहाँ तक की समझ है।* प्राप्ति हो जाने पर आप से भिन्न है ही क्या? सब आप का ही सौन्दर्य है। और ज्ञानी हो या अज्ञानी, पूर्व कर्म का भोग उसको अवश्य भोगना ही पड़ता है। हाँ, अज्ञानी रोते चिल्लाते, हाय-हाय करते, भेददृष्टि से पराधीन होकर भोगता है और ज्ञानी ज्ञानदृष्टि से जगत को चितिविलास समझकर, वह अपनी आत्मप्रभा है ऐसा मानकर भोगता है।

भोग तो अज्ञानी और ज्ञानी का समान है। एक का भोग व्यावहारिक विषय है तो दूसरे का भोग पारमार्थिक चितिविलास है। ज्ञानी का पुण्य-प्रभाव अनन्त जन्मों का होने से उसके पीछे यौगिक भोग-सौन्दर्य भी अनन्त रहेगा। ऐसा होने पर भी वह फिर से नहीं जन्मेगा। वह भोगों में नहीं फँसेगा। क्योंकि वह भोग का ही योग करके मस्त रहनेवाला होता है। वह *योगी इन्द्रियराम नहीं, आत्माराम होता है। व्यावहारिक दृष्टि से,* व्यावहारिक *जनों को व्यवहारी जैसा दीखने पर भी योगदृष्टि से* '**ब्रह्मभूतो महायोगी**' *ऐसी उसकी स्थिति है, वह ब्रह्मभूत है, क्योंकि व्यावहारिक* भूतसमुदाय *उसका परब्रह्म है। ऐसे निश्चय की जो स्मृति है वही उसका ध्यान है।* इसलिये व्यवहार में भी उसका ध्यान बाधित नहीं होता।

साधारण जनों के लिये विषय भिन्न होता है और ध्यान का लक्ष्य भिन्न होता है। फिर विषय का नाश करने के लिये साधारण ध्यानयोगी को ध्यान के लक्ष्य में प्रवेश करना होता है। मगर यह जो ब्रह्मभूत महायोगी है उसका स्नान, खाना, पीना, आना, जाना, वस्त्राभूषण पहनना आदि जो जो कर्म हैं, वे सब परब्रह्ममय होने से, उसका 'ध्यान' है। इसको ही मैं अटूट, अहर्निश ध्यान कहता हूँ, जो तुकाराम महाराज की उक्ति के अनुरूप है : **विषय तो ज्यांचा झाला नारायण**। अर्थात् जिनका सब विषय नारायण हो गया है। ऐसी दशा में वह योगी अदृष्ट के अनुसार राजा भी हो सकता है, वैभव में भी रह सकता है, जड़भरत की तरह उदास भी हो सकता है, ऋषभदेव जैसा नग्न दिगम्बर भी बन सकता है। उसका आचरण जड़, उन्मत्त, पिशाचवत् भी हो सकता है। चितिशक्ति की प्रेरणा से, अदृष्ट के अनुरूप यह सब गति-स्थिति सिद्धयोगी को प्राप्त होती है। जो चिति हमारे अन्दर प्रविष्ट होके हमारी शिवमय स्थिति बना देती है, वह जो कुछ भी हमारे लिये देवे—मानसन्मान या अपमान, सम्पत्ति या विपत्ति, वह सब हमारे लिये चिति का दिया होने से प्रसादतुल्य है। उसमें शिवशासन होने से प्रेम की ही अनुभूति होगी। यह मात्र गुरुप्रसाद प्राप्त नरनारियों के लिये ही है, प्रसादहीन के लिये नहीं। अप्रसादी को सुख में भी दुःख प्राप्त होता है। अस्तु।

जो शिखिध्वज अनजानपने में अपनी राजगद्दी, प्रजाजन, पत्नी और स्वजनों को विघ्न समझकर त्याग कर गया था वही राजा, गुरुप्रसादोत्तर और चितिमय जगत के ज्ञानोत्तर, इस जगत को, अपने परिवार को, प्रजाजनों को चिति का विलास समझकर सहायक और सुखमय देखने लगा। जिसमें अति व्याकुल होकर दुःख की अनुभूति करता था उसीमें अब परमानन्द की अनुभूति लेने लगा। अदृष्ट-प्रेरित राजा निजस्थिति में रहता हुआ, राजकार्य चलाता हुआ अपने दिन बिताने लगा। राजा अब सूर्य की धूप में, पर्वत के शिखरों में, नदियों की बहती हुई धाराओं में, सागर की उछलती हुई लहरों में, वर्षा की झड़ी में, मेघ की विद्युत् में, पीले-हरे-नीले रंग के खेतों में और आकाश के अवकाश में जगदीश को ही देखता। भूख-प्यास में, आशा-निराशा में, दूर और पास में, न्याय- अन्याय में, सन्तोष-लोभ में, क्रोध-क्षोभ में चितिस्फुरण की ही अनुभूति करता। राजा

बाह्य व्यवहार में भेद देखने पर भी अन्तःकरण में अभेद का ही अनुभव करता। उसको सत्य का पूर्ण साक्षात्कार हो गया। वह अपने वाहन, भूषण, खान-पान में, सुर-नर-मुनि-ऋषियों में, लकड़ी तथा पाषाण में अपनी अन्तरात्मप्रभा को ही देखता। वह इस चराचर विश्व के सब नाम, रूप, गुण और तत्त्वों में परमेश्वर का ही अनुसंधान करता था।

वस्तुतः भेद ही मनुष्य के लिये भय और अशांति का मूल कारण है। भेदवादी के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।१९) ऐसा कहता है :

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

याने भेदवादी मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होता है। उसको इधर वा उधर कुछ अन्य प्राप्त नहीं होता। फिर तैत्तिरीयोपनिषद् (२।७) का कथन है : **उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति।** यत्किंचित् भी भेद देखने से भय ही प्राप्त होता है। निर्भयता की परम साधना सत्य और समता है, सर्वात्मभाव है, गुरुबोधनिष्ठा है।

जैसे मछली पानी में प्यासी रहती है वैसे ही गुरुकृपाहीन जीव इस आनंदमय जगत को रूखा, सूखा, रसहीन देखता है। ऐसा मूढ़ जीव रस्सी को अपनी ही कल्पना से सर्पाकार देखके भय, स्वेद और कंप को प्राप्त होता है और उसी प्रकार जगत को धारण करके विलसनेवाले चितिपुंज-रूप चितिमय जगत में जड़, शुष्क, माया वगैरह दूषणों का आरोपण करके अपने आप ही अकल्पित दुःख भोगता है। इसका यही एक प्रधान कारण है : गुरुबोधहीनता, गुरुकृपाहीनता। अन्तरशक्ति का विकास नहीं होने से मानव की ऐसी दशा होती है। इसको वसुगुप्ताचार्य ने **शक्तिदरिद्रः संसारी** ऐसा कहा है। यदि संसार का सभी मानववर्ग—नर, नारी, बालक और बालिकाएँ, संसार में रहते हुए ध्यानयोग द्वारा गुरुप्रसाद को पाकर अन्तर-शक्ति का विकास कर ले तो हृदय में चितिपुंज प्रकट हो जायेगा। **स्वशक्ति-विकासे तु शिव एव** याने स्वशक्ति विकास हो जाने से जीव परशिव ही बन जाता है। वह शिव का ही है। शिव में ही है। शिव ही है। मुक्तानन्द कहता है, 'गुरुप्रसाद पाकर शिव होने में फिर क्यों देर लगेगी ?'

संसार के सभी नरनारी परमात्मा की अभिन्न मूर्तियाँ होने से सभी ध्यांन कर सकते हैं। ध्यान जैसे योगियों की परमार्थ यात्रा को पूर्ण कर देता है

वैसे ही संसारियों की संसारयात्रा को भी पूर्ण कर देता है। ध्यान में चित्त की स्मृति बढ़ जाती है। कई लड़के और लड़कियाँ, जो पहले पढ़ने में मूढ़ थे, अब 'श्री गुरुदेव आश्रम'में आकर ध्यान के प्रताप से प्रथम श्रेणी में पास होते हैं। ध्यान में मन स्थिर होने से प्राण अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। प्राणशुद्धि होते ही शरीर की जड़ता नष्ट होती है। स्फूर्ति और उत्साह बढ़ जाते हैं। स्फूर्ति और उत्साह संसार के बड़े सहायक मित्र हैं। ध्यान में नाड़ीशुद्धि होने से कई रोगों का नाश होता है। आश्रम में आनेवाले कई ध्यान के विद्यार्थी रोगों पर विजय पाके पूर्ण निरोगी बने हैं। ध्यान में अन्तर-साक्षात्कार होने से पति-पत्नी में सम्मानयुक्त देवबुद्धि का उदय हो जाता है। भाई-बहिन में परस्पर ईशबुद्धि जाग जाती है। पिता-पुत्र, माता-पुत्री, सास-ससुरभाव में भी एक भगवद्भाव का उदय हो जाता है जिसका नाम स्वर्गमय संसार है। यही ध्यानयोग की प्राप्ति है।

अरे संसारी जनो! तुम्हारी परिस्थिति कैसी भी क्यों न हो, तुम अपना भोजनादि व्यवहार समय में कर ही लेते हो, वैसे ही संसार में से थोड़ा समय निकालकर ध्यान भी कर लो। जब जब समय मिले, शांत होके चित्त को हृदय में स्थिर करते हुए, श्रीगुरुदेव से प्रार्थना करके ध्यान करते रहो। सर्व कर्मों में गुरुमुखी महामन्त्र गाते रहो। तुमको समय न मिलने से सोते सोते ध्यान करो। तुम अवश्य सुख पाओगे। तुमको यदि थोड़ा भी समय मिले तो उसका सदुपयोग ध्यान में कर दो। संसार में रहते हुए जनक राजा ने ज्ञानोत्तर पाया हुआ जो बोध अपनी रानी को सुनाया था उसको धारण करो :

भेद भावना तज दे सुमते! सर्व में आत्मबुद्धि कर ले।
पुत्र वासना, लोक वासना, देह वासना तज दे॥

'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ से धारणा का एक मन्त्र लिखता हूँ जिसको सिद्धविद्यार्थी ध्यान न होने पर भी धारण करें :

अहं न नारको नाम न तिर्यग् नापि मानुषः।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः॥

यदि हम अपने को विमर्शदृष्टि से देखें तो हम न कोई नारकीय हैं, न

पशु हैं, न मनुष्य हैं, न देव हैं, हम केवल सिद्धस्वरूप हैं, सिद्धात्मा हैं– ऐसी भावना को बारम्बार जपते हुए उसकी दृढ़ धारणा करो।

राजा जनक भी एक बार त्याग के विचार से जगत से रूठ गया था। उसने खाना-पीना, राजव्यवहार आदि सब, कुछ काल के लिये त्याग दिया था। त्यागोत्तर पूर्ण समताज्ञान होना चाहिये। यदि समताज्ञान न हुआ तो वह दिखावटी त्याग है। राजा जनक को भी त्यागोत्तर तुरंत समताज्ञान हुआ जिसके द्वारा यावन्मात्र जगत में वह आत्मभाव देखने लगा। सर्वात्मभाव प्राप्त करके राजा सुखी हो गया और वापस आकर अपना राजकाज संभालने लगा। बाहर से व्यवहार का निरीक्षण करता, अन्तर से ब्रह्मानुभूति कर लेता। राजा के शांत, समतायुक्त, प्रेममय हृदय को देखते रानी को भी जिज्ञासा हुई। रानी के राजा से शांति का उपाय पूछने पर राजा ने उसे समझाया : "हे रानी! **सर्व जगत आत्मा ही है** ऐसे ज्ञान का जब उदय होता है तब चराचर जगत में आत्मप्रभा ही भासने लग जाती है। हे देवी! तदनन्तर जीव, माया, जगत, चित्त, चिन्तन ऐसे कुछ द्वन्द्व विचार ही नहीं रहते। फिर बाहर-भीतर, अपने में और पराये में, एक चिति ही भासती है। हे देवी! आत्मरूप जगत में जो भेदभावना है वही जीव-स्थिति है। यही दुःख का मूल है। इस दशा में शांति कभी भी प्राप्त नहीं होगी। मानव इस जगत को छोड़ने के लिये जितना जितना जपतप आदि उपाय करता है, उतना ही अधिकाधिक उसमें फँसता जाता है। हे रानी! मैं आत्मा हूँ, जीव नहीं हूँ, यह सब मेरी ही सत्ता-स्फूर्ति है, बाहर, भीतर, ऊपर, नीचे मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं है; यह जो चराचर विश्व जड़ या चेतन भासता है यह मुझसे न्यारा नहीं है। ऐसा ज्ञानभाव ही परम शांतिदाता है, वही अपार सुख-समुद्र है।"

वस्तुतः आत्मा से भिन्न कुछ सत्ता होने से ही चित्त स्फुरित होता है, चित्त का आत्मा से भिन्न स्फुरण ही संसार अथवा बन्धन है। स्थावर-जंगमात्मक जगत में जब अपनी आत्मस्थिति का स्फुरण होता है, तब चित्त का चित्तभाव मिटकर वह चिति ही बन जाता है। जिसका चित्त चिति बन जाता है, वह सिद्धविद्यार्थी चिति साम्राज्य का राजा बन जाता है। उसको सर्वत्र आत्मा ही भासता है। फिर काया, माया, द्वैत-भेद, सब अद्वैत में परिणत हो जाते हैं। जो शास्त्रकारों का लक्ष्य है और जिसको

सत्, चित्, आनन्द कहते हैं, वही निरामय नामरूप से भासता है। दृष्टि ही सृष्टि है। जब आत्मप्रभा आँखों में प्रकाशती है, तब सारा जगत आत्मरूप में ही स्फुरता है। जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार ही प्रकाशरूप से भासता है, वैसे ही आत्मज्ञान होने से जगत भी आत्मरूप होके भासता है। सर्व अनर्थ का मूल 'भेद' है। इसने सभी को द्वैतरूप का नाच नचाकर अनेक दुःख भुगवाये हैं। असल में बहुत सत्य न होने पर भी यह भेद प्रत्यक्ष की नाईं भासता है।

श्रीगुरुकृपा होनेसे जब भेदरूप द्वैत का परदा हट जाता है, तब मुमुक्षु अपने में आप ही परमात्मपद पा लेता है। यही जीवन्मुक्ति की दशा है। जीवन्मुक्ति ही सहजावस्था की प्राप्ति है। मानव के लिये प्राप्ति करने लायक यही मुख्य स्थिति है। यह प्राप्ति चितिप्रसाद से होती है। इसके लिये श्रीगुरु-बोध की अत्यन्त आवश्यकता है। श्रीगुरुबोध के लिये गुरुभक्ति, गुरूपदिष्ट ध्यान, गुरुमार्ग का अवलम्बन, हमारे परम्परारूप सिद्धलोक की स्मृति—यही करणीय है, कर्तव्य है।

प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! *प्राप्त करने योग्य समता ही है। त्यागने योग्य विषमता है।* समता को भजते ही मानव के हृदय से विषमता भाग जाती है। समता ही सब का सत्य स्वरूप है, वही परब्रह्म कहलाती है। सभी संतजन और श्रीगुरुदेव यही बतलाते हैं। इति शिवम्॥

५

प्रेम - साधना

प्रेम-साधना एक उच्च साधना है। प्रेम को भक्ति भी कहते हैं। प्रेम एक महान स्फूर्तिमय, गतिशील अन्तःस्फुरण है। प्रेम परमात्मा का स्वरूप है जिसको शास्त्रकारों ने परमानन्द, सच्चिदानन्द कहा है। वह मानव के अन्दर पूर्ण रूप से रहता है। यदि मानव को प्रेम की प्रतीति अनुभूति में न भी आवे तो भी उसमें प्रेम परिपूर्ण है। एक अन्धा, जिसने कभी प्रकाश नहीं देखा, एक अनुभवी के प्रकाश के अनुभव को सुनकर कहता है, "प्रकाश नहीं है, मैंने कभी देखा नहीं है। मुझे तो प्रकाश का पता भी नहीं है।" सत्य तो यह है कि उसकी आँखें नहीं, प्रकाश तो है। उसी प्रकार प्रेम अनुभूति में न आने पर भी पूर्ण ही है। प्रेम पाने का जब कोई प्रयत्न नहीं किया, प्रेम की साधना नहीं की, तो प्रेम कैसे प्राप्त होगा?

प्रेम अमृतरूप है। प्रेम अमर है। गोकुल की गोपियों ने प्रेम से ही परमात्मा को प्राप्त किया था। प्रेम अन्तर की गुह्य गुफा की झलक है। अन्तर में रहनेवाला प्रेम ही विभिन्न करणों में से बाहर प्रवाहित होता है। अन्तर का प्रेम-प्रवाह ही चक्षु में आकर रूप को मधुर बनाता है, कर्णों में प्रवाहित होकर शब्दों को मधुरातिमधुर बनाता है, जिह्वा में प्रवाहित होकर रस को रसमय, मधुमय करता है। प्रेम पूर्ण आनन्दरूप आत्मा है जो बाहर स्फुरित होने से विषयों को रसमय बनाता है। यदि सर्व इन्द्रियग्राम से आत्मा का बहिःस्फुरण बन्द हो जाय तो अंकरहित रकम जैसे अर्थहीन और शून्य बन जाती है वैसे ही इन्द्रियाँ केवल शुष्क, रसहीन और आनन्दरहित बन जायेंगी।

मानव व्यावहारिक जगत में प्रेम सीखे, परन्तु वह प्रेम केवल शुद्ध, सम्बन्धरहित और निष्काम होना चाहिये। वह प्रेम केवल 'प्रेम के लिये ही प्रेम' होना चाहिये। प्रेम में यदि कोई चाह है तो वह एक अदला-बदली का व्यापार है। वह तो प्रेम की एक कल्पित धारणा है। वह सत्य प्रेम नहीं है। प्रेम में कुछ चाह नहीं होती, अपना या पराया नहीं होता।

प्रेम में स्वार्थ नहीं होता। प्रेम केवल प्रेम होता है। श्रीगुरु नित्यानन्द वही प्रेम है। सद्गुरु से केवल प्रेम करो। उनसे मोक्ष तक की भी माँग मत करो। हृदय में इतना प्रेम भरा है कि वह एक मानव के लिये ही नहीं, परन्तु असंख्य मानवों के लिये काफ़ी है। वासना, व्यर्थ चिन्तन, सोच आदि के कारण भाग्यहीन उसे देख नहीं सकता। जब वह पूर्ण निष्काम बन जाता है तब अमृतमय प्रेम को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेता है।

प्रथम अपने से पूर्ण प्रेम करो। तुम अपने को मलिन, शुष्क, असत्य, अनित्य या दुःखमय इस तरह का पाठ पढ़ाते पढ़ाते सताओ मत। कोई कोई काव्य, समाज वा धर्म शरीर को अनर्थकारक और दीन-हीन समझाकर कौड़ी मोल का बना देते हैं। अरे! यह क्या अनर्थ है! संत तुकाराम कहते हैं : **ब्रह्मभूत होते काया च कीर्तनीं**। भगवद्भजन, ध्यानयोग, भक्तिपूर्ण पूजन और गुरुप्रेम से ब्रह्मीभूत बननेवाली काया को तुम क्या पाठ पढ़ाते हो? मैंने कई ऐसे साधकों को भी देखा है जो इस शरीर की इतनी दुर्दशा कर देते हैं कि उनको आखिर प्राप्ति कुछ न कुछ रोग की ही होती है। प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! तुम्हारा चेतन शरीर चितिभगवती का मन्दिर है। उसको शुद्ध, न्यायोचित ब्रह्मचर्य, उत्तम सात्त्विक भोजन और सुन्दर, सादे तथा स्वच्छ कपड़ों द्वारा सन्मान से रखो।

हे सिद्धविद्यार्थियो! कोई इस शरीर को तुच्छ कहे तो कहने दो। लेकिन तुम मत भूलो कि इससे ही मोक्षप्राप्ति होती है। तुमको यदि अपने प्यारे परमात्मा को प्राप्त करना हो, अपने प्यारे गुरुदेव को प्राप्त करना हो, अपने अन्दर की प्रेम-कला को विकसित करना हो, तो प्रथम अपने से प्रेम करो। प्रेम से ही तुम परमात्मा तक जा सकते हो। तुम चाहते हो आत्मशांति और करते हो अपने शरीर से, शरीरसम्बन्धी करणों से घृणा! तुम आत्म-मस्ती चाहते हो और जिस शरीर के सहारे तुमको आत्म-मस्ती में डूबना है उससे इतनी शत्रुता बढ़ाते हो जो कि एक भारी शत्रु से की जाती है! तुम पहले अपने शरीर का विज्ञान कर लो। तुम यदि अपने अन्तर का पूरा विमर्श कर लोगे तो तुम समझोगे कि शरीर मिथ्या नहीं है, परन्तु एक महान विज्ञानमय सुन्दर मन्दिर है, जिससे प्रेम करने से तुम्हारा प्रेमस्रोत विकसित हो जायेगा। तुम अपने अन्तर की, ध्यान में प्रकट होनेवाली नित्य नवीन जो मस्ती है, वह स्वतन्त्र स्फुरणरूप में हृदय में रहने वाली है, ऐसा

समझो। तदनन्तर प्रेम को बढ़ाओ। उसका विकास करके अपने शरीर से बाहर बहने दो।

तुम्हारा प्रेम विषयपूर्ति या स्वार्थपूर्ति के लिये न हो। यदि ऐसा हुआ तो प्रेम ईश्वरीय नहीं होगा, वह मोह होगा। मोह तो मलिन है ही। वह मनुष्य को परमेश्वर तक नहीं पहुँचा सकता। प्रेम देने से बढ़ता है, लेने से नहीं। प्रेम में अपना-पराया बड़ी बाधा है। प्रेम सम होना चाहिये, अनोखा होना चाहिये। प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! प्रेम पाने के लिये तुमको प्रेम के निवासस्थान शरीर के प्रति विमर्शमय समझ होना ज़रूरी है। शरीर के तत्त्वों का, उनके कार्यों का बोध आवश्यक है। तुमको अपने शरीर से पवित्र, मैत्रीपूर्ण, सम्माननीय स्नेह होना ज़रूरी है। मानव शरीर बहुजन्म की, वहुकाल की, अनन्त प्रकार की यात्रा के सुख-दुःख का साथी है, मित्र है। *यह शरीर साधना का आश्रय, मोक्षनगर की सीढ़ी, अन्तरात्मा का एक उत्तम मन्दिर है।* इस शरीररूपी मन्दिर में प्रेमनाथ परमेश्वर अन्तर से अन्तर में, अन्तरतम होके निवास करता है। इसलिये मुक्तानन्द कहता है कि जिसको शरीर-मन्दिर का, अन्तरात्मा का बोध हो गया है वह समझदार विद्यार्थी शरीर के प्रति कुदृष्टि नहीं रखेगा, शरीर के प्रति दुष्टता–शत्रुतापूर्ण व्यवहार नहीं करेगा, शरीर को नीच कर्मों में रत नहीं करेगा, शरीर को भ्रष्ट कार्यों में, कुकर्मों में, अनाचार में कदापि नष्ट नहीं करेगा।

कुछ दूर देशों के लोग इस शरीर को क्लब की तरह, होटल की तरह, सिनेमा में देखे हुए दृश्यों की तरह केवल विलासभूमि समझकर इसकी पवित्रता का नाश करते हैं। इसकी शक्ति को क्षीण कर देते हैं। वे इस शरीर के प्रति न्यायोचित, सम्माननीय व्यवहार नहीं करते, बल्कि इसका अपमान करते हैं ऐसा मैं मानता हूँ।

दुनिया में कई ऐसे विक्षिप्त जन हैं जो अपने पवित्र, मित्रसम शरीर के प्रति दुर्व्यवहार से बरतते हैं, जो इसका हिंसापूर्वक अनियमित दमन करते हैं, जो इसको उत्पीड़ित किया करते हैं। वे अपने हृदय को, जिसमें कि प्रेम भरना चाहिये था, रुदन से भरते हैं। अपने शरीर को रातदिन पीड़ा देते रहते हैं। परमेश्वर से ऐसी प्रार्थना करते रहते हैं, 'हे भगवान! मुझे इस शरीर से मुक्त कर दो।' ऐसा ही चिन्तन दिनरात किया करते हैं। वस्तुतः तुम्हारा शरीर दोषयुक्त नहीं है।

शरीर पंच महाभूतों से बना है। वह तुम्हारे आत्मा का निवासस्थान है। सुख-दुःख की भोगभूमि है। आत्मा का सेवक है। शरीर सदा तुम्हारा आज्ञाकारी है। जहाँ भी ले चलो वहाँ जाने को तैयार है। तुम उसे नरकगामी बनाओ तो तुम्हारे कहने से नारकी बनेगा। तुम उसे स्वर्ग ले चलो तो राज़ी खुशी से स्वर्ग में चलेगा। हाथी घोड़े पर बिठाओ तो राज़ी, खीर-पूरी हलुवा खिलाओ तो राज़ी, मिरची-चटनी, रूखा-सूखा खिलाओ तो राज़ी। वह सब में राज़ी रहता है। नवरत्नों से सजाओ तो भी वाह वाह है। लंगोटी या फटे-पुराने कपड़ों में भी उसको उतना ही सन्तोष है। शरीर एक ऐसा सेवक है, ऐसा दास है, ऐसा मित्र है कि दुनियाँ में ऐसा और कोई नहीं है।

एक गुरु के पास एक सेवक था। उस गुरुभक्त सेवक से एक महाशय ने पूछा, "भाई! कहो कैसे हो? अपनी सुखदुःख की कुछ सुनाओ। तुम मठ में कैसे रहते हो? गर्मी और सर्दी में तुमको वहाँ कैसा लगता है?" सेवक बोला, "महाशय! मैं न तो गर्मी की गरमाई जानता हूँ और न ही सर्दी की सरदाई। मैं तो एक सेवक हूँ। केवल सेवा जानता हूँ। मेरा गुरु ही मेरी सर्दी, गर्मी, सुख या दुःख के विषय में जानता है।" वाह, कितनी बड़ी बात है! उसने श्रीगुरु की सेवा में अपने को पूर्ण खो दिया था, कुछ भी बचाके नहीं रखा था। प्रेम भी ऐसा ही होना चाहिये। तुम्हारा प्रेम सर्वत्र दोषरहित, भेदरहित, क्लेशरहित, अभिलाषारहित होना चाहिये। ऐसा करने से प्रेम तुमको परमात्मा तक पहुँचा देगा। तुमको परमात्मा ही बना देगा।

तुम्हारा शरीर जिन पंच महाभूतों से बना हुआ है, वे पंच महाभूत कैसे हैं यह ज़रा सोचो तो सही। यह भूमि कितनी सुन्दर है! कितने प्रकार के अन्नों का आश्रय और कितने प्रकार के जीवात्माओं की जननी है। क्या वह निर्मल जल, जिससे अन्न, फल, फूल, वृक्ष, लता को जीवन मिलता है! उसमें कितना प्यार भरा है जो सब का मैल धो डालता है और जो सब का मित्र है! क्या वह अग्नि, जो सभी भूतों के अनुरूप होकर, सभी में एक-सम मित्र की तरह रहती है! मानव में जठराग्नि बनकर अन्न को पचाती है; लकड़ी में, पाषाण में सर्वत्र उन उनके अनुरूप रहती है। निष्काम प्रेम की व्याप्ति का वह क्या सुन्दर नमूना है! फिर वायु को लो। वायु तो मानव का जीवन है, प्राण है। जड़-चेतन जगत में समानता से पूर्ण व्याप्त है।

इसीके आधार से सारे जगत की क्रियाशीलता है। यदि प्राण निकल जावे तो शरीर निकम्मा हो जाता है, प्रेतवत् हो जाता है। अब आकाश को लो। आकाश तो मानो निर्लेप आत्मा का पाठ पढ़ाता है। इसके अवकाश में सर्व व्यवहार सुरक्षित होते रहते हैं। ऐसे पंच भूतों से बना हुआ यह शरीर है। उसमें चैतन्य आत्मा पूर्ण व्याप्त है। ऐसे सुन्दर, निर्विकारी शरीर का प्रथम पूर्ण विमर्श करो, तदनन्तर उसमें परमात्मा की नाईं प्रेम करो।

ज़रा गौर करो। यदि किसी की आँखें दूसरे के धन को देखकर या रूप को देखकर लालच से भर जायें, क्रोध या लोभ या ईर्ष्या से जल जायें, तो आँखों पर कोध करके उसे कुछ चोट पहुँचाना या आँखें निकाल देना क्या पागलपन नहीं है? त्याग और वैराग्य के नाम से निर्दोष आँखों को दण्ड देना क्या योग्य है? वे तो बेचारी तुम्हारी निर्विकार मित्र हैं। आँखें न तो किसी से राग करती हैं न द्वेष। वे केवल रूप निहारने की सहायक मित्र बनती हैं। तुम अपनी इन्द्रियों का जिस प्रकार से भी उपयोग करो वे तुम्हारी सहायक ही हैं। उनसे जो कर्म कराओ वे वही कर्म करने में राज़ी हो जाती हैं। तुम इस शरीर में प्रेमयोगी बनो तो वह राज़ी, क्रोधी बनो तो राज़ी। तुम जो कुछ भी बनना चाहोगे, यह शरीर वैसा ही बनेगा। तुम जिस भाव का बनाना चाहते हो वैसा ही वह बन जाता है। इसलिये तुम अपना शरीर-विमर्श करो। तदनन्तर इसकी आँखों में स्थित सूर्य-चन्द्रमा से, सर्वेन्द्रियों के देवताओं से, हस्त-पादादि अवयवों से निष्काम प्रेम करो। फिर सर्वेन्द्रियों के गुणों में बसनेवाले गुणातीत परमेश्वर को जानकर उसकी पूजा करो। वह पूजा जड़ पूजा न हो; केवल प्रेम, अत्यन्त प्रेम, कामनारहित प्रेम से भरी हो। संयम अवश्य होना चाहिये। इन्द्रिय-निग्रह अवश्य होना चाहिये। मात्र त्याग के नाम से, संयम के नाम से शरीर को सताना नहीं चाहिये, न तो उसे रोगग्रस्त बनाना चाहिये।

मानव की इन्द्रियों में, स्नायुओं में, मस्तक में बहुत प्रकार की शक्तियाँ हैं। तुम उनका परिचय लेना शुरू करो। शक्तियाँ तुम्हारे विरुद्ध नहीं जा सकतीं। न वे तुम्हारे लिये शुभ हैं, न अशुभ। न अच्छी हैं, न बुरी। वे तो बिल्कुल तटस्थ हैं। हमारी मानसिक दशा, अन्तर्वृत्ति उनसे जैसा कार्य करवाये वैसा वे कर देती हैं। मानव की अन्तरशक्ति परमात्मा की ही शक्ति है। वही अन्तरशक्ति समयानुसार कामाकार, क्रोधाकार, मोहाकार,

लोभाकार बनके अपने कार्य के लिये किसी न किसी इन्द्रिय को वाहन बनाकर क्रियाशील हो जाती है। इसलिये मुक्तानन्द कहता है : "तुम ध्यान करो। प्रेम को चेताओ।" सर्वेन्द्रियों में प्रेम-स्फुरण होने से सहज त्याग, सहज योग, सहज ज्ञान उदित होगा। तुम्हारा मन अपने में प्रेम न देखते हुए दूसरे में देखता है, इन्द्रियों में ढूँढ़ता है, अन्य विषयों में भटकता है। *यदि मनुष्य खुद को खुदा समझकर प्रेम कर ले तो फिर वह बाहर क्यों जावे? और बाहर है भी क्या? प्रेम ध्यान के भीतर है।* भोगी भोग भोगते-भोगते शरीर को सताकर, निकम्मा बनाकर, अन्त में शरीर से घृणा प्रकट करके दुःखी होता है। त्यागी त्याग में शरीर को अनियमितता से जलाकर, शरीर के प्रति शत्रुता बढ़ाकर उसे सताता है, उसे निकम्मा बनाता है और चाहता है मोक्षसुख! *तुमको जिस शरीररूपी रथ में मोक्षयात्रा करनी है, उसे समझो। प्रथम अपने शरीर को सुव्यवस्थित रखना सीखो। तदनन्तर प्रेम द्वारा उसे सन्मान से देखो।*

तुम्हारा शरीर परमेश्वर की एक महान अद्भुत कला है। उसमें रहस्यमय विज्ञान है। शरीर में ज्ञान-भंडार की खान है। तुमको परमात्मा के दरबार में, वैकुण्ठ की यात्रा को, कैलास के दर्शन को अथवा निर्विकल्प नगर की सैर को इसी शरीर से तो जाना है! शरीर छोड़के तुम करोगे क्या? अपना पता इस शरीर के ही अन्दर ध्यान द्वारा लगता है। ज्ञान द्वारा इस शरीर में ही अपने को जानते हैं। ऐसा अनमोल, दिव्य शरीर पाकर शरीरातीत बनने की बजाय सतत शरीर से लड़ते रहना, सच कहो मुक्तानन्द! यह पागलपन नहीं है क्या? उससे प्रेम करने के बदले द्वेष करना कौन-सा त्याग है? परमात्मा की अनुकम्पारूप ऐसा शरीर पाकर सहस्रार में बिखरी हुई अनन्त प्रेम-किरणों की मस्ती में मस्त होके प्रेमरसपान करके, अन्दर बाहर प्रेमी बनने की बजाय कुछ जहरीले, विषमय, गन्दे इन्द्रियरसों के अपेय पान आदि में जो मानव अपने शरीर की आहुति देता है, वह पागलों का महाराजा नहीं है क्या? प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! शरीर के रस को सुखाओ मत। मात्र प्रेम से रस को बढ़ाओ। वही परमात्मा में तुम्हारा समावेश करता है।

मैंने एक महात्मा की किताब में एक ज्ञाननिष्ठ, ध्यानरत महापुरुष की निर्वाण समय की कुछ बात पढ़ी थी जो बहुत ही अच्छी, सच्ची,

अनुभवयुक्त है। महात्मा जी को कालज्ञान द्वारा अपने अन्त समय का पता लग गया था। जाने के समय वे सभी से मिले और सभी से उन्होंने आशीर्वाद मांगा, सभी से क्षमा मांगी। सभी उपस्थित जनों को धन्यवाद दिया। तदनन्तर सब दिशाओं को, पंचमहाभूतों को और विद्यादाता गुरु को नमस्कार करके, जिस शरीर से उन्होंने परमार्थ-यात्रा पूरी की, जिस शरीर में परमात्मा को देखा, जो शरीर परमात्मा का चलता, फिरता, बोलता मन्दिर है, जो शरीर परमात्मा से प्राप्त है, उस शरीर को धन्यवाद दिया, उसका सन्मान किया। वह संत महामुनि हाथ जोड़कर अपने प्यारे शरीर से कहने लगा, 'हे मेरे प्यारे शरीर! तेरे ही पूर्ण अनुग्रह से, तेरी सहायता से मैं परमात्मा तक पहुँच पाया हूँ। तुझे मैं धन्यवाद देता हूँ। मैंने तुझे न जाने कितना पीड़ित किया होगा। कितना त्रास दिया होगा। मैंने तुझे बहुत यातना-पीड़ा दी है। परंतु तूने हरदम मेरी सहायता की। मैं तेरा सच्चा ऋणी हूँ। तुझसे मैंने ध्यान की उत्तम गति पायी है। हे मेरे प्यारे शरीर! तुझसे ही मैंने उत्तम कुशलतापूर्ण मति पायी है। तुझसे ही मैंने ध्यान द्वारा निर्विकल्प स्थिति प्राप्त की है और परमोत्कृष्ट पदवी पायी है। इसलिये, प्यारे मित्र, मैं तेरा सदा ऋणी हूँ। मैंने जाने-अनजाने तेरे प्रति कितने अपराध किये होंगे, परंतु तूने तो सदा उपकार ही किया, सहायता ही की। अपकार के बदले में सहायक बनके संगी साथी बना। तेरे बिना न मैं परमात्मा तक पहुँच सकता था न तो उत्तम साधना कर सकता था।' इस प्रकार शरीर को संबोधित करके वह महात्मा ब्रह्मलीन हो गया।

प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! तुम अपने शरीर के प्रति ऐसी ही उत्तम दृष्टि रखो। ऐसा ही पूज्य सन्मानयुक्त प्रेम रखो। उस महात्मा की पुकार 'हे मेरे प्यारे शरीर!' ऐसे प्रेमभरे शब्द सुनते ही, पढ़ते ही मेरे हृदय में एक अलौकिक आनन्द उमड़ पड़ता है। तुम लोग भी यदि इस बोधवचन को मेरी तरह सुनोगे तो परमानन्द से भर जाने में क्या देर लगेगी? *मैं अपने प्यारे सिद्धविद्यार्थियों से पूछना चाहता हूँ कि क्या तुमने कभी अपने शरीर को ऐसे निष्काम प्रेम से निहारा है? क्या कभी इसको शुभ आत्म-चिन्तन से, ध्यान से, स्तोत्र-पाठ से, प्राणापान में 'सोऽहम्' की जपमाला फिराकर प्यार किया है? क्या इसको व्रत से, नियम से, सुन्दर सात्त्विक यौगिक रस, सुख-आयुर्वर्धक आहार का भोग लगाकर धन्यवाद दिया है? यदि नहीं,*

तो यह कितनी कृतघ्नता है ! कितना अशिष्टाचार है ! अपने प्यारे मित्र के साथ कितना दुर्व्यवहार है !

प्यारे मुमुक्षुओ ! शरीर का विमर्श करो। उसका पूर्ण बोध पाओ। उससे निष्काम मैत्री बढ़ाओ। समयानुसार, नियमानुसार शरीर की देखभाल करो। जिसको शरीर का बोध हो गया है, वह उसको योगपूर्ण, प्रेमपूर्ण तथा ध्यानपूर्ण बना देता है। तुम्हारा संकल्पविकल्पात्मक मन शरीर को जहाँ तहाँ ले जाता है। संकल्प के पीछे है शरीर। संकल्प है मन के पीछे। मन के कहने से शरीर, इन्द्रियादि व्यवहार करते हैं। तुम मन को मनाने के लिये शरीरेन्द्रियों को दण्ड देते हो, सो अच्छा नहीं। राम जी पर क्रोध आये और दण्ड दें कृष्ण जी को, तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? यह मैं भी मानता हूँ कि मन चंचल है। विकारी भी है। परेशान भी करता है। मन को ही काबू में लाने के लिये सारी साधनाएँ हैं। मन के नियमन के लिये ही योगीजन योग की अनेक प्रक्रियाएँ सीखते हैं; फिर भी गर्व, अहंकार, आराम के ही पुजारी बनते हैं। न प्रेम पाते हैं, न हृदय में खुशी होती है, न अन्तर में कुछ समाधान ही है। *सब कोई ऐसा कहते हैं कि मन ठहरता ही नहीं है। मैं भी यही कहता हूँ। परन्तु मन को ठहरने लायक स्थान तुमने बतलाया ही कब है ? तुम योग्य स्थान पर मन को ठहराओ तो मन वहीं मस्त बनेगा। इधर उधर नहीं जायेगा।*

एक दिन की बात है। एक छोटे गाँव में एक स्वामी महाराज रहते थे। छोटी-सी सादी कुटी में अपनी गरीबी में अमीर बनकर रहा करते थे। एक बार पास के बड़े शहर का नगरसेठ कुटी पे दर्शन को गया। उस समय महाराज वहाँ नहीं थे। स्वामीजी के शिष्य ने नगरपति को बैठने को कहा। वह बैठा नहीं। वृक्ष के नीचे इधर उधर टहलने लगा। वह शिष्य सेठ को ऐसा करते देखकर कुछ विस्मित हो गया। इतने में स्वामीजी आ गये। शिष्य ने सारा वृत्तांत आश्चर्यभरी वाणी में कह सुनाया। स्वामीजी बोले, "भाई, हम ठहरे फकीर लोग ! सेठ को बैठने योग्य जगह यहाँ नहीं है। इसीलिये वह चंचल होके टहलता था।" सो बात ऐसी ही है। मन को भी लायक जगह मिल जाने से वह टहलना छोड़ देगा।

प्यारे भाइयो ! तुम्हारी भी ऐसी गति है। तुम्हारा मन कुछ अच्छी वस्तु को ही पाने की सदा इच्छा करता है। हे मन ! अपनी खुशी के लिये,

अपनी गरज़ के लिये, अपनी शांति के लिये तू क्या क्या नहीं करता रहता है? फिर भी उदास, बेचैन रहता है। ज्ञान में ढूँढ़-ढूँढ़ के उदास बनता है। योग के कुछ अंग सिद्ध करके कुछ काल के लिये फूल जाता है, फिर गिर जाता है। विषयों में तू इतना ढूँढ़ता, फिर भी प्रेम नहीं मिलता। विषयों का पूर्ण कीड़ा बनता है फिर भी तृप्ति नहीं। स्थिरता नहीं। अशांति के दुःस्वप्न ही देखने को मिलते हैं।

अब एक नयी सीख सीखो। वह है सभी से कामनारहित प्रेम, सभी से अनोखा प्रेम, सभी से असीम प्रेम करना। जब कभी किसीसे प्रेम नहीं किया तो शांति कहाँ से पाओगे? भाई, तुम शुद्ध, निर्मल, निरपेक्ष अवश्य रहो। केवल भेदरूपी द्वेष न करो। भगवान की सृष्टि में तो ऐसा कुछ भी नहीं जो तुमसे द्वेष करे। परमेश्वर की रचना में ऐसा कुछ भी नहीं है जो तुम्हारा विरोध करने के लिये खड़ा हो। तुमको परमात्मा की रची हुई वस्तुओं को अपने अनुकूल बनाना सीखना चाहिये। तुम अपने अन्दर एक बार गहराई में उतरो। वहाँ यदि एक बार भी तुम्हारा मन चला जावे तो वहीं ठहर जावेगा। तुम अपने मन को शत्रु मत समझो। मन की महान शक्ति है। परन्तु तुम उसे जानो तब ही कुछ अर्थ सिद्ध होगा। मन की ही अल्प-स्वल्प शक्ति से कुछ महात्मा अनेक सिद्धियाँ करके दिखलाते हैं। यदि तुम मन को पूरा जान सको तो देखोगे कि वह एक अच्छा कार्यकर्ता है। मन एक महान सृजनात्मक शक्ति है।

मन की चंचलता पर विमर्श करो। मन की अस्थिरता ही तो तुमको सिद्धयोग के महान ज्ञान के प्रति आकर्षित करती है। मन की चंचलता ही तो तुमको गणेशपुरी लायी है। तुम मन को जगत के कितने भी ऊँचे पदार्थ दिखलाओ, उनमें वह पूर्ण रमेगा नहीं। आज रूप में तो कल रस में, तदनन्तर गन्ध में, फिर शब्द में या और कहीं। यह जो मन की चंचलता और चपलता है वह एक ऊँचे और अच्छे स्थान की खोज करती है। यदि मन चंचल चपल न होता तो क्रोधी क्रोध पर ही बैठ जाता, लोभी लोभ पर ही दृढ़ हो जाता, मोही मोह में तन्मय हो जाता, कामी कामाकार में ही सतत अपना आसन स्थिर कर लेता। धनी धन में ही, कलाकार कला में ही समाता। परन्तु ऐसा नहीं होता है। सर्वत्र एक ही मन्त्र का 'जाप सुनायी देता है। वह यह है कि शांति धन में नहीं, कला में नहीं, रूप

में नहीं, भोगों में नहीं, किसी में भी नहीं। इसीलिये तुम्हारा मन इधर उधर बहुत भटकता है, दुःखी भी रहता है। मन की चंचलता के कारण तुम त्रस्त हो जाते हो।

मुक्तानन्द कहता है : प्यारे विद्यार्थियो ! मन असली प्रेम चाहता है। पूर्ण समता चाहता है। परमात्मा के साथ एकीकरण चाहता है। दिलचस्पी चाहता है। मन इसी कारण इतना चंचल है। वह अशांत स्थान को छोड़ के आगे आगे जाता है। जैसे भृंग रसपान के लिये या मधुमक्खी मधु संग्रह करने के लिये एक पुष्प से दूसरे में फिरती रहती है, वैसा ही मन भी कुछ कारण से घूमता रहता है। *याद रखो, मन की चंचलता के पीछे एक रहस्यमय विमर्श है। वह यह है कि मन पूर्ण विश्रान्ति चाहता है। जब तक मन आत्मध्यान में पूर्ण समरस नहीं बनता, तब तक चंचल और चपल रहता है।* यदि मन कुण्डलिनी के प्रसाद में ध्यानमग्न हो जाये, ज्योति में ज्योतिर्मय बन जाये तो चंचलता को त्यागकर निश्चल हो जाता है। याद रखो कि मन आत्म-विश्रान्ति बिना कभी भी तुमको सुख से नहीं रहने देगा। मन जब ध्यान में, तन्मय भाव में, आत्मा में पूर्ण स्थिर हो जाता है तभी तुम परमानन्द की मूर्ति बन जाते हो। तुम्हारी दिशा बदल जाती है, कायापलट हो जाता है। तुम्हारे अन्दर शांति का निर्मल स्रोत बहने लगता है।

परमात्मा को छोड़कर मन और कहीं भी पूर्ण विश्रान्ति नहीं पा सकता। जहाँ परमात्मा मिल जाये वहाँ सब कुछ मिल जाता है। वहीं अपना मन पूर्ण स्थिर हो जाता है। फिर तुम्हारे हिलाने से भी वह नहीं हिलेगा। इस भांति देखें तो मन की चंचलता ने ही, जहाँ तहाँ अल्प स्थिरता में संतुष्ट न होके, सत्य और शांति की खोज करवायी है। परमात्मा के बिना और कहीं भी मन स्थिरता से नहीं बैठता, उसकी इस वृत्ति ने ही शांति का पता लगाया। यह तो मन का महान उपकार समझना चाहिये। मन की चंचलता बड़ी सहायक है, जिसने ध्यानयोग में तुम्हारी रति बढ़ायी। मन की चंचलता ने ही तुम लोगों को सिद्धकृपापात्र बनाया। तुम लोगों को मन की उपकारयुक्त कृपा का हार्दिक स्वागत करना चाहिये।

प्यारे साधकजनो ! एक मन्त्रतुल्य बात को याद रखो जो मुक्तानन्द का वचन है और पूर्ण अनुभवयुक्त भी है। 'मेरा पंथ बड़ा है,' ऐसा कोई

कितने भी गर्व से क्यों न कहे, यदि वहाँ मन विश्रान्ति नहीं पाता है तो वह परमात्मा का स्थान नहीं है। तुम किसी मन्त्र की चाहे कितनी भी प्रशंसा सुनो—कोई कहे कि यह एक महान सत्य मन्त्र है—यदि मन वहाँ पूर्ण राज़ी नहीं होता तो वह भी परमात्मा का स्थान नहीं है। कितना भी उच्च सम्प्रदाय हो, महान गुरु हो, वह बड़े चमत्कार करता हो, आचमन करे, पानी पिये, विभूति लगाये, देवी-देवता पूजे; परन्तु यदि वहाँ मन विश्रान्ति नहीं पाये तो वह भी परमात्मा का स्थान नहीं है। घड़ी दो घड़ी मन वहाँ बैठे, तदनन्तर वहाँ से उठकर क्षुभित होकर फिरता रहे तो इसका अर्थ है उसे वहाँ शांति नहीं मिली। मन जहाँ से भागते रहता है वहाँ तुम उसे कितना भी रोको वह फिर से भागेगा। सुख को ढूँढ़ता हुआ मन जहाँ तहाँ भागता रहता है। इसलिये तुम मन को प्रेम में भिगा दो। आत्मप्रेम में तन्मय कर दो। जहाँ जिस किसीमें शांति का आभासमात्र है वहाँ मन थोड़ा-सा ठहरकर फिर अधिक चंचल होकर आगे भागेगा। जहाँ पूर्ण सुख मिला, वहाँ मन अपनी भागदौड़ को छोड़कर विश्रान्ति पायेगा।

तुम मन पर नाना प्रकार की जबरदस्ती करना छोड़कर प्रेम से ध्यान द्वारा वहाँ ले चलो जहाँ आत्मानन्द की सरिता बहती है। तुम अपने मन को उस यात्राको ले जाओ जहाँ आत्मप्रेम की दिव्य छाया है, जहाँ सच्चे सुख का तेज झलकता है। तुम अपने परमानन्दमय आत्मा की ओर ज़रा ध्यान तो लगाओ, मन दौड़ दौड़ कर वहाँ जाकर अपना नम्बर पहले लगा देगा। तुम अपने मन को बलात्कार से, कुछ हठ से, कुछ तप से शांत करने जाओगे तो वह उल्टा अधिकाधिक क्षुभित और विरोधी बनता रहेगा। तुम मन से भी प्रेम करो। पहले तुम मन को मन मत समझो। मनरूप में चिति भगवती ही स्फुर रही है ऐसा समझकर, मन के प्रति शत्रुता को त्यागकर, उससे पूर्ण मित्रता जोड़कर कहो, 'तुम अन्तरात्मा की ओर चलो।' ऐसा समझना ही तो ध्यान है। *मन को चितिमय समझकर उसको प्रेममय बना देने से मन जीता जाता है। मन को साधारण समझने से, उससे द्वेष करने से मन हमको जीत लेता है।* मन को पूर्ण जीतने के लिये तुमको उससे प्रेम ही करना है। प्रेम ही विजय का मन्त्र है। प्रेम ही परमात्मा को खींचने वाला लोहचुम्बक है। प्रेम ही मन को मस्त बनाने का महान यज्ञ है। प्रेम में महान शक्ति है। प्रेम ही असाध्य को साध्य कर

पाता है। खण्डित को अखण्डित बनाने की सामर्थ्य प्रेम में ही है। तुम अपने को दीन-हीन समझना छोड़कर प्रेम से भर दो। तदनन्तर देखोगे कि तुम महान हो।

प्यारे ध्यानयोगियो! तुम्हारे अन्दर क्या है, क्या नहीं है, यह तुम ध्यान द्वारा ही जान सकते हो। ध्यान के बिना तुम दरिद्री हो; ध्यान से ही तुम अमीर हो। इसलिये तुम पहले अपने से प्रेम करके, प्रेम से ध्यान करो।

एक वन में एक सिद्ध महात्मा रहता था। उससे एक मुमुक्षु ने जाकर विनती की, "महाराज! मैं परमात्मा को देखना चाहता हूँ। मैं क्या साधना करूँ?"

महाराज ने उसे विमर्श करके देखा और पूछा, "तुमको किस से प्रेम है?"

साधक ने कहा, "प्रेम तो परमात्मा के रास्ते में विघ्न है।"

महात्मा ने कहा, "प्रेम विघ्न नहीं। प्रेम में काम विघ्न है, मोह विघ्न है। प्रेम तो परमात्मा का रूप है। हम जो अपने से, अपने स्वजनों से प्रेम करते हैं उसी प्रेम को सर्वत्र फैलाओ। वह प्रेम ही राम की ओर ले जाता है। इसलिये सभी से प्रेम करो।"

तुम अपने अंग-प्रत्यंग के प्रति क्रोध मत करो। यदि करना हो तो क्रोध के प्रति ही क्रोध करो, शरीर के प्रति नहीं। जगत के भूले जनों की मन-मानी बातें सुनकर तुम अपने साथी, अपने मित्र शरीर को सताओ मत। न ही उसके साथ ऐसा व्यवहार करो जिसमें अति निष्ठुरता हो या पाखंड हो। प्यारे मुमुक्षुओ! इस शरीर में सर्व कर्मों का फल पाया जाता है। सर्व लोकों की तपस्या की जाती है। जो कोई भी, किसी प्रकार के आदर्श पुरुष हुए हैं वे इस शरीर में ही हुए हैं, इस शरीर का आश्रय लेके हुए हैं। बड़े बड़े ऋषि-मुनि, राजा, वीर, कवि, नट, चित्रकार, मल्ल, योद्धा, सती, ईसा मसीह, महात्मा बुद्ध आदि अनेक विभूतियाँ इसी शरीर के आश्रय से ही हुई हैं। ऐसे शरीर को निर्मलता से रखो।

श्रमहीन शरीर कुछ काम का नहीं। नियमित श्रम, आसन, प्राणायाम, ध्यान से शरीर को नियमबद्ध बनाओ। शरीर को देवमन्दिर की भांति सन्मान से रखो। युक्त आहार-विहार के पुजारी बनो। **शरीर में एक ही कामना रखो-प्रेम की।** *शरीर में एक ही प्राप्ति की इच्छा रखो—ध्यान द्वारा अन्तरज्योति के दर्शन की। शरीर और इन्द्रियों में इतनी ही कामना, आशा रखो*

कि वे न्यायोचित, संयमशील बनकर अन्तरप्रेम को प्रवाहित करें। प्रेम से सब कुछ सम्भव है। प्रेमी प्रेम द्वारा भगवान को देख लेता है, परम दुर्लभ भगवान को प्रेम से सहज में पा लेता है। अन्य साधनाएँ इतनी सरल नहीं हैं। एक प्रेम-साधना ही सब से सरल है, क्योंकि तुमको प्रेम का परिचय है। तुमको प्रेम किसी साधन द्वारा बाहर से नहीं लाना पड़ेगा, क्योंकि प्रेम का स्रोत तुम्हारे अन्दर है। तुमको इस प्रेम को विशाल रूप में फैलाकर पूर्ण प्रेममय बनना है। प्रेम देते रहो। वह पूर्ण विकसित होगा। जितना जितना प्रेम देते रहोगे उतना उतना वह बढ़ेगा। जो प्रेम को फैलाता है, उसका सर्वत्र प्रेम ही स्वागत करता है।

हमने ऐसे बहुत प्रेमी देखे हैं जो प्रेम के नाम में पूरा द्वेष ही करते हैं। प्रेम में किसी से घृणा के लिये कोई स्थान नहीं। प्रेम में उच्च-नीच भावना नहीं होनी चाहिये। कुछ ऐसे भी निष्ठुर, क्रोधी प्रेमी देखे हैं जो दावा करते हैं—'हम वैष्णव हैं। हम शिवालय नहीं जाते!' यदि प्रेम में ऐसा क्रोध हो तो वह प्रेम काहे का? वह तो निरी निष्ठुरता है। जाति-जाति का भेद, व्यक्ति-व्यक्ति का भेद, पंथ-पंथ का भेद—ये सब प्रेम में कभी नहीं हो सकते। संकोच से ही भेद खड़े होते हैं, प्रेम से नहीं। प्रेम से तो अभेदरूप तन्मयता आती है।

तुम्हारे अन्दर नये नये अनुभवों के रूप में प्रेम विद्यमान है। तुम गाढ़ी निद्रा के समाधान का विमर्श करो। देखो वह अतीन्द्रिय तृप्ति कहाँ से आती है? जब मित्र से प्रथम मिलते हो तो तृप्ति कहाँ से आती है? आँखों से रूपदर्शनजन्य तृप्ति कहाँ से आती है? कभी कभी कुछ मानसिक सन्तोष की अवस्था में जो तृप्ति अपने आप अन्तर में उदित होती है वह किधर से आयी? इन सब विषयों का विमर्श करो तो तुमको पता लगेगा कि तुम्हारे अन्दर एक महान तृप्ति छिपी हुई है। वही तृप्ति परमानन्द है। उसका ही नाम प्रेम है। इसलिये प्रेम के पुजारी बनो। दृष्टि के द्रष्टा को प्रेम के ही दृश्य दिखलाओ। प्रेमभरा व्यवहार करो। गाय, कुत्ता, वृक्ष, फल-फूल में तुम सर्वाधारभूत प्रेम बढ़ाते रहो।

प्रेम कायापलट करनेवाली एक महान अणुशक्ति है। हृदय को शुष्क मत बनाओ। जिस किसी के मूढ़तायुक्त वचन सुनकर अपने को प्रेमहीन मत समझो। मानव अज्ञान द्वारा अपने प्रति एक बड़ा अन्याय करता है कि

वह खुद को पापी, साधारण समझके औरों को भी ऐसा ही बनाने में लग जाता है। मैं एक बार तीर्थस्नान के लिये त्रिवेणी संगम गया था। वहाँ बैठते ही एक पुरोहित मेरे पास आया और मुझे तीर्थ में संकल्प करने को कहा। मेरे 'ना' कहने पर भी वह नहीं माना। फिर आग्रह करने लगा कि 'संकल्प करो'। वह फूलपान ले आया और मुझे कहने लगा, "स्वामी जी! बोलो, 'पापोऽहं'।" तब मैं कह उठा, "पापी तुम हो, मैं नहीं। क्योंकि तीर्थस्थान में भी तुम लोगों ने यात्रियों को मूर्ख बनाना नहीं छोड़ा। मैं तो बोलूँगा 'पुण्योऽहम्', 'पुण्यकर्माऽहम्', 'संकल्परहितोऽहम्'।" यह सुनकर वह चला गया। इस प्रकार असत् संग से मानव अपने को रसहीन, मिथ्या, दु:खी, दरिद्री, नश्वर इत्यादि समझने लगता है और वह प्रेम को विकसित नहीं कर पाता।

प्यारे मुमुक्षुओ! प्रेमहीन पाण्डित्य कुछ काम का नहीं। प्रेमहीन योग भी अर्थहीन है। प्रेम बिना कोई भी साधन तुमको आत्मानन्द तक नहीं पहुँचा सकता। खुदी में पूर्ण प्रेम बढ़ाकर दूसरों में उस प्रेम को फैलाओ। प्रेम चाहरहित, कामनारहित, रंगरहित होना चाहिये। प्रेम ही मोह-वैरी को जीतने की कुंजी है। बहुत शास्त्र पढ़ने की जरूरत नहीं है, कारण सर्वभाव परमात्मा के हैं। यहाँ ज्ञान का प्रश्न नहीं, प्रेम का प्रश्न है। त्याग-ग्रहण के वादों में फँसकर आयु मत खोओ। त्याग-ग्रहण की बहुत कीमत नहीं। केवल पूर्ण आत्मबोध की कीमत है। अहंकार से भरा योग, पाण्डित्य, ज्ञान, सब प्रेम के पूर्ण विरुद्ध हैं। तुम अहंकार को पूर्ण त्याग दो। वह त्याग केवल प्रेम से ही सम्भव है। हृदय में जब जब वासनारहित प्रेम का उदय होता है तब जीवन में परम शांति की अनुभूति होती है। चित्त का निरोध करने के बदले प्रेमपूर्ण बनाओ। फिर देखो कि क्या मस्ती है अपने भीतर!

चित्त को जुल्म से, प्राणापान के निरोध से, तपाने के बदले प्रेम से फुसलाकर आत्मा की ओर ले जाओ। तुम्हारे सर्वेन्द्रियों के सर्व विषय परमात्मामय होने चाहिये। संत तुकाराम का कहना है कि जिसका एकमात्र विषय नारायण हो गया है वह जगत को प्रेममय देखता है।

तुम प्रेममय हो। प्रेममयी तुम्हारी साधना है। प्रेम ही तुम्हारी प्राप्ति है। प्रेम ही परमात्मा है। प्रेम ही जगत है। जगत के रूप में परमेश्वर ही प्रकट हुआ है। जगत कुछ अन्य पदार्थ नहीं, वह पारमेश्वरी शक्ति का ही

स्फुरण मात्र है। प्रेम ईश्वर-प्राप्ति का पूर्ण साधन है। प्रेम बिना उसकी अप्राप्ति है। प्रेम अन्तर की एक महान अनुभूति है। तुम अन्तर में खोज करो। वहाँ तुम विद्युत् के वेग के सदृश चपलता से प्रसरण होनेवाली एक दिव्य शक्ति की—रस में, रक्त में, प्राणों में, सर्वांगों में व्याप्ति देखोगे। उसका अनुभव होते ही तुमको प्रेम का पता लगेगा।

तुम्हारे अन्तर का कार्य सतत गतिशील रहता है। कभी भी नहीं रुकता। तुम्हारी नाड़ियों में, स्नायुओं में, रक्त में, हर स्थान में अन्तरकार्य चालू रहता है। तुमको भी अपने घर में, मठ में या जहाँ भी तुम हो वहाँ अपने अपने कर्म प्रेम से, उत्साह से, दृढ़ता से करने चाहिये।

मानव को सर्वत्र व्यापक, सर्वमय अपने आत्मा से निष्ठावंत प्रेम करना चाहिये। प्रेम मानव को सुख का सागर, शांति का विग्रह, ज्ञान का मन्दिर बनाता है। प्रेम मानव का आत्मरूप है। प्रेम मानव का सौन्दर्य है। प्रेम मानव की मानवता की महिमा है। *अतएव मुक्तानन्द कहता है : प्रथम तुम अपने से प्रेम करो, तदनन्तर अड़ोस पड़ोस से; तदनन्तर सारे जगत से। यही भक्ति है। इससे ही ज्ञानानन्द की प्राप्ति है। इससे ही योगानन्द की तृप्ति है। प्रेम में सर्व साधन अपने आप आ जाते हैं। प्रेम ही भगवान नित्यानन्द है। सर्व साधनों का फल जो परमानन्द है वही श्रीगुरुकृपा से पूजा जानेवाला सद्‌गुरु नित्यानन्द है।*

६

सर्वसिद्धि का मूल : गुरुप्रसन्नता

सिद्धविद्यार्थी यह न भूलें कि मानव केवल अपने पुरुषार्थ से ही परमार्थ में पूर्णता नहीं पा सकता। व्यवहार में भी देखा जाता है कि मनुष्य पुरुषार्थ के साथ साथ अन्य जनों की सलाह लेता रहता है। जो स्वयं से नहीं हो पाता, वह दूसरे से सीख लेता है। शक्तिपात अथवा क्रियायोग में, सिद्धविद्या अथवा कुण्डलिनी महायोग में गुरुकृपा ही तरणोपाय है। इस मार्ग में गुरु के मार्गदर्शन बिना पूर्णता पाना प्रायः असम्भव है।

आधुनिक समय के स्वतन्त्रवाद और स्वच्छन्दवाद सिद्धविद्यार्थियों के लिये बड़े विघ्न हैं। सिद्धमार्ग का विद्यार्थी यदि 'स्वतन्त्र' शब्द के अर्थ का अनर्थ करके, गुरु-आज्ञापालन में आलस्य, प्रमाद, अल्प श्रद्धा, गुरु में दोषदर्शन आदि करता है तो उसकी शक्ति कालान्तर में नष्ट हो जाती है। जब कोई राजा आता है तो अपने सभी ऐश्वर्य के साथ आता है और जिस घर में रहता है उसको सम्पन्न, सुशोभित बनाता है। घर के चारों तरफ आनन्द, सौन्दर्य, महिमा बिखेर देता है और जाते समय सभी ऐश्वर्य को साथ में लेकर चला जाता है। राजा के चले जाने पर घर तेजहीन, सौन्दर्यहीन बन जाता है। ठीक वैसे ही सिद्धविद्यार्थियों में क्रियात्मक रूप से रहनेवाली शक्ति जिन गुरु से प्राप्त है, प्राप्ति के बाद जिनके शासन से वह शासित होकर उनमें कार्य करती है, उन सद्‌गुरु के विषय में यदि वे सन्देह, दोषदृष्टि, संकल्प-विकल्प करें तो वह सर्वज्ञ शक्ति क्या उन सिद्धविद्यार्थियों में प्रसन्नता से रहेगी? इस सिद्धमार्ग में, कुण्डलिनी महायोग में '**गुरुकृपा हि केवलम्**' और '**गुरोराज्ञा हि केवलम्**' है।

मुक्तानन्द सत्य कहता है कि सब विद्याओं में, मोक्षधर्म में और स्वस्वरूपविमर्श में श्रीगुरुकृपा ही प्रधान है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं— तुम्हारा पुरुषार्थ, तुम्हारा जप, तप, योग, साधन सब के सब तभी

फलरूप होंगे ***जब श्रीगुरुकृपा से लब्धिकाल का उदय होगा।*** साधकजन याद रखें कि वे अपने गुरु को जितना महान, श्रेष्ठ, पूर्ण सिद्ध, सामर्थ्यवान समझते हैं, श्रीगुरु उतनी ही सामर्थ्य लेकर उनके साथ खड़े रहते हैं। तुम्हारे साधन की न्यूनाधिकता, तुम्हारी शक्ति का संकोच-विकास, तुम्हारी साधन-समाप्ति का समय, सभी तुम्हारी भावना पर निर्भर है। वस्तुतः तुम में प्रत्यक्ष ईश्वर की नाईं गुरु के प्रति जितना प्रबल, जितना तीव्र भाव होगा उतना शीघ्र तुम सब कुछ पा सकोगे। उसमें देर नहीं लगेगी। इस विषय में एक छोटी-सी, सत्य घटना कहता हूँ जो साधक की श्रद्धा और भक्ति को बढ़ाकर उसकी इष्टप्राप्ति में सहायक बन सकती है।

हाल ही के मेरे महाबलेश्वर के निवासकाल में आई.आई.टी. का एक विद्यार्थी मुझे मिलने आया था। वह चार-पाँच दिन में ही कृपा पाके साधन करके, ध्यान-सम्पन्न बनके अपने घर जानेको निकला। बम्बई जाते समय बारिश की वजह उसकी मोटर बहुत 'लेट' हो गयी। पहुँचते पहुँचते मध्यरात्रि हो गयी। घर पर उसकी माताजी बड़ी व्याकुलता से राह देख रही थी। सोचती कि अभी मोटर क्यों नहीं आयी ? रात्रि के दस बज गये। तब माँने अपने प्यारे लड़के की राह देखना छोड़ दिया और वह अपने गुरुदेव से प्रार्थना करने लग गयी। प्रार्थना करते करते गुरुभाव में तन्मय हो गयी। उस समय उसके गुरु सामने प्रकट होकर बोले, "अम्मा, चिन्ता मत करो। तुम्हारा लड़का बारह बज के पच्चीस मिनट पर पहुँच जायेगा।" यह सुनकर वह निश्चिन्त हो गयी। उसकी श्रद्धा के कारण गुरु के प्रकट होने से वह लड़के की राह देखना भूल गयी और ध्यान में फिर से तन्मय हो गयी। तब कुछ देर के बाद किसीने बाहर से पुकारा, 'अम्मा, अम्मा'। माँने उठकर दरवाजा खोला और अपने बेटे को देखा, फिर घड़ी देखी। ठीक बारह बजकर पच्चीस मिनट हुए थे। तब क्या ? वह बड़ी आश्चर्य-चकित हो गयी।

वह माता बाद में महाबलेश्वर आयी थी। उसके अपने ही मुख से यह घटना सुनकर 'गुरुप्रसन्नता ही सर्वसिद्धिप्रद है' इस विषय में यह लेख लिखने की मुझे इच्छा हो गयी।

पूज्य प्रातःस्मरणीय सिद्धलोक के वासी संत तुकाराम महाराज का 'इस विषय में एक अभंग है। वह सिद्धविद्यार्थियों के लाभार्थ यहाँ लिखता हूँ :

गुरुचरणी ठेविता भाव। आपे आप भेटे देव॥१॥
म्हणुनी गुरुसी भजावे। स्वध्यानासी आणावे॥२॥
देव गुरुपासी आहे। वारंवार सांगूं काये॥३॥
तुका म्हणे गुरुभजनी। देव भेटे जनीं वनीं॥४॥

अभंग का भावार्थ है कि श्रीगुरुचरणों में भावपूर्ण विश्वास रखने से सहज में, अपने आप, बिना कष्ट उठाये भगवान मिल जाता है। इसलिये गुरु को भजो। इतना ही नहीं, उनको अपने ध्यान में लाओ। क्योंकि ईश्वर गुरु के पास रहता है। अरे! बारम्बार क्या कहूँ? तुकाराम कहता है, गुरु के भजन से परमात्मा की भेंट जन में या वन में भी हो सकती है। इसलिये प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! इतना याद रखना कि गुरुचरणों में महान आदर्शरूप पूर्ण विश्वास, अनन्य भाव रखना आवश्यक है।

भाव की महिमा महान होती है। एक बार भाव रखा; फिर वह पलट जाये तो वही कुभाव हो जाता है। भाव ऐसा होना चाहिये जो अपने को विकसित करे। उसका नाम दृढ़ आस्तिक्य भाव है। जिसने एक बार भी क्रियाशील चितिशक्ति के प्रभाव को जान लिया, उस सिद्धविद्यार्थी में, अपने अन्दर प्रकट रूप से रहनेवाली चितिशक्ति में, श्रीगुरुदेव में, अपने आत्मा में और संविद् क्रीड़ारूप इस जगत में, दृढ़ आस्तिक्य बुद्धि का उदय हो जाता है। फिर उसके चित्त, मन, बुद्धि के लिये अपने अन्तर की चितिशक्ति, अपने अन्तर का गुरुभाव, अपने अन्तरात्मा को छोड़कर अकारण इधर उधर जाना बहुत कठिन हो जाता है। ऐसा विद्यार्थी जगत की क्षणिक उदय और अस्त होने वाली गति-स्थिति में हर्ष या शोक को प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः श्रीगुरु में अवश्य ही दृढ़ आस्तिक्ययुक्त, पूर्ण और सच्चा विश्वास होना चाहिये।

भगवान के 'समरी पावर'-युक्त सत्ताशक्ति में, अन्तर के चितिसामर्थ्य में विश्वास कैसा होना चाहिये इस विषय में मैं दैत्यर्षि प्रह्लाद की कथा कहता हूँ। भक्तराज प्रह्लाद की कथा भारतीयों के लिये अपरिचित नहीं है। विष्णुभक्ति छोड़ने और दैत्यों की रीति-नीति अपनाने के लिये दैत्यराज के बारम्बार समझाने पर भी प्रह्लाद ने न भक्ति छोड़ी और न दैत्यों की रीति-नीति ही सीखी। जिसने एक बार हृदय में पारमेश्वरी

शक्ति का प्रकट साक्षात्कार कर लिया उसके लिये भय किसका! जिसके अन्दर चिति विलास करती है, उसको क्या कमी है? जब हिरण्यकश्यप प्रह्लाद को समझा-समझा कर थक गया तब वह क्रोधावेश में आकर बोला, "मेरे गम्भीर शब्द से पृथ्वी भी फट जाती है और वायु भी रुक जाती है, पर यह मेरे शब्दों की अवहेलना करता है। यह छोटा-सा, मूर्ख बालक खाना-पीना, नाचना-कूदना, शिकार खेलना यह जो अपना कुलधर्म है उसका त्याग कर किसी दुष्ट संगति के कारण भगवान का ध्यान करता है। ऐसा धर्मभ्रष्ट पुत्र अपने कुल के लिये बड़ा कलंक है। उससे पुत्रहीन होना अच्छा है, कुपुत्र अच्छा नहीं।" इस प्रकार हिरण्यकश्यप कुपित होकर सिंह की तरह गर्जना करने लगा। उसने सैंकड़ों विकराल दानवों को बुलाया। वे दानव अस्त्र-शस्त्र लेकर दौड़ आये। आते ही दैत्यराज ने उनसे कहा, "मेरी आज्ञा है कि प्रह्लाद को काट डालो।" इतना सुनते ही दानव नंगे शस्त्रों को लेकर प्रह्लाद की ओर दौड़ पड़े। सब उसका सिर उड़ाने के लिये तैयार हो गये। अपने पर शस्त्रप्रहार करने दौड़ते हुए राक्षसों को देखकर भक्त प्रह्लाद निर्भय होकर बोलने लगा:

विष्णुः शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः।
दैतेयास्तेन सत्येन माक्रमन्त्वायुधानि च॥

विष्णुपुराण १·१७·३३

'अरे दैत्यो! मेरे भगवान विष्णु इन शस्त्रों में भी हैं, तुम लोगों में भी हैं और मुझमें भी हैं। वे सर्वव्यापक श्रीविष्णु मेरे पिता में भी हैं। वे सब जगह हैं। *वासुदेवः सर्वमिति*—यह परम सत्य है। सत्य ही नित्य है। वही पूर्ण है और परम निर्भय है। इस परम सत्य के प्रभाव से मैं उन सर्वव्यापक विष्णु को दृढ़ आस्तिक्य निष्ठा से तुम में और तुम्हारी तलवार की धार में भी देखता हूँ। इसी दृढ़ निष्ठा के प्रभाव से तुम्हारे शस्त्रों का मुझ पर कोई असर नहीं होगा।' ऐसा कह कर वह शांतिपूर्वक वहीं खड़ा रहा।

शस्त्रोंके आघात से प्रह्लाद को तनिक भी वेदना नहीं हुई। वे सब शस्त्र प्रह्लाद के गले में फूलों के हार जैसे बन गये। न उसकी स्थिति बदली, न उसके ध्यान की मात्रा कम हुई, न उसने किसी को दोष दिया, न किसी से क्षोभ पाया; क्योंकि प्रह्लाद विष्णु को अर्पित हुआ था। प्रह्लाद

का सुख विष्णु, दुःख विष्णु, चिंता विष्णु, शोक विष्णु। *जो परमेश्वर को सब कुछ अर्पण करने के बाद भी रोता है, वह भक्तों में ठग है। भक्ति का व्यापारी है। वह सच्चाई से दूर है। उसकी भक्ति अभिनय मात्र है।*

श्रीगुरुमें प्रह्लाद जैसी जिसकी दृढ़ आस्तिक्य बुद्धि होती है उसके अन्दर परमेश्वर का प्रकट होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसलिये तुकाराम महाराज कहते हैं कि गुरुचरणों में अटल विश्वास रखने से परमेश्वर सहज में प्राप्त होता है; क्योंकि परमेश्वर गुरु के पास है। मुक्तानन्द कहता है : 'श्रीगुरुप्रेम से, श्रीगुरुकृपा से, साधन मुझको ढूँढ़ते आया, मैंने उसको नहीं ढूँढ़ा। बन्ध, मुद्राएँ, क्रियाएँ आकर मुझमें बैठ गये। मैं उनको बुलाने नहीं गया था। आश्रम के जनों ने, आश्रम के कलाकौशल ने मुझको ढूँढ़ा, मैं उनके पीछे नहीं गया। मैं केवल गुरु के पीछे गया। गुरु-आज्ञा के पालन में तत्पर रहा। गुरु के बताये हुए मार्ग में चला। मैंने यह नहीं सोचा कि कब सिद्धि मिलेगी। यह नहीं सोचा कि यह रास्ता कहाँ जाता है। बस, जहाँ जिस मार्ग में श्रीगुरुने प्रवेश करवा दिया वहाँ, गुरूपदिष्ट मार्ग समझकर चला। और चला तो जहाँ जाना चाहिये वहीं जाके पहुँच गया। जाते समय न इधर ताका, न उधर ताका, न अल्प-स्वल्प को हाथ लगाया। सीधा ही चलता रहा। जो पाना था वही पाया। जैसा होना था वैसा ही हुआ। होने में कोई कसर न रही।

प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! पहले मैंने किया, फिर तुमको कहता हूँ। एक ऋषि का कथन सत्य है :

श्रीगुरुचरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम्।
जगत् सत्यमसत्यं वा नेतरेति मतिर्मम॥

ऋषि कहता है : 'हे मुमुक्षुजनो! श्रीगुरु के चरणकमल को सत्य ही जान लो। इतना बहुत हो गया। तदनन्तर जगत सत्य है या असत्य है यह जानने की कोई जरूरत नहीं। यह वाद पंडितों के लिये रहने दो। मुख्यतः सुखाभिलाषी सिद्धविद्यार्थी को श्रीगुरुचरणों के विषय में श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं : "हे सद्गुरु! 'तत्' और 'त्वम्' रूपी आपके दोनों चरण 'असि' पदरूप से पूज लेने से साधक को प्राप्त करने को कुछ शेष नहीं रहता।"

हे प्रिय सिद्धविद्यार्थियो ! हृदय से श्रीगुरु का सन्मान करो। हृदय से उनकी पूजा करो। हृदय से उनसे प्रेम करो। सर्व सिद्धियाँ आकर तुम्हारे पास पानी भरने के लिये खड़ी रहेंगी। फिर किसी जादूगर जैसे अल्प-स्वल्प चमत्कार दिखलाने की कभी जरूरत नहीं पड़ेगी। निगम का वचन है :

गुरुसन्तोषमात्रेण सिद्धिर्भवति शाश्वती।
अन्यथा नैव सिद्धिः स्यादभिचाराय कल्पते॥

अर्थात् श्रीगुरुदेव के सन्तोष मात्र से, एक क्षण में नष्ट होनेवाली अल्प सिद्धि नहीं, बल्कि शाश्वत सिद्धि प्राप्त होती है। आप कितना भी जाप जपें, तप तपें, ध्यान करें, दान करें, यज्ञ करें, गंगासागर नहायें; लेकिन गुरुसन्तोष बिना सिद्धि हो ही नहीं सकती।

आजकल सिद्धविद्यार्थियों में जो दुर्बलता, साधनशिथिलता और स्फूर्तिहीनता दिखती है, उसका कारण गुरु की अप्रसन्नता है। गुरुप्रसाद से ही बुद्धि में स्फूर्ति, गुरुप्रसाद से ही सर्व दुःखों का नाश, गुरुप्रसाद से ही साधन में रति होती है। गुरुप्रसाद से ही रामनाम में रुचि होने के कारण यौगिक क्रियाएँ अपने आप होने लगती हैं। गुरुप्रसाद से ही व्यवहार में समाधि होती है, जगत में राम दिखता है। इसलिये गुरुसन्तोष की स्मृति रखो। किंचित्मात्र गुरुकृपाग्नि की चिनगारी शिष्य में गिरते ही, उसमें एक अलौकिक भाव का उदय होता है। उस चिदम्बामय सद्गुरु के आगे चिन्तामणि, पारसमणि, कल्पतरु, कामधेनु कुछ भी नहीं है। ऐसे गुरु की महिमा सुन्दरदास जी अपने पद में यों गाते हैं :

गुरुदेव सर्वोपरि, अधिक बिराजमान।
गुरुदेव सबहि तें, अधिक गरिष्ठ हैं॥
गुरुदेव दत्तात्रेय, नारद शुकादि मुनि।
गुरुदेव ज्ञानघन, प्रगट वसिष्ठ हैं॥
गुरुदेव परम आनन्दमय देखियत।
गुरुदेव वर वरि-यान हू वरिष्ठ हैं॥
सुंदर कहत कछु महिमा कही न जाये।
ऐसे गुरुदेव दादू, मेरे सिर इष्ट हैं॥

जगत में जिस किसीने सिद्धि पायी है वह श्रीगुरु से ही पायी है। गुरु से अनुगृहीत जीव, परम स्वतन्त्र, मुक्त आत्मा बन जाता है। शाश्वत सिद्धि के लिये गुरु-सन्तोष की अत्यन्त आवश्यकता है। गुरु बिना ही मनुष्य दु:खी होता है, गुरु पाके ही सुखी होता है। इसलिये गुरु में पूर्ण आत्म-समर्पण करके गुरुभाव को अपनाओ। थोड़ा-सा ध्यान हुआ, थोड़ी-सी क्रियाएँ हुईं, थोड़ी ज्योति दीखी, यह गुरुभाव नहीं है। गुरुभाव इससे बहुत दूर है। तुम अपने गुरु में जितनी मात्रा में भाव को बढ़ाओगे उतनी ही उच्च भूमिका पर पहुँच जाओगे।

देवे तीर्थे द्विजे मन्त्रे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

अर्थात् देवों में, तीर्थों में, ब्राह्मणों में, चैतन्य मन्त्रों में, दैवी पुरुषों में, वनस्पति-औषधियों में और श्रीगुरुदेव में जिस प्रकार की भावना होती है, जितनी मात्रा में होती है, उसी प्रकार की और उस मात्रा में सिद्धि प्राप्त होती है।

जो गुरु भवसागर में डूबते हुए को उसमें से निकालकर अपने जैसा कर लेता है, सब संशय मिटाने के लिये शिष्य के अन्दर प्रवेश करके शिष्य को चितिमय बना देता है, उसके हृदय के अन्दर पूर्ण ब्रह्म के प्रकाश को प्रकाशित करके दिव्य आत्मतेज को जगा देता है, उसको अपने जैसी ही आत्मरति देता है वैसे गुरु के प्रति तुमको कैसे चलना चाहिये यह तुम ही सोचो।

वस्तुतः श्रीगुरु इस जगत को शिष्य के लिये संविद्मय बना देने की सामर्थ्य रखता है। मानव इस संवित्ति-क्रीड़ा को न देखते हुए, चाहे सो करे, परमशांति प्राप्त नहीं कर सकेगा। योग करे, यज्ञ करे, जप करे, उसको उन सब के फलरूप शांति नहीं मिलेगी। वह यम-नियम का पालन करे या तीर्थभ्रमण करे, उसे कुछ प्राप्त नहीं होगा; वरन उसकी आयु घटती रहेगी। नाना विधि पुण्य करे, देवी-देवताओं की अनेक प्रकार की उपासनाएँ करे, ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करे, कठिन तपस्या करे, कन्द-मूल-फल खाकर जीवन गुज़ारे, फिर भी वह गुरुप्रसादरूप चित्शक्तिविलास के दर्शन बिना सुखशांति नहीं पायेगा। श्री अभिनवगुप्ताचार्य का कथन सत्य है :

स्वतन्त्रः स्वच्छात्मा स्फुरति सततं चेतसि शिवः
पराशक्तिश्चेयं करणसरणिप्रान्तमुदिता।
तदा भोगैकात्मा स्फुरति च समस्तं जगदिदम्
न जाने कुत्रायं ध्वनिरनुपतेत् संसृतिरिति॥

अर्थात् जो परम स्वच्छ चिदात्मा है, जिसको लोग परमेश्वर कहते हैं, जिसको कृष्ण, राम, शिव, माँ जगदम्बा, ब्रह्म, चैतन्य, निर्गुण, सगुण, अल्लाह, गॉड, सत्नाम, अलख कहते हैं और मुक्तानन्द स्वामी जिसको नित्यानन्द कहता है, 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' जिसको चित्शक्ति कहता है, सिद्धलोग जिसको कुण्डलिनी कहते हैं, वही परमस्वतन्त्र परशिव चित्तमें सतत स्फुरणरूप में रहता है। वही पराशक्तिरूप से सर्वेन्द्रियों की क्रियाओं में, इन्द्रियों के सजातीय आनन्द को लेकर स्फुरता रहता है। वही सच्चिदानन्द आत्मा जगतरूप में स्फुर रहा है। वही चेतनशक्ति अथवा चितिशक्ति प्रत्येक सिद्धविद्यार्थी के हृदय में रहकर, चितिमय जगत को भोग रही है। समझ में नहीं आता कि यह कैसे एक नयी बात पैदा हो गई कि जगत एक है, जीव दूसरा है, माया तीसरी है! क्योंकि चिति के सिवा और किस की ऐसी सामर्थ्य है जो जगतरूप हो सके? परम स्वतन्त्रता से, परम स्वच्छता से प्रकाशमान होनेवाली उस चिति को कौन मलिन कर सकता है? प्रज्वलित अग्नि के साथ कौन रह सकता है? यावन्मात्र जगत ही चिति का विलास है।

इस चितिविलास को समझने के लिये कुछ काव्य लिखता हूँ जिनमें व्रज की गोपियाँ इसी चितिविलास को कैसे कृष्णमय याने 'कृष्णविलास' समझती थीं, उसका वर्णन है:

जित देखौं तित स्याममई है।
स्याम कुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है।
सब रंगन में स्याम भरो है, लोक कहत यह बात नई है।
मैं बौरी की लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है॥

* * *

कहि न जाय मुखसौं कछू स्याम-प्रेमकी बात।
नभ जल थल चर अचर सब स्यामहि स्याम दिखात॥

ब्रह्म नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल।
अपनीहू सुधि ना रही, रह्यो एक नँदलाल॥
को कासों केहि बिधि कहा, कहै हृदैकी बात।
हरि हेरत हिय हरि, गयो हरि सर्वत्र लखात॥

सम्पूर्ण जगत चिति का क्रीड़ांगण है; परमात्मा का प्रकट रूप है; सिद्ध-विद्यार्थियों का अपना स्वस्वरूप वैभव है। उसमें श्री गुरुदेव की सर्वत्र व्याप्ति है। इसलिये इस लेख में श्रीगुरु को कैसा समझना चाहिये इस पर अधिक ज़ोर दिया गया है। सिद्धविद्यार्थी इस विषय में अत्यन्त जागरूक होके रहें। जो चित्शक्ति विलास है वही श्रीगुरुदेव का विश्वरूप है। वही शक्ति सद्‌गुरु होकर ज्ञान देती है, वही शिष्य होके ज्ञान ग्रहण करती है। वही अनेक देह धारण करती है। वही श्रीसद्‌गुरु सभी के अन्दर प्रवेश करके प्राण होकर विचरता है। वही विधाता, विष्णु और रुद्र बन जाता है। वही श्रीगुरु वरुण, इन्द्र, आदित्य, चन्द्रादि रूप को प्राप्त होता है। वही नवग्रह—राहु, केतु, आदि बनता है। वही ध्रुव, सप्तर्षि आदि रूपों को धारण करते हुए भी अपने एकत्व को ज्यों का त्यों बना के रखता है। वही श्रीगुरु वक्ता-वक्तव्य, श्रोता-श्रोतव्य, ज्ञाता-ज्ञातव्य भी है। वह वेद है, वेद को जाननेवाला वेदविद् भी है। वह सांख्य है। वह योग है, वही योग की क्रिया है। वह योगेश है। ये सब होकर भी वह एक ही है। वही श्रीगुरु कर्ता, करण, कर्म, भोक्ता, भोग्य, भोगसमुदाय है। वही अमृत, औषधि, रोग और मृत्यु है। अज्ञ और सुज्ञ से लेकर अविवेकी से सुविवेकी तक देव, मनुष्य आदि सब में उस एक की ही व्याप्ति है। उसी सद्‌गुरुनाथ की आत्मस्फूर्ति अंक, बीज और गणित है। सभी राग-रागिनियाँ, सभी ताल-स्वर उससे ही बनते हैं। वही नर्तक, वही सुस्वर गायक, वही नृत्य और संगीत भी है। वही पूर्ण सद्‌गुरु, शुद्ध ज्ञान का उपदेष्टा और महायोग एवं सिद्धविद्या का प्रवर्तक है। उसके बारे में आगम में कहा है : **मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वरः।** अर्थात् 'खुद परमेश्वर ही गुरुरूप में मनुष्यदेह धारण करके छिपकर रहा है।'

मोक्षाभिलाषी प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! यह सारा जगत श्रीगुरु का वैभव है। यह जगत तुम लोगों का आत्मविकास है ऐसा सिद्धजनों का आदेश है,

श्रीगुरु का उपदेश है, वेदान्त की ऐसी सम्मति है, साधु-संतों की अनुभूति है। यदि इस संवित्ति के विलास में कुछ द्वैत देखोगे तो सुख से दूर रहोगे, सन्तोष नहीं पाओगे, न ही तुमको आनन्द प्राप्त होगा। जन्म-मृत्युरूप दुःख से कभी मुक्त नहीं होगे। श्रीमत् शंकराचार्य कहते हैं :

स्वल्पमप्यन्तरं कृत्वा जीवात्मपरमात्मनोः।
यः संतिष्ठति मूढात्मा भयं तस्याभिभाषितम्॥ ५२॥

अपरोक्षानुभूति

अर्थात् जो मूढ़ अज्ञानवश भेदज्ञान के मोह से, दुःसंग से, असत्य शास्त्रों के पठन से जीवात्मा, परमात्मा और अपने में थोड़ा-सा भी अन्तर देख लेता है, यत्किंचित् भी भेद को मान लेता है, उसको सतत भय ही रहेगा। वह कभी शांति नहीं पा सकेगा। उपनिषद् में कहा है—'*द्वितीयाद्वै भयं भवति।*' जो इस व्यापक जगत को अपने से, अपने गुरु से, परमेश्वर से और चितिशक्ति कुण्डलिनी से भिन्न जानता है वह सतत भयभीत रहेगा, शांति नहीं पायेगा, नहीं पायेगा।

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्॥

अर्थात् 'जैसे बड़ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म बीज के विकास से शक्तिरूप महान विशाल वृक्ष बन जाता है, वैसे ही हृदयबीजरूपी आत्मशक्ति का विकास ही यह चराचर विश्व है।' इसलिये प्यारे सिद्धविद्यार्थियो! सतत याद रखो, 'गुरुसन्तोषमात्रेण सिद्धिर्भवति शाश्वती'। सर्व सिद्धि का, शाश्वत शांति का मूलमन्त्र श्रीगुरु सन्तोष है।

गुरु कब संतुष्ट होता है? यह मत समझो कि गुरु के सामने 'वाह गुरु! वाह गुरु!' करके मुख-स्तुति करते रहने से वह संतुष्ट होगा। या सप्ताह में एकबार घड़ी भर ध्यान किया और फिर बीस दिन सिनेमा देखता रहा और कहा 'वाह गुरु!' पन्द्रह दिन में घड़ी भर ध्यान किया और फिर गलियों में आवारों की तरह एक महीना घूमता रहा और कहा 'वाह गुरु!' महीने में एक बार ध्यान किया और तीन महीने भेलपूरी खा-खा के पेट सड़ा लिया, निकम्मा बना लिया और कहा 'वाह गुरु!'—इससे गुरु संतुष्ट नहीं

होगा। गुरु तब संतुष्ट होता है जब शिष्य पूर्णत्व प्राप्त करता है। जैसे कोई कलाकार अपने विद्यार्थी की कला पूर्ण होने पर 'वाह! वाह!' करके उसे आशीर्वाद देता है, मल्ल पहलवान अपने शिष्य को, उसके मल्ल बनने पर 'वाह! वाह!' करके उसे शाबासी देता है, पंडित का शिष्य पंडित बन जाने पर 'वाह! वाह!' आशीर्वाद पाता है, वैसे ही श्रीगुरु से शक्ति प्राप्त किये हुए शिष्य की पूर्णत्वप्राप्ति से ही गुरु को सन्तोष होता है। वस्त्र दिया, द्रव्य दिया, खिलाया, पिलाया, मुखस्तुति की—इसमें गुरु को क्या सन्तोष होगा?

श्रीगुरु तभी संतुष्ट होते हैं जब शिष्य उनमें मिलकर गुरु ही बन जाता है। इसलिये मुक्तानन्द कहता है: "श्रीगुरुं शरणं गच्छामि। श्रीध्यान-योगशरणं गच्छामि। श्रीगुरुभक्तिप्रेम प्राप्नोमि। 'परस्पर देवो भव' इति धारणां धारयामि। सततं श्रीगुरुं स्मरामि। मम मतिः श्रीगुरुः मम गतिः श्रीगुरुः मम रतिः श्रीगुरुः ममात्मा श्रीगुरुः इति सत्यं सत्यं वदामि।"

७

सहजावस्था

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का सूत्र है : **मध्यविकासात् चिदानन्दलाभः।** अर्थात् सिद्धकृपा से सिद्धविद्यार्थियों की मध्य नाड़ी में याने सुषुम्ना में कुण्डलिनी विकसित होते ही उन्हें चिति भगवती का ज्ञान हो जाता है। ध्यान करते करते उनका चित्त समाहित दशा को प्राप्त होता है। अन्तर में सर्वव्यापक चिति के पूर्ण ज्ञान का उदय हो जाता है। तदनन्तर ध्यान में जो अनुभव होता है वही व्यवहार दशा में भी रहता है। ऐसे योगी को ध्यान में भी पूर्ण शांति, व्यवहार में भी पूर्ण निश्चिन्तता आ जाती है। इस निश्चिन्ततायुक्त योगभूमि के दृढ़ होते होते उसे सहज में, हर समय रहनेवाली विक्षेपरहित स्थिति प्राप्त हो जाती है। यह चितिशक्ति अपने आप, गुरुकृपा से किये हुए साधन के प्रसादरूप होकर उस योगी में इस अवस्था को धारण करके रहती है। इस स्थिति को ***सहजावस्था*** कहते हैं। सहजावस्था प्राप्त पुरुष संसार में रहते हुए भी महायोगी या परम शिवभक्त कहा जाता है। सहजावस्था प्राप्त पुरुष व्यवहार की अपनी सारी कर्म-क्रियाओं में एवं पूजा-पाठ-ध्यान में, अपने घर में, बालबच्चों में, नौकर-चाकर में, अपने खाने-पीने के सभी विषयों में चिति के उन्मेष को देखता है।

वह बाह्य-अभ्यन्तर में चिति के ही नित्य उदित विलास को देखता है—**सबाह्याभ्यान्तरः अयं नित्योदितसमावेशात्मा...।** ऐसा देखने से उसके चित्त में पूर्ण समता आ जाती है। यही सहजावस्था है। उस महामन्त्रवीर्यात्मक निर्विकार स्थिति में, देह, प्राण, इन्द्रियों आदि के विषयों का अपने स्वस्वरूप से भिन्नत्व का ज्ञान न होने से, वे सभी चिन्मयरूप होकर गोचर होते हैं। उन विषयों का जिस जिस रीति में चिन्तन किया जाता है, वहाँ महामहिमायुक्त चितिशक्ति ही आधाररूप होकर रहती है ऐसा स्फुरण होता है।

चितिशक्ति के स्फुरण बिना कोई भी विषय गोचर नहीं होता। सभी

विषयों को अपनी सत्ता से वह प्रकट करती है। इस रीति से एक ही चितिशक्ति सभी दशाओं में विलास करती हुई, सभी विषयों में प्रवेश करती हुई, सभी को अपने में ही लीन कर लेती है। जो प्रतिभाशक्ति पदार्थरूप में प्रकाशमान होती है, वही देश, काल, आकार का रूप भी लेती हैं। इस प्रपंच के सभी पदार्थ एक ही चितिशक्ति से प्रकाशमान होते हैं। इस शक्ति में ही अन्तरंग और बहिरंग सब विषयों की सृष्टि, स्थिति और संहार होते हैं। सिद्धविद्यार्थी अथवा सिद्धयोगी अपने अंतःकरण और बहिष्करण को इस चितिशक्ति का ही किरणपुंज समझकर ईशत्व की अनुभूति कर लेता है। ऐसा समझते ही चित्त की जो समतायुक्त शांत दशा हो जाती है, वही सहजावस्था है। ऐसा सहजावस्थायुक्त योगी समस्त स्थूल प्रपंचों में और सर्व जीवात्माओं में पूर्ण व्याप्त, प्रपंच का आधार एवं अखण्ड होते हुए भी अनन्त रूपों में रहनेवाले परमात्मा को जान लेता है। उसके प्रत्येक व्यवहार में परमात्मा का प्रभाव क्षणक्षण गोचर हो जाता है। जैसे फलों में रूप, रस, गन्ध आदि धर्म एकमेक से भिन्न न होते हुए केन्द्रीय होके रहते हैं, वैसे ही बाह्य पदार्थ, उसका ज्ञान, उसका ज्ञाता, इन सभी के आधारभूत होके रहनेवाले सर्वव्यापी परमात्मा का ऐसा योगी उन सभी में अनुसंधान करता है। इस अनुसंधान से सिद्धविद्यार्थी की 'अल्पोऽहम्' स्थिति का नाश होता है और वह 'पूर्णोऽहम्' ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है। यही सहज समाधि है।

वस्तुतः यावन्मात्र विश्वाभास पूर्ण चिति है। सिद्धविद्यार्थी के लिये इसमें चिति से अन्य कोई वस्तु नहीं है। श्री शंकराचार्य का कथन है:

रज्ज्वज्ञानात् क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी।
भाति तद्वच्चितिः साक्षाद्विश्वाकारेण केवला ॥४४॥

अपरोक्षानुभूति

अर्थात् मनुष्य को अपने ही भ्रम से रस्सी भी क्षण में सर्प भासती है। इतना ही नहीं। किसी को मूर्च्छा आ जाती है, किसी के हृदय की गति रुक जाने की स्थिति आ जाती है और वह 'दौड़ो रे! दौड़ो!' ऐसा चिल्लाने लगता है। चिल्लाते ही कोई बुद्धिवान आता है, जिसको उस रस्सी का ज्ञान है। वह बोलता है, 'अरे मूढ़! क्यों चिल्लाते और परेशान

होते हो ? यह सर्प नहीं है, केवल रस्सी है।' ऐसा कहते ही पहले जो सर्प दीखता था वही अब रस्सी दिखायी देती है। जो रस्सी है उसी में सर्प दीखता था। इस प्रकार साक्षात् चिति में यह विश्व भासता है।

ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च।
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति श्रुतिर्जगौ ॥५०॥

अपरोक्षानुभूति

वस्तुतः प्रपंच के भिन्न भिन्न जाति के पदार्थ और उन उन जाति के अनुरूप नाम और उन उन के सभी कर्म—जैसे कि आँखों का देखना, हाथ का पकड़ना, जिह्वा का बोलना—वह परमात्मा ही धारण करता है। इतना ही नहीं,

सर्वोऽपि व्यवहारस्तु ब्रह्मणा क्रियते जनैः।
अज्ञानान्न विजानन्ति मृदेव हि घटादिकम् ॥६५॥

अपरोक्षानुभूति

अर्थात् मनुष्यों द्वारा जितना व्यवहार होता है वह ब्रह्म की ही सत्ता से होता है। ब्रह्म बिना कोई व्यवहार हो ही नहीं सकता। रेडियो बोलता है, मगर उसके पीछे बिजली की शक्ति है; उसके बगैर वह जड़ है। वैसे ही सर्वेन्द्रियों द्वारा जो भी कुछ व्यवहार होता है उसके पीछे चेतन आत्मा या चिति होने से ही होता है। अज्ञानी जन श्रीगुरुबोध न मिलने से ऐसा समझते हैं कि आँखें देखती हैं, जिह्वा बोलती है, पाँव चलते हैं, इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से सब कर्म करती हैं। जैसे 'पावर' निकल जाने से रेडियो नहीं बोलता, उसी भाँति चेतन आत्मा निकल जानेसे आँखों को दीखता नहीं और जिह्वा बोलती नहीं। इसीलिये शंकराचार्य का कहना है कि सब कुछ व्यवहार चेतनात्मक सत्ता से होता है। वह चिति जिह्वा की जिह्वा होके बोलती है। वह आँखों की आँखें होके देखती है। वह कर्णों के कान बनके सुनती है। मन का मन होके मनन करती है। इस प्रकार सर्वांगपूर्ण सर्व व्यवहारों में, सर्व क्रियाओं में, अंतर-बाहर के जगत में एक मात्र संवित्ति का विलास है ऐसा समझकर भेदाभेदरहित होके शांत रहना ही सहजावस्था है।

ध्यान करनेवाले सिद्धविद्यार्थियों को यह अनुभव होगा कि आप का ध्यान जब शुद्ध ध्यान बन जाता है तब वह विषयरहित हो जाता है। जैसे कि

आपका ध्यान नील में स्थिर होते होते नीलमय बन जाता है और नील बनके किंचित् समय के लिये आपरहित, अन्दररहित, बाहररहित हो जाता है। देखने वाला न होने से दिखने वाला कुछ नहीं, सुननेवाला न होने से शब्द नहीं। उस स्थिति में न दुःख है, न सुख है, न मूढ़ता है, न द्रष्टा है, न दृश्य है। केवल शुद्ध परमात्मा, जो अपने आप में आप होकर स्फुरने वाला है, रह जाता है। यह निर्विकल्प, निस्तरंग, प्रशांत स्थिति है। यह आप के ध्यान का लक्ष्य है। आप कुछ क्षण वहाँ रहते हैं और जब ध्यान का उत्थान होता है तब वह तुरियातीत से तुर्या में आ जाता है। उसके बाद तुर्या में जहाँ जहाँ स्फुरण होता है, वहाँ वहाँ उस स्फुरण में आप को तुरियातीत का ही साक्षात्कार होता है। जब आप तुर्या से सुषुप्ति में आते हैं तब जो तुर्या में आप का अनुभव था वही अनुभव लेकर आते हैं। सुषुप्ति में भी आप अपने से भिन्न कुछ नहीं देखते। जब सुषुप्ति से स्वप्नावस्था में आते हैं तब स्वप्न के सब प्रपंच—रथ, घोड़े, हाथी इत्यादि आप ही हो जाते हैं! आप ऐसी अनुभूति कर लेते हैं कि जो सुषुप्ति का द्रष्टा है वही स्वप्न का द्रष्टा है। जब स्वप्न से जागृति में आ जाते हैं तब जागृति में भी वही तुरियातीत है ऐसी अनुभूति कर लेते हैं। इस प्रकार तुरियातीत से तुर्या में, तुर्या से सुषुप्ति में, सुषुप्ति से स्वप्न में, स्वप्न से जागृति में—एक ही द्रष्टा यहाँ से वहाँ जाता, वहाँ से यहाँ आता है। चारों अवस्थाओं में उस उस स्थान की स्थिति-गति भिन्न होगी, परन्तु चारों का द्रष्टा एक है। सभी अवस्थाओं में एक ही द्रष्टा है ऐसा समझकर शांत हो जाना यह मुक्तानन्द कथित सहजावस्था है।

चितिशक्ति के अपरिचय की एक दशा होती है। उस दशा में मानव को जगत में जितनी भी वस्तुएँ हैं उतने ही भिन्न भिन्न प्रकार भासते हैं। वह उनके रूप, नाम, गुण, कर्म इत्यादि को अनन्त प्रकार से जान लेता है और वे बहुत हैं ऐसा समझता है। लेकिन श्रीगुरुबोध से उसे चितिशक्ति का ज्ञान हो जाता है कि वह चिति—**स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः**। (प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र ७)

इस सूत्र की व्याख्या है कि एक ही परमशिव दो, तीन, चार और पैंतीस तत्त्वरूप से विश्वमय होकर रहता है। वह एक निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्दरूप है। वही सच्चिदानन्द संकोचस्थिति और विकासस्थिति, ऐसी दोनों अवस्थाओं को प्राप्त होने से 'द्विरूप' कहलाता है। आणव,

मायीय और कार्म मलों से मिला हुआ होने से 'त्रिमय' कहलाता है। शून्य, प्राण, पुर्यष्टक, स्थूल शरीर, इन चार विभागों को प्राप्त होने से 'चतुरात्मा' कहलाता है। वह परमशिव से लेकर पृथ्वी तक पैंतीस तत्त्व होकर रहता है। इस प्रकार वह एक ही है। उससे भिन्न कोई अन्य नहीं है। 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में सारे संसार को चिति का विलास कहा है। **चिदात्मा शिवभट्टारक एव एक आत्मा न तु अन्यः कश्चित्।** याने 'सर्वत्र एक आत्मा ही व्यापकर रहा है', ऐसा समझ कर चित्तवृत्ति का विकाररहित हो जाना ही सहजावस्था है। 'विज्ञानभैरव' में कहा है :

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्य सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता॥

वह पराशक्ति चितिदेवी ही, यह प्रत्यक्ष में गोचर होनेवाला सब विश्व, उसी विश्व को अपने से पृथक् जाननेवाला जीव—ये दोनों बन जाती है। 'ग्राह्य' कहने से समझ में आनेवाला सब जगत है याने जगत के सब विषय हैं। 'ग्राहक' कहने से इस सब विषयों को जाननेवाला, चिद्रूपी जीवात्मा है। ज्ञानहीन अथवा साधारण जन इन ग्राह्य-ग्राहक को अनन्त रूप में भिन्न-भिन्न करके देखते हैं। लेकिन गुरुकृपा प्राप्त योगी, जो महायोग का पुजारी है, जिसने चितिशक्ति का साक्षात्कार किया है, वह ग्राह्य और ग्राहक को याने देखनेवाला और दिखानेवाला इन दोनों भावों को एक ही चिति से प्रकट हुए हैं ऐसा समझकर इन दोनों में समता का साक्षात्कार कर लेता है। ऐसी समता के साक्षात्कार से योगी में समता-प्राप्ति का जो शांत भाव है, वही सहजावस्था है।

बुद्धिशाली लोग इस जगत को संविद् विलास समझते हैं। उसे चिति का स्फुरण कहते हैं। व्यवहारदशा में भी चिति ही है ऐसा वे समझते हैं। क्योंकि चिति से उपजा हुआ जगत भिन्न भिन्न रूप धारण करने पर भी चिति ही है। लेना-देना सब कुछ व्यवहार चिति का ही विकास है। चिति ही अपने में आप अनेक रूप धारण कर अनेक रूप से विकसित होती है। ऐसा समझकर भेदरहित शांत हो जाना यह मुक्तानन्द की सहजावस्था है। इति शिवम्॥

८

आशीर्वाद

मेरे प्यारे आत्मीय सिद्धविद्यार्थियो !

सदा अपने अपने कर्म करते हुए, सिद्धविद्या के बल से, सिद्धकृपा से आपका ध्यान सिद्धों की विश्रान्ति में पूर्ण विश्रान्त हो, इति आशीर्वाद।

प्यारे सिद्धविद्यार्थियो ! आप लोग सिद्धकृपापात्र होने से सिद्धपरम्परा के हैं। आप का लोक सिद्धलोक है। आप की गति सिद्धों को प्राप्त गति है। आप के पीछे सिद्धलोक के वासी अनन्त महापुरुषों की दिव्यातिदिव्य कृपाशक्ति रक्षण करने को खड़ी है। उस कृपाशक्ति से आप पूर्ण रक्षित हों, इति आशीर्वाद।

सिद्धविद्यार्थियो ! थोड़ी-सी अग्नि की चिनगारियाँ सम्पूर्ण अरण्य को जलाकर भस्म कर देती हैं। वैसे ही थोड़ी भी आप में प्रविष्ट हुई सिद्धों की चित्शक्ति की किरण आप के दोषों को जलाकर, आप को पूर्ण सिद्धपद दे, इति आशीर्वाद।

आप लोग सिद्धात्माओं की किरणें हैं। आप चितिशक्ति के विलास में विलसित हैं। आप में चिति क्रियाशील रही है। आप के चिन्मय जगत में आप भी चिन्मय होके, चिति में मिल चिति ही होवें एवं आप का चित्त चितिदेवी के विश्रान्तिरूप जगत में सम्पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त करे, इति आशीर्वाद।

मेरे परम आराध्य परम गुरु श्रीनित्यानन्द, जो चितिमय हैं, सिद्धलोक के वासी हैं, जिनकी किंचित् कृपामात्र से मैं अपने को मिटाकर चितिमयी कुण्डलिनी की विकास-स्फूर्ति बना, जिन गुरुदेव ने अनपेक्ष मेरे दुखदर्द को लेकर उसके बदले में अपना ही रूप दिया, जो अपनी दी हुई शक्ति की रक्षा करने के लिये शक्तिरूप बनकर मेरे अन्दर आत्मरूप में बैठकर, मेरे हृदय के स्वामी बने; जिनकी वजह से मैं हूँ, जिनका मैं हूँ, जिन्होंने मुझे बनाया, वे सर्व के अन्तर्यामी, शक्ति-चक्र प्रवर्तक, मेरे सतत आराध्य

भगवान श्रीगुरु नित्यानन्द, मेरे सब सिद्धविद्यार्थियों के अन्दर प्रविष्ट होके, अन्तरात्मा के रूप में निवास करके उनका जीवन आनन्दमय बनावें, इति पूर्ण आशीर्वाद।

पूज्य श्रीनित्यानन्दजी के
और
प्यारे श्री सिद्धविद्यार्थियों के
अपने
स्वामी मुक्तानन्द

परिशिष्ट

१

सिद्धविद्यार्थियों के कुछ अनुभव

संतसंगति अमोघ है : कु. निर्मला ठक्कर

सन् १९५७ से मेरे पिताजी गणेशपुरी, गांवदेवी आश्रम में जाते हैं। कुछ समय बाद मैं भी उनके साथ वहाँ जाने लगी। उस समय भगवान श्रीनित्यानन्द जी के दर्शन का लाभ भी हमें मिलता था। पूज्य गुरुदेव स्वामी मुक्तानन्द बाबा के संपर्क में आने के उपरान्त मुझे कुछ अनुभव होने लगे, जिससे उनके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ती गई। उस समय मैं मैट्रिक में पढ़ती थी और स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि मेरे लिये एक नवजीवन निर्माण हो रहा है।

मुक्तानन्द बाबा ने मुझे रोज़ सुबह 'शिवसहस्रनाम' स्तोत्र का पाठ करने को कहा था। उसके बाद एक समय छुट्टी के दिनो में मैं आश्रम में रहने गई थी। गुरुदेव ने मुझे बगीचे में नटराज की मूर्ति के पास बैठकर स्तोत्र-पाठ करने को कहा। मैं वहाँ जाकर स्तोत्र-पाठ करने बैठी। इतने में गुरुदेव भी वहाँ आये और 'हूँ' करके चले गये। बाद में सिंह की गर्जना के जैसी आवाज़ मुझे सुनायी दी और मैंने एक श्वेत रंग की चमकीली ज्योति भी देखी।

कई बार स्वप्न में मुझे पूज्य गुरुदेव और भगवान नित्यानन्द जी के दर्शन होने लगे। एक बार स्वप्न में मैंने श्रीगुरुदेव के वक्षःस्थल से प्रकाश निकलता हुआ देखा। मैं उनके चरणकमलों में गिर पड़ी। तब गुरुदेव ने मेरे बायें कान के पास स्पर्श किया और वहाँ विद्युत्-करंट का सा प्रवाह बहने लगा। मैंने भ्रमर का सा गुंजन भी सुना और मेरे शरीर में कम्पन हुआ। कभी कभी मुझे स्वप्न में संतों के दर्शन होने लगे।

यह सब होते हुए भी दिनांक १४ फरवरी १९६७ का दिन मेरे लिये महद् भाग्य का ठहरा जब आश्रम में गुरुदेव ने मुझे ध्यान के कमरे में बुलाया और पद्मासन लगाकर ध्यान में बैठने के लिये कहा। उन्होंने मेरे सिर और पीठ पर हाथ फिराते हुए पूछा, "क्या तुम्हें योगिनी बनना है?" फिर उन्होंने मुझे मन्त्र दिया और जप करने को कहा। उस समय मेरे शरीर में विद्युत्-सा करंट लगा, सिर भारी हो गया और मूलाधार से कुछ ऊपर चढ़ रहा है ऐसा अनुभव हुआ। गले के पास कम्पन हो रहा था और हाथ की अंगुलियों में से बिजली का प्रवाह बह रहा हो ऐसा लग रहा था। ध्यान में

श्रीगुरुदेव, भगवान नित्यानन्द और गणपति के दर्शन हुए। श्रीविष्णु भगवान को एक रथ के पास खड़े हुए देखा। एक तेजयुक्त चमकीली सीढ़ी देखी। उस समय मेरी ऐसी भावना हुई कि गुरुदेव मुझे मोक्ष का मार्ग बता रहे हैं और ध्यान में मैंने अपना ही प्रतिबिंब देखा।

दूसरे दिन जब मैं ध्यान में बैठने गई तब गुरुदेव ने 'क्या ज्योति दिखाई देती है? नाद सुनाई देता है?' ऐसा पूछते हुए मेरे कान में फूँक मारी। तब उतने में मुझे समुद्र की 'घूंऽऽ घूंऽऽ' आवाज़ सुनायी दी। उसके बाद हमेशा मुझे अलग अलग प्रकार के नाद सुनायी देते हैं। कभी मैं 'ॐ' की ध्वनि तो कभी 'नारायण, नारायण' की धुन सुनती हूँ।

धीरे धीरे मेरा ध्यान बढ़ने लगा। बैठते ही बिना प्रयत्न के ध्यान लग जाता था। कभी कभी सारे दिन-रात मुझे ध्यान लगा रहता। कभी शरीर डोलने लगता, कभी काँपने लगता, कभी लकड़ी जैसा सख्त बन जाता। उसके बाद अनेक प्रकार के आसन अपने आप होने लगे जैसे कि पद्मासन, पश्चिमोत्तानासन, वीरासन आदि। शांभवी, भुजंगिनी आदि यौगिक मुद्राएँ, अनेक प्रकार के कुम्भक तथा खेचरी मुद्रा भी होने लगी। आँखें ऊपर चढ़ जाती थीं या गोल गोळ फिरने लगती थीं। कभी ललाट में तीसरा नेत्र दिखायी देता था। कभी मैं नृत्य की मुद्राएँ भी करती थी। कभी नाभि में से 'ॐ' कार की ध्वनि निकलती थी तो कभी मुँह से विचित्र आवाजें निकलती थीं।

ध्यान में मुझे सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र, पर्वत, पानी, जंगल, अनेक प्रकार के पशुपक्षी इत्यादि दिखायी देते थे। अनेक प्रकार की सुगन्ध और दुर्गन्ध भी आती थी और मुँह में खट्टा, कडुआ, मीठा रस निकलता था। कभी कभी हाथ, पाँव, पीठ, गले और आँखों में इतनी जलन होती कि मानो वहाँ मिर्च लगायी गई हो। यह अनुभव अब भी होता है। इस प्रकार के मेरे अनेक अनुभव हैं जिन सब का वर्णन करने पर एक पुस्तक तैयार हो सकती है।

मुझे ध्यान में कई बार संतों के दर्शन होते थे, जैसे कि श्री रामकृष्ण परमहंस, शिरडी के साईबाबा, वीरपुर के जलारामबाप्पा, श्री आनन्दमयी माँ वगैरह। योगेश्वर श्रीकृष्ण, कैलासपति शिवजी और गुरु दत्तात्रेय के दर्शन भी होते थे। लक्ष्मी, सरस्वती, अम्बा आदि देवियों के दर्शन भी होते थे। कभी कभी मैं गुरुदेव को 'ॐ' कार में या पुष्प में बैठे हुए देखती थी। मन्दिरों में भी गुरुदेव के दर्शन होते थे; कभी उनके तेजोमय चरण दिखायी देते थे। आज्ञाचक्र में श्रीगुरुदेव और शिवजी के दर्शन होते थे। कई बार विविध रंग की ज्योतियाँ दिखती थीं। ज्योति के बीच गुरुदेव का सुन्दर मुखारविन्द दिखता था। कभी कभी नीलबिन्दु चमकते चले जाता था। यह सब अनुभव अब भी होते हैं।

मुझे ऐसे बहुत से स्वप्न दिखते हैं जो सत्य हो जाते हैं। स्वप्न द्वारा गुरुदेव

सूचनाएँ भी देते हैं। कई बार गुरुदेव मुझे कहते हैं, "मैं तेरे घर में आता हूँ तो तुझे मालूम होता है?" यह बिल्कुल सत्य है। बहुत बार मुझे गुरुदेव की सुगन्ध याने उनके लगाये हुए इत्र की खुशबू आती है और उनका अस्तित्व महसूस होता है। हमारे घर में गुरुदेव का एक बड़ा फोटो है। उसमें श्रीगुरुदेव के चेहरे पर भिन्नभिन्न भाव दिखायी देते हैं; जैसे कि कभी वे गंभीर तो कभी मुस्कराते हुए दीखते हैं।

अब कुछ महीनों से मेरे हाथ में से शक्ति का प्रवाह बहता है। एक दिन मैं अपने बीमार भाई के सिर पर हाथ फिरा रही थी। उसको बुखार के साथ बड़े ज़ोर से चेचक की बीमारी थी। उस समय गुरुदेव दिल्ली में थे। हाथ फिराते फिराते गुरुदेव का स्मरण करती हुई मैं ध्यानस्थ हो गई और मेरे शरीर में पाँच मिनट तक तीव्र वेग से विद्युत् का करंट पसार होते रहा। उस समय मुझे ऐसा लगा कि श्रीगुरुदेव की शक्ति मेरे द्वारा मेरे भाई में संक्रमण कर रही है। बाद में उसे भी गहरा ध्यान होने लगा। उसको अनेक आसन, मन्त्र-स्फुरण और अन्य यौगिक क्रियाएँ होने लगीं। उसकी बीमारी भी शीघ्र ही दूर हो गई, मानो मृत्यु के मुख से वह लौट आया। इसी प्रकार मेरे साथ ध्यान में बैठनेवाली अन्य साधक बहिनों को जब मेरे मस्तक या अंगुली का स्पर्श होता है तब उनको विद्युत् का करंट लगने जैसा अनुभव होता है।

मेरी माताजी को २३ वर्ष से पक्षाघात हुआ है। उनको भी धीरे धीरे ध्यान लगना शुरू हुआ और अब तो बहुत अच्छा ध्यान होता है। लकवा होने के कारण वह चल नहीं सकती। किन्तु ध्यान में उनको अनेक कठिन आसन होते हैं। उनमें से 'एकपद-कन्धरासन' ऐसा है जिसमें दाहिना पाँव ऊपर उठाकर गले के पीछे से बायें कन्धे को स्पर्श करना होता है। कभी दोनों पाँव साइकिल चलाने की क्रिया करते हैं। उनको ज्योतियाँ भी दिखती हैं। उनके स्वभाव में बहुत परिवर्तन हो गया है। ये सब क्रियाएँ एवं अनुभव आश्चर्यकारक हैं।

मेरे पड़ोस में एक लड़की रहती है जो हमेशा हमारे घर आती है। उसको सिरदर्द की तीव्र पीड़ा होती रहती थी। बहुत इलाज कराने पर भी उसका दर्द नहीं मिटा। मैं हमेशा उसके सिर पर हाथ फिराकर आश्वासन देती कि मैं तुम्हें गुरुदेव मुक्तानन्द बाबा के पास ले जाऊँगी। लेकिन गणेशपुरी जाने से पहले ही उसको ध्यान होने लगा; क्रियाएँ होने लगीं और आश्चर्य की बात तो यह थी कि उसका सिरदर्द गायब हो गया, उसका स्वास्थ्य भी सुधर गया।

दूसरी भी एक छोटी लड़की मेरे यहाँ बहुत बार आया करती थी। उसको भी ध्यान होने लगा, देवदेवियों के दर्शन होने लगे। एक दिन वह मेरे घर आकर ध्यान में बैठ गई। उसके मुँह से बड़े ज़ोर से मन्त्रोच्चार होने लगे। वह गोल गोल घूमने और कूदने लगी। उसके मुँह से पशुओं की आवाज़ें निकलने लगीं।

'हू हू हू' करके डोलने लगी। यह सब सुनकर दूसरे पड़ोसी मेरे घर में जमा हो गये और कहने लगे कि उसको भूत ने घेरा है। मैं बहुत घबरा गई। कारण उन लोगों को कैसे समझायें कि यह सब सिद्धयोग की प्रक्रियाएँ हैं। कौन मानेगा? इतने में उस लड़की ने मेरा आलिंगन करके कहा, "तू किस लिये डरती है?" मुझे ऐसा लगा कि गुरुदेव ही बोल रहे हैं। बाद में उस लड़की ने बताया कि उसको ध्यान में गुरुदेव ने मुझे ऐसा कहने के लिये कहा था। इस प्रकार कई बार गुरुदेव ध्यान में प्रकट होकर उस लड़की को मेरे बारे में बहुत सारी बातें बताते हैं।

पिछले पाँच छः वर्षों में गुरुदेव की कृपा से मेरा जीवन पूर्णरूप से बदल गया है। यदि उनकी कृपा न होती तो मैं संसारसागर में गोते लगाते रहती और अनेक सुखदुःख के अनुभव करती। क्या जाने कहाँ, किस तरह! लेकिन अब तो मैं सुखसागर में तैरती हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि जगत में सब से सुखी मैं हूँ। सिद्धयोग के मार्ग पर चल रही हूँ। आखिर तक पहुँचाना गुरुदेव के हाथ में है; क्योंकि मेरा सर्वस्व गुरुदेव ही हैं।

सिद्धयोग के पथ पर : कु. पन्ना नायक

मैं बाबाजी के पास पिछले चार साल से जाती हूँ। मेरे पिताजी बाबाजी के बड़े भक्त हैं और वे नौ साल से बाबाजी के पास जाते हैं। मैं गणेशपुरी जल्दी नहीं जा सकी, क्योंकि उस समय मैं छोटी थी और अपने गांव में पढ़ती थी। अब मेरी उम्र पन्द्रह साल की है। और मैं एस. एस. सी. पढ़ती हूँ। बम्बई के एक विद्यालय में दाखिल होने के बाद मैं भी अपने पिताजी के साथ गणेशपुरी जाने लगी। स्वाभाविक ही मुझे बाबाजी के प्रति प्रेम, भक्ति और श्रद्धा हो गई। बाबाजी ने भी मेरा स्वीकार किया और मैं बहुत भाग्यवान हुई। बाबाजी की आज्ञा से मैं घर में भी गीता और विष्णुसहस्रनाम का पाठ करने लगी। मैं संस्कृत भाषा नहीं सीखी थी, फिर भी मेरा पाठ अच्छी तरह से होता था और अब तो विष्णुसहस्रनाम मुझे कण्ठस्थ हो गया है।

मैं दूर गांव में पली होने के कारण पहले से ही शहर के आराम और शौकीन वातावरण से दूर थी। इसलिये बाबाजी के संपर्क से मेरा भगवत् प्रेम का मार्ग खुल गया और मुझे गुरुकृपारूप शक्तिपात जैसी जीवन की सबसे महत्त्व की वस्तु प्राप्त हुई। मैं हर शनिवार-इतवार और छोटी-बड़ी छुट्टियों में आश्रम में रहने जाती हूँ। पिछले साल दीपावली की छुट्टी में मैं आश्रम में रहती थी। उस समय एक दिन बाबाजी ने मुझे रत्ना नाम की ध्यान करनेवाली एक लड़की के साथ ध्यान में बैठने की आज्ञा दी। ध्यान क्या है और कैसे किया जाता है इसके बारे में मुझे उस समय कुछ भी मालूम नहीं था। लेकिन गुरुदेव की आज्ञा होने से मैं ध्यानमन्दिर में

जाकर रत्ना के साथ बैठ गई। मैंने रत्ना से पूछा कि मुझे क्या करना चाहिये? उसने मुझे जप करने को कहा। मैं तीन चार दिन जप करती रही। लेकिन मुझे कुछ नहीं होता था। बाबाजी भी मुझे पूछते रहते थे कि मुझे क्या होता है।

आश्रम के ध्यानमन्दिर में बहुत सिद्धविद्यार्थी एवं सिद्धविद्यार्थिनियाँ ध्यान करते हैं। छुट्टी के दिन तो वहाँ ध्यान में बैठने के लिये जगह भी नहीं मिलती! इसलिये सब को बारी बारी से ध्यानमन्दिर में बैठना पड़ता है। इस प्रकार जब हम लोग वहाँ ध्यान में बैठते हैं तब बाबाजी उधर चक्कर लगाते रहते हैं। पाँचवें दिन वे अचानक मेरे पास आये और उन्होंने अपनी दो अंगुलियों से मेरी दो आँखों को स्पर्श किया। बाद में भ्रूकुटी के बीच में पकड़ कर मेरा सिर दो तीन बार हिलाया। उसी समय मेरे नेत्र बन्द हो गये और मुझे ध्यान लग गया। उस दिन मुझे आसन पर से उठने का जी नहीं करता था और मेरे पैर भी आसन से छूट नहीं पाते थे। उस समय मैंने ध्यान में दिव्य आनन्द पाया। ऐसा आनन्द अब भी कभी कभी मिलता रहता है। दो तीन बार मुझे इस प्रकार का ध्यान लगा।

फिर से एक दिन बाबाजी ने मेरे सिर को स्पर्श किया। उस दिन से मुझे गहरा ध्यान लगने लगा। मैं सुबह शाम ध्यानमन्दिर में बहुत समय तक ध्यान करती थी। ध्यान से उठने के बाद अन्य लोग मुझे कहते कि मैं गोल गोल घूमती थी और डोलती थी; मेरे हाथ अनेक प्रकार से फिरते थे और अंगुलियाँ भी तरह तरह के आकार धारण करती थीं। बाद में मुझे मालूम हुआ कि ये यौगिक मुद्राएँ थीं।

इस तरह ध्यान करते करते मेरे जीवन में परिवर्तन आने लगा। मेरे सब दोष जैसे कि झूठा भय, क्रोध, हठयुक्त स्वभाव इत्यादि धीरे धीरे कहाँ विलीन हो गये मुझे मालूम नहीं पड़ा। मेरे शरीर में हमेशा स्फूर्ति रहने लगी। मन शांत हो गया। मेरे सिर का दर्द मिट गया। पढ़ने में पहले मुझे रुचि नहीं थी, अब वह बढ़ने लगी और अध्ययन में उत्तरोत्तर प्रगति होने लगी। मेरा दिमाग भी अब खिल उठा है और अब मैं कुछ अच्छी अवस्था और प्रतिभा को प्राप्त हुई हूँ।

मैं घर पर भी ध्यान करती रहती हूँ। मुझे लाल और श्वेत ज्योतियाँ दिखायी देती हैं। उनके सौंदर्य का वर्णन मैं शब्दों में नहीं कर सकती। ध्यान में कुछ समय पहले 'सोऽहम्' मन्त्र का सुरीला उच्चारण अपने आप होता था और अन्तर में मुझे बहुत आनन्द मिलता था। सारे घर में उस मन्त्र की ध्वनि गूंजती रहती और घरवाले लोग सुनते रहते। यह जप एक-डेढ़ घण्टे तक चलता रहता था। उस समय बाबाजी दिल्ली में थे, लेकिन मैंने बाबाजी को शिवरूप में मेरे समक्ष देखा। वह रूप बहुत सुन्दर, सौम्य और शांत था। उनके दर्शन से मैं धन्य हो गई। मैंने बाबाजी को प्रणाम किया। मेरा हृदय आनन्द से भर गया और मैं ज़ोर से हँसने लगी। दो दिन के बाद बाबाजी स्वप्न में आकर बोले, "तुम्हें बहुत अच्छा और उच्च ध्यान लग रहा है।" एक इत्र की शीशी देकर उसे

शरीर पर लगाने को कहा। उस समय मुझे बहुत यौगिक क्रियाएँ होती थीं जैसे कि घूमना, डोलना वगैरह।

गर्मी की छुट्टी में मैं आश्रम में रहने गई। अब मेरा ध्यान बहुत अच्छी तरह लगने लगा। मुझे नील बिन्दु दिखायी देने लगा। वह अति प्रकाशमान था। यह चमकते चला जाता था और मुझे मालूम ही नहीं पड़ता था कि वह कहाँ से आता था और कहाँ जाता था। मेरी परीक्षा का परिणाम आने से तीन दिन पहले मुझे ऐसा दृष्टान्त हुआ कि मुझे कोई कह रहा है कि मेरा और मेरे भाई का परीक्षा में पहला नम्बर आया है। लेकिन मुझे इसमें विश्वास नहीं हुआ, इसलिये मैंने यह बात किसीको नहीं बतायी। जब वह सत्य हुआ तब मैं बहुत आश्चर्यचकित हो गई। इस तरह हमारे आश्रम के सिद्धविद्यार्थियों को ध्यान में आगे होनेवाली बातों का दृष्टान्त होता है। जागृति त्रिवेदी नाम की एक लड़की को बाबाजी सोने का मुकुट धारण किये हुए और पीताम्बर ओढ़े हुए दिखायी दिये थे। बाद में गुरुपूर्णिमा के दिन ऐसा ही हुआ। किसी भक्त ने बाबाजी को सोने का मुकुट पहनाया था और पीताम्बर ओढ़ाया था।

बाबाजी की आज्ञा पाकर मैं बाबा और अम्मा के साथ महाबलेश्वर गई। वहाँ मैं दूसरी लड़कियों के साथ ध्यान में बैठती थी। उस समय मुझे नये नये प्रकार की मुद्राएँ होने लगीं। एक दिन मुझे शिव के दर्शन हुए। ध्यान में 'सोऽहम्' जप घण्टों तक चलता रहता था। तरह तरह की मुद्राओं के साथ मुझे 'ॐ गुरुदेव दत्त' का जप भी होता था। दो तीन दिन तक यह जप मेरे प्राण में और जिह्वा पर खेलता रहा।

एक दिन महाबलेश्वर के सुन्दर बगीचे में मैं घूम रही थी; उस समय मुझे पक्षियों की आवाज़ में 'सोऽहम्' की ध्वनि सुनायी दी। यह सुन कर मैं आनन्दविभोर हो गई। मेरे साथ ध्यान में बैठनेवाली मालती शेट्टी नाम की मेरी एक सहेली को एक दिन ध्यान में अनेक शब्द स्फुरने लगे जैसे कि 'ज्योतिर्मय गुरुदेव', 'सर्पविभूषित गुरुदेव', 'आत्मरूपी गुरुदेव' इत्यादि। आश्चर्य की बात यह थी कि बोलती थी वह, लेकिन वे सब रूप दिखायी देते थे मुझे। इससे मुझे बहुत आनन्द आया और मैं ध्यान में मस्त बन गई। ध्यान के बाद तन्द्रा में मैंने अपने को ही अनेक प्रकार की यौगिक क्रियाएँ करते देखा। पहले मैंने अपना भयंकर रूप देखा जिससे मैं डर गई, लेकिन बाद में मैंने अपने को शांत और सौम्य भाव में देखा। मैंने मालती को भी अनेक प्रकार के आसन करते हुए देखा।

एक दिन मैंने नील बिन्दु में भगवान नित्यानन्द, शिरडी के साईबाबा, गुरुदेव मुक्तानन्द बाबा और दूसरे दो महात्माओं को देखा। कभी कभी मुझे अलग अलग रंगों की ज्योतियाँ दिखाई देती हैं। एक दिन ज्योति के साथ सफेद रंग का अण्डाकार गोला दिखायी दिया। ध्यान में मुझे एक समय सौम्यरूपधारिणी देवी का

दर्शन हुआ और तुरंत मेरे मुँह से उसकी स्तुति निकल पड़ी। एक दिन मुझे अग्नि की ज्वाला में रथ दिखायी दिया जिसमें एक दिव्य पुरुष बैठा हुआ था। एक दिन किसी सुन्दर कन्या ने मेरे कपाल पर टीका लगा दिया ऐसा मैंने देखा।

इस तरह मेरी साधना चल रही है। मेरा मन आनन्द में रहता है, कभी चिन्ता नहीं होती। किसी के द्वारा अपशब्द बोलने पर भी कुछ असर नहीं होता। ध्यान करने से मेरी पढ़ायी में कुछ विघ्न नहीं आया। उसके विपरीत ध्यान से मुझे अभ्यास में मदद मिली; क्योंकि मेरी स्मरणशक्ति बढ़ी, परीक्षा के समय सब अन्दर से स्फुरने लगा और परीक्षा में मेरा पहला नम्बर आया। गुरुकृपा का ही यह सब परिणाम है। इस सब के लिये बाबाजी की मैं बहुत ऋणी हूँ।

मैं भाग्यवान बनी : कु. मालती शेट्टी

मेरे पिताजी बहुत वर्षों से बाबाजी के भक्त हैं। उनकी शादी श्री कटील दुर्गा परमेश्वरी क्षेत्र में बाबाजी के समक्ष हुई थी। बाबाजी के आशीर्वाद से और दुर्गा परमेश्वरी की कृपा से मेरा जन्म हुआ। हाल में मेरी उम्र चौदह वर्ष की है और मैं दसवीं कक्षा में पढ़ती हूँ। बचपन से मैं अपने माता-पिता के साथ कभी कभी गणेशपुरी जाती रहती थी। आज मैं श्रीगुरुदेव आश्रम की सिद्धविद्यार्थिनियों में से एक हूँ।

एक समय छुट्टी के दिनों में मैं आश्रम में रहने गई थी। वहाँ मैं अपनी एक सहेली को ध्यान में क्रियाएँ करते देख रही थी, तब बाबाजी ने मुझे कहा, "तुम भी ध्यान में बैठो"। बाबाजी के कहने से मैं ध्यान में बैठी, परन्तु मुझे ध्यान नहीं लगा। चार-पाँच दिन के बाद बाबाजी ने ध्यानमन्दिर में आकर मेरी दोनों आँखों को स्पर्श किया और सिर में दो हलकी चपाटें मारकर वे चले गये। उसी समय मुझे ध्यान लग गया। उस समय मेरे आसपास क्या हो रहा है यह मुझे मालूम नहीं पड़ा। मुझे एक छोटा-सा काला बिन्दु दिखायी दिया। और भी कुछ अनुभव होने लगे। एक घण्टे तक मुझे ध्यान लगा रहा।

उस समय मुझे शक्तिपात और कुण्डलिनी शक्ति क्या है इस विषय में ज्ञान नहीं था। आश्रम में हमारे साथ एक अम्मा हैं जो बहुत अच्छी अंग्रेजी जानती हैं और पहले कालेज में संस्कृत पढ़ाती थीं। वे आश्रम में रहनेवाली सिद्धविद्यार्थिनियों का ख्याल रखती हैं। हम लोगों को वे शिस्त सिखाती हैं, शुद्ध और पवित्र रहने को समझाती हैं और पढ़ने लायक पुस्तकें भी देती हैं। मैंने उनसे मेरे अनुभव कहे और पूछा कि मुझे क्या हो रहा है। उन्होंने मुझे ध्यान के बारे में समझाया और कहा कि मुझे शक्तिपात हुआ है, मैं भाग्यवान हूँ कि प्यारे गुरुदेव की प्रसादरूप दिव्य शक्ति का मुझ में संचार हुआ है।

दूसरे दिन ध्यान में मुझे सफेद बिन्दु दिखायी दिया। बाद में तीन दिन मुझे

ध्यान नहीं लगा। फिर बाबाजी ने ध्यानमन्दिर में आकर मेरे कपाल और सिर पर विभूत लगायी। उसी दिन मुझे सफेद ज्योति दिखायी दी। इस प्रकार ध्यान में मेरी प्रगति होने लगी। कभी कभी ध्यान में नींद आ जाती तो मैं बैठे बैठे निद्रा लेती। उस समय मुझे कुछ न कुछ दिखाई देता था। इसको बाबाजी दृष्टान्त कहते हैं। वे सब मैं बाबाजी को या हमारी प्यारी अम्मा को कहती थी। उसमें से कई दृष्टान्त सच्चे भी होते थे। एक दिन ध्यान में मैंने चांदी का त्रिशूल देखा। बाद में किसी भक्त ने ऐसा ही त्रिशूल बाबाजी को भेंट दिया था।

मैं मई १९६९ में बाबाजी और अम्मा के साथ महाबलेश्वर गई थी। गुरुकृपा से वहाँ मेरा ध्यान बहुत बढ़ा। ध्यान में मुझे विविध प्रकार के रंग दिखने लगे। केसरी रंग की ज्योति भी दिखती थी। मुँह से 'शिवोऽहम्' का मन्त्र निकलता था। भ्रूमध्य में सफेद ज्योति चमकती थी। बाबाजी के साथ बैठ कर ध्यान के बारे में बातें करते समय मेरी आँखों के सामने एक तिल जितना नील बिन्दु चमकते गायब हो जाता था। एक बार मुझे धूमकेतु दिखा था और शनि का ग्रह भी दिखा था। कभी मुझे ऐसा लगता था कि मेरी आँखों में कोई प्रकाश डाल रहा हो; लेकिन आँखें खोलने से कोई नहीं दिखता था। तब समझ में आता कि वह ज्योतिकिरण थी। मृदुंग जैसा नाद भी सुनाई देता था। कभी ऐसा ध्यान लगता कि उसे उतारने के लिये कोई उपाय नहीं सूझता। कभी सोते सोते 'गुरु ॐ' का मन्त्र बोलती रहती। ध्यान में मुझे बहुत प्रकार की मुद्राएँ होने लगीं। मैं खूब घूमने भी लगती थी।

एक दिन ध्यान में एक छोटे-से नाग ने मेरे दाहिने हाथ की बड़ी अंगुली को काटा। तब मेरा हाथ बहुत जोर से काँपने लगा और एकाएक मेरे मुँहसे 'ॐ गुरुदेव', 'ॐ ज्योतिर्मय गुरुदेव', 'ॐ सर्पविभूषित गुरुदेव' ऐसा पौन घण्टे तक उच्चारण होता रहा। सहेलियाँ कहती थीं कि मेरी आवाज बहुत मीठी निकलती थी। उस दिन ध्यान में मुझे बड़ा आनन्द आया। बाद में मैंने बाबाजी को यह बात कही तो वे बोले, "बहुत अच्छा, शंकर जी सदा तेरे पास ही होते हैं इसका यह इशारा है।" दूसरे दिन ध्यान में साँप अपनी जिह्वा को मेरी हथेली में लगा कर चला गया।

एक दिन मैंने एक वर्तुलाकार नील देखा, उसमें पीला और उसके भीतर सफेद वर्तुल देखा। एक समय मेरे अन्तर में से मुझे ऐसा सुनायी दिया कि ज्ञान और ध्यान भगवद्गीता से होता है।

इस तरह मेरा ध्यान चल रहा है। मुझे सिर, पेट और छाती में हमेशा दर्द रहता था। वह सब ध्यान करने से चला गया। मेरा मन भी पहले से शांत हो गया है। कभी मेरे साथ कोई लड़की ध्यान में बैठती है तो उसको भी ध्यान लग जाता है। गुरुदेव की कृपा अपार है।

मेरा जीवन परिवर्तन : नॉनी पटेल

एक दिन जब मैं अपने भाई के साथ ध्यानकक्ष के बाहर बैठा था, गुरुदेव अचानक ध्यानकक्ष से बाहर आये और उन्होंने मेरे मस्तक को स्पर्श करते हुए मुझे एक मन्त्र दिया। मैं कुछ समझ भी नहीं पा रहा था कि वे चले गये। बाद में मुझे बताया गया कि गुरुदेव ने मुझे शक्तिपात दीक्षा दी थी।

दीक्षा पाने के अनन्तर मेरा जीवनपथ, जो पहले अनेक कठिनाइयों और समस्याओं से घिरा हुआ था, धीरे धीरे सरल, सुगम और प्रशस्त होता चला। पतझड की नाईं मेरी बुरी आदतें छूटती गईं। बिना किसी हिचक के मैंने सिगरेट पीना छोड दिया। मेरी शराब की आदत भी छूट गई। एक संपूर्ण मांसाहारी से मैं एक संपूर्ण शाकाहारी बन गया। और ये सारे परिवर्तन बिना किसी प्रयत्न या आग्रह के, नितांत स्वाभाविक रूप से होते गये। ये परिवर्तन स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर हो रहे थे जिन्हें देखकर मेरे परिवार के लोगों और मित्रों को बड़ा विस्मय हुआ।

सितम्बर १९६८ में मैं लम्बी छुट्टी पर था। साधारणतया ऐसी छुट्टियाँ मैं मध्य पूर्व या यूरोप के विश्रामधामों में बिताया करता था; परंतु इस समय मैं गणेशपुरी में ठहरा। आश्रम में रहते समय मैं अपने गुरुदेव की सेवा में सदा तत्पर रहता और जो भी काम मुझे बताया जाता, मैं कर लेता। मेरे अनेक कामों में गुरुदेव के स्नानगृह की सफाई का भी एक काम था।

वह अक्टूबर १९६८ का २२ वाँ दिन था। हररोज़ की तरह मैं बाबाजी के स्नानागार की सफाई कर रहा था। मेरा काम चल ही रहा था कि गुरुदेव की शक्ति ने तीव्रवेग से आ मुझे घेर लिया। शक्ति मेरे सारे शरीर में प्रवाहित होने लगी। धीरे धीरे शक्ति ने मेरा पूरा कब्जा कर लिया। मेरा शरीर इतने जोर से कम्पित होने लगा कि सहारे के लिये मुझे ज़मीन पर बैठना पड़ा। तदनंतर अपने आप मेरे भीतर से मन्त्र का जाप प्रस्फुटित होने लगा। कभी कभी यह मन्त्रोच्चार बड़े जोर से होता। उस समय मेरा सारा शरीर पसीने से तर हो गया था। जो कुछ हो रहा था उसका शुरू में मुझे भान नहीं था; क्योंकि लहरों की तरह एक के बाद एक शक्ति-तरंग मुझे प्रताड़ित करती रहती, जिससे मेरा मन बिल्कुल शून्य हो गया था; परंतु अचानक बिजली की कौंध की तरह यह अनुभूति मन में जाग उठी कि एक आत्मसाक्षात्कारी संत द्वारा पापमय जीवन बितानेवाले एक यत्‌किंचित् जीव पर दैवी कृपा की वर्षा हो रही है। मेरे अन्तर में यह इच्छा प्रबल हो उठी कि बाहर जाकर गुरुदेव के दर्शन करूँ और उनके चरणकमलों को छूकर उनकी महती कृपा के लिये कृतज्ञता प्रकट करूँ। बाहर आकर मैं 'बाबाजी' 'बाबाजी' कहकर गुरुदेव के चरणों में गिर पड़ा। आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बह रही थी, मानो कोई सरिता पूरे वेग से उछल पड़ी हो। उन करुणाघन और सर्वज्ञ गुरुदेव के मुखकमल पर हँसी

की एक हल्की-सी रेखा चमक उठी। उन्होंने मुझे व्यंकपण्णा के पास जाकर उनके प्रति आभार प्रकट करने की सूचना दी, क्योंकि उन्होंने ही मुझे बाबाजी के निजी स्नानगृह की सफाई करने का अवसर दिया था। मेरे मतानुसार समूचे आश्रम में 'पवित्राणां पवित्रम्' ऐसा यह स्थान है; जहाँ बाबाजी के सिवा और कोई प्रवेश नहीं पा सकता। तदनन्तर गुरुदेव ने मुझे बताया कि उस गृह में शक्ति का प्रबलतम संचार रहता है।

इस अनुभव से मानो मेरा पुनर्जन्म हो गया। पहले ध्यान के प्रति मेरी कोई रुचि नहीं थी। वह मुझे अपरिचित-सा लग रहा था। परंतु अब वह अपने आप होने लगा। विभिन्न प्रकार की यौगिक क्रियाएँ आरम्भ हुईं। यह नाड़ीशुद्धि की एक प्रक्रिया है जिससे हमारे समूचे नाड़ी-संस्थान का शोधन होता है। अनेकानेक योगासन, बन्ध और मुद्राएँ अपने आप होने लगे और मैं बिना किसी थकावट के घण्टों इन क्रियाओं को करता रहता। कभी मैं अत्यंत आनन्दविभोर होकर नृत्य करता रहता। उस समय मेरी आँखों से आनन्दाश्रु बहते रहते और मैं हँसता रहता। हर समय ध्यान में कोई नयी बात घटित हो जाती जिससे मैं ध्यान के लिये समय निकालने को बड़ा उत्सुक रहता।

ये यौगिक क्रियाएँ केवल आश्रम में ही नहीं, बल्कि नैरोबी में अपने घर में, सुदूर हाँगकाँग में, बम्बई में रफिया मंझिल के सत्संग में जहाँ कहीं मैं ध्यान के लिये बैठता, अपने आप हो जातीं। इन यौगिक क्रियाओं का न मैंने कभी अभ्यास किया था, न पहले मुझे उनके बारे में कोई जानकारी थी। कभी ध्यान के समय 'ॐ' मन्त्र का दीर्घ और जोर से उच्चार करता तो कभी मुख से उड़ते हुए विमान की ध्वनि होती रहती।

नवम्बर १९६८ की बात है। मैं आश्रम के ध्यानकक्ष में ध्यान में बैठा था। धीरे धीरे ध्यान प्रगाढ़ होने लगा। मेरी आँखें बन्द थीं। मुख से विमान के उड़ने की तेज़ ध्वनि होने लगी। जैसे जैसे ध्वनि तेज़ होती, अन्दर से प्रकाश फैल जाता, जिससे मेरी आँखें चकाचौंध हो गयीं। वह आवाज़ मेरे लिये असह्य होती चली, इतने में गुरुदेव ध्यानकक्ष में आ गये और उन्होंने मोर के परों की झाड़ू से मेरे सिर पर मारना शुरू किया। इससे मुझे इतना अधिक आनन्द मिला कि मैं फर्श पर लोटपोट होकर गिर पड़ा और लगातार हँसता रहा। उस समय उस दिव्यानन्द की अनुभूति में अपने को वश में रखना मेरे लिये प्रायः असम्भव था।

बाबाजी की दिल्ली की यात्रा में मैं एक समय उनके साथ देहरादून गया था। शाम को मैं बाबाजी के शयनकक्ष में बैठा था। अचानक उस दिव्य शक्ति ने मुझे व्याप लिया। मैं ध्यान में चला गया। उस समय मुझे लगा कि मैं एक शेर हूँ; इतना ही नहीं मैं एक शेर की तरह गर्जना भी करने लगा। बहुत समय तक ऐसा चलता रहा।

रफिया मंझिल में सत्संग के समय इस दैवी शक्ति का बड़ी तीव्रता से मुझे अनुभव आ जाता। इस समय क्रियाएँ भी बड़ी तेज़ी से होती रहतीं। कभी कभी अन्दर से अपने आप 'ॐ' मन्त्र का उच्चारण होता और उसके साथ साथ जोशीला नृत्य करने लगता।

पिछले पाँच छः महीने से यौगिक क्रियाएँ कम होती जा रही हैं, उनके स्थानपर नाना मुद्राएँ होती हैं और रह रहकर हँसी फूट पड़ती है, मानो अन्दर आनन्द का खज़ाना भरा हो।

आश्रम में सुबह और शाम की आरती के समय इस दैवी शक्ति का बड़ी तीव्रता से मैं अनुभव करता हूँ। इस समय मेरा पदन्यास बहुत ही सुंदर ढंग से होता और मुझे कोई थकावट महसूस नहीं होती; बल्कि मैं एक प्रकार का हल्कापन अनुभव करता।

एक बार मैं रफिया मंझिल में सत्संग के समय ध्यान कर रहा था। अचानक मुझे लगा कि मैं एक कुत्ता हूँ और कुत्ते की तरह भौंकने भी लगा।

ध्यान के समय फर्श पर उछल कूद करना, शीर्षासन पर खड़ा रहना, ज़ोर से 'ॐ' मन्त्र का उच्चारण करना और एक पागल, उन्मत्त आदमी की तरह नाचना, ये क्रियाएँ अब धीरे धीरे कम होती जा रही हैं और एक ऐसी अवस्था प्राप्त हो रही है जहाँ समय और स्थान का कोई भान नहीं रहता और चित्त बिल्कुल शून्य, निर्विकार स्थिति को प्राप्त करता है।

नैरोबी में, जहाँ मेरी कम्पनी का मुख्यालय है, मेरा निवास स्थान है। वहाँ मैंने 'पार्टीशन' लगाकर ध्यान का कमरा बनवाया है। इस कमरे में मैंने भगवान नित्यानन्द, बाबाजी और अन्य संत-महात्माओं के फोटो लगाये हैं। बाबाजी की कृपा से उस छोटे से ध्यानकक्ष में शक्ति का इतना प्रवाह बह रहा है कि मेरे मित्र, जिन्हें बाबाजी की शिक्षा और उपदेशों में रुचि हुई है, अक्सर मेरे घर आकर उस कमरे में ध्यान के लिये बैठते हैं और उन्हें न केवल सहजध्यान की प्राप्ति होती है; बल्कि एक अलौकिक अन्तरशांति और समाधान का लाभ भी होता है। इस प्रकार के अनुभव उन्हें पहले कभी नहीं मिले थे।

बाबाजी की अनुकंपा और दैवी कृपा के कारण ही यह सब कुछ मैं पा सका। जो कुछ मैंने किया वह इतना ही कि मैं उनकी शरण गया हूँ और यथाशक्ति उन्हें समर्पित हो चुका हूँ। बस! केवल इसीका ही मैं फल पा रहा हूँ।

तारणहार गुरुदेव : दिलीप पंडित

मार्च १९६९ की बात है। बाबाजी दिल्ली से अभी वापस आये हुए थे। उस समय एक दिन मेरी माँ को गहरे ध्यान में बैठे हुए देख मुझे बड़ा विस्मय हुआ। आश्रम में आते जाते अबतक मैंने केवल दो व्यक्तियों को ध्यान में मग्न देखा था। ध्यान मेरे लिये बिल्कुल एक नया विषय था। २० मार्च की रात को जब मेरी माँ

ध्यान में बैठी थीं, तब केवल कुतूहलवश मैं उनके पास बैठा ताकि वे कैसे ध्यान करती हैं यह देख सकूँ। कुछ विचित्र मुद्राएँ करते हुए उनको मैं देख ही रहा था कि मैं भी ध्यान में उतर गया। उस समय मेरुदण्ड में मैंने कुछ कम्प-सा अनुभव किया और मेरे समूचे शरीर में विद्युत्-प्रवाह बहने लगा। भ्रूमध्य में कुछ पीड़ा-सी होने लगी। मुझे प्रकाश भी दिखायी दिया। मेरा मस्तक वर्तुलाकार घूमने लगा। मुझे बहुत ठंडी भी लगी। मैं सिसक सिसक कर रोने लगा; आँखों से आँसू बहने लगे। वे आँसू न तो हर्ष के थे, न शोक के। मैं खुद ही नहीं जानता था कि मैं क्यों रो रहा था। बाबाजी की कृपा से उसी दिन से मेरा ध्यान शुरू हो गया। मैं जब भी ध्यान में बैठता, अनेक बातें होती रहतीं। हर बार विविध रंग देखता; विभिन्न नाद सुनता।

एक सप्ताह के बाद हम गणेशपुरी गये। आश्रम में पैर रखते ही मैंने ऐसे एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव किया जो मेरी टेबल टेनिस की मैच जीतने पर भी नहीं होता। बाबाजी की अनुमति से मैं ध्यानकक्ष में ध्यान करने बैठा। ध्यान में मैंने भगवान नित्यानन्द जैसे महात्मा को शिवलिंग पर बैठे हुए देखा। केवल उनका शरीर देखा, मुँह नहीं दिखाई दिया। उन्होंने केवल एक भगवी लंगोटी पहनी थी। बिछुड़े हुए बछड़े को माँ को देखकर जो आनन्द होता है, अंधकार में प्रकाश मिलने से मनुष्य को जो आनन्द मिलता है, वैसा ही आनन्द तब मैंने अनुभव किया। तब से रोज़ मैं उनको ध्यान में देखता हूँ। मैं अपने को भी उन महात्मा और शिवलिंग के पास ध्यान में बैठा हुआ देखता हूँ। मुझे ऐसा लगा कि मेरा और उन महात्मा का युग युग का पुराना सम्बन्ध है। धीरे धीरे उनके प्रति मेरे हृदय में आदर और प्रेम बढ़ता गया। उन्होंने, जिनको मैं 'लंगोटीवाला' कहता हूँ, मुझे सोऽहम् मन्त्र का जाप करने की आज्ञा दी और उस दिन से मैं यह जप करता रहा हूँ।

एक दिन उन लंगोटीवाले ने मुझे कहा, "यहाँ ध्यान के लिये न बैठ। मैं तुझे दूसरा स्थान दिखाऊँगा। आगे चलकर तू इसी स्थान पर ध्यान में बैठना।" इतना कहकर वे मुझे एक पहाड़ पर ले गये जहाँ बहुत गुफाएँ थीं। इन गुफाओं में अनेक साधु तपस्या कर रहे थे। लंगोटीवाले ने मुझे एक गुफा दिखायी। मैंने जैसे ही उस गुफा में प्रवेश किया, मुझे लगा कि उस दिन से मुझे एक 'मिशन' के लिये निकल पड़ना है। चौदह साल से, जो फिलहाल मेरी उम्र है, मैं जिसकी राह देख रहा था वह कार्य अब आरम्भ होनेवाला है। मुझे लगा कि उस 'मिशन' और उसके कार्यान्वय के बारे में मुझे पूरी जानकारी है। केवल अबतक मुझे उसका भान नहीं था। परन्तु उस दिन मानो मैं जाग्रत हो गया। मेरी हालत मानो उस आदमी के जैसी थी जो कि मोटरगाड़ी चलाना जानता हो, परन्तु जिसके पास गाड़ी की चाबी न हो। अब मानो मुझे चाबी मिल गयी हो, मुझे सिर्फ गाड़ी को चालू करना है।

यद्यपि लंगोटीवाले से मैं बातचीत करता रहा; फिर भी अब तक मैंने उनका मुँह नहीं देखा था। एक दिन मैंने उनसे अपना मुँह दिखाने के लिये प्रार्थना की। अपनी हमेशा की रीति से वे हँसने लगे और खड़े हो गये। उसी क्षण उनके शरीर में सारे विश्व को देखकर मेरी आँखें चौंधिया गयीं। मैंने सूर्य, चन्द्र, और तारागण और आकाशगंगा देखे। मैंने उनके शरीर में सारे ब्रह्मांड को देखा। मुझे प्रतीत हुआ कि वे विश्वरूप हैं और विश्व उनमें समाया है! मैंने उस समय उनकी गंभीर आवाज सुनी, "तूने देखा मुझको? मैं सारा विश्व हूँ! अब बता तू क्यों मेरा मुँह देखना चाहता है? मुझे सर्वत्र देखो, इतना काफी है!"

एक दिन ध्यान के बाद मेरी आँखें बन्द ही रहीं, खुली नहीं; मेरी ज्ञानमुद्रा भी नहीं छूटी। फिर मैंने अपनी माँ को मेरी आँखों को स्पर्श करने को कहा। उसके स्पर्श करते ही मेरी आँखें खुलीं, पर ज्ञानमुद्रा तो वैसे ही रह गयी, मानो मेरा अँगूठा और उंगली चिपककर एक बन गये हों। इतने में मैंने लंगोटीवाले की आवाज़ सुनी, "ऊपर तुम्हारी बहन बैठी है, उसके पास जाओ।" मैं गया तो माधवी, मेरी बहन, किसी को अपने अनुभव बता रही थी। वही आवाज़ मैंने फिर सुनी। "तुम्हारी ज्ञानमुद्रा से माधवी को पीठ में मारो, वह खुल जायेगी और उसको ध्यान लग जायेगा।" मैंने उनकी सूचनाओं के अनुसार उसकी पीठ में और बाद में उसके मुँह पर ज़ोर से मारा। मेरी बहन ज़ोर ज़ोर से हँसने लगी और आधे घण्टे तक ध्यानमग्न बैठी रही।

एक रात को शयन के पहले मैं ध्यान में डूब गया। उन थोड़ेसे क्षणों में उन लंगोटीवाले ने मुझे कहा, "मैं तुझे परीक्षा में बैठने नहीं दूँगा। मैं तुझे बहुत कुछ कहना चाहता हूँ। तेरे दाहिने हाथ को कुछ ज़खम होगी।" मैंने माँ से यह बात कही। घर में सब लोग मेरी मज़ाक करने लगे और कहने लगे कि अभ्यास न करने का मुझे एक बहाना मिल गया है।

दो दिन के बाद ही, ७ अप्रैल को मोटर की एक दुर्घटना में मेरे दाहिने हाथ को चोट लगी और उसे बैंडेज में रखा गया। मैं खुश हुआ। इसलिये नहीं कि मैं परीक्षा से बच गया, पर मैं अब ध्यान के लिये बैठ सकता था। परंतु मुझे निराशा ही हाथ लगी। उस दुर्घटना में मेरी हड्डियों को भी चोट पहुँची थी, इसलिये ध्यान में जब सोऽहम् जप शुरू हो जाता, तब मुझे लगता कि मेरी छाती में हवा भर गयी है और यह दबाव मैं सहन नहीं कर सकता था। इस तरह मैं ध्यान के लिये भी नहीं बैठ सका।

१५ अप्रैल १९६९ की बात। उस समय मैं अपने दो छोटे भाइयों के साथ सफाला में हमारे खेत में था। मैं हमेशा की तरह सुबह उठा; फिर भी तन्द्रा में था। उस अवस्था में लंगोटीवाले ने दर्शन दिये और कहा, "तेरी एअरगन मनुष्य के खून की प्यासी है।" मैंने पूछा, "किसका खून?" जवाब में उन्होंने कहा,

"तुझे जल्दी ही पता चलेगा। भगवान ही यह निश्चय करेगा।" उनकी बात पर मैंने कोई खास ध्यान नहीं दिया, फिर भी मैंने कागज़ के टुकड़े पर यह बात लिख दी।

शाम को एअरगन लेकर मैं अपने भाइयों के साथ जंगल में जा पहुँचा। शिकार खेलके हम वापस आये। एअरगन को दो घुटनों के बीच पकड़कर जैसे ही मैं कमरे का ताला खोल रहा था, वह नीचे फिसल गयी। बाजू में जो लड़का खड़ा था उसने उसको पकड़ने का प्रयत्न किया। इस प्रयास में उसका हाथ गन के घोड़े पर पड़ा और गोली छूट गयी और वह मेरी छाती के दाहिने भाग में घुस गयी। बहुत दृढ़ता से और शांति से मैंने दर्द को सहन कर लिया। आँखों में आँसू तक नहीं थे। मुझे विश्वास है कि ध्यान के कारण ही मुझे यह सहन करने की शक्ति प्राप्त हुई थी। मुझे डॉक्टर के पास ले जाया गया, जहाँ पर मुझे प्रथमोपचार दिया गया।

दूसरे दिन बम्बई के एक नर्सिंग होम में मेरा ऑपरेशन किया गया। डॉक्टर ने बताया कि गोली फेफड़े के बिल्कुल पास से गुज़र गयी थी। ऑपरेशन के करीब आधे घण्टे पहले मैं ध्यान में चला गया। फिर लंगोटीवाले ने प्रकट होकर मुझे एक अत्यंत महत्त्व की सूचना दे दी जो मैंने उसी समय कागज़ पर लिखकर रख दी। साथ ही उन्होंने यह बात किसी को भी कहने की मनाही की। बाद में जब मैं आश्रम गया तब बाबाजी को मैंने वह कागज़ दे दिया।

ऑपरेशन के बाद तन्द्री में ही मैंने अपने मातापिता को कहा कि बाबाजी और वह 'लंगोटीवाला' ऑपरेशन के समय वहाँ उपस्थित थे जिससे मुझे बड़ा सुख-समाधान प्राप्त हुआ। मुझे छाती में बड़ा दर्द होता था, पर भगवान नित्यानन्द के फोटो की ओर देखने से मैं ध्यान में चला जाता। उस समय मैंने देखा कि 'लंगोटी-वाला' मेरे घाव पर हाथ फिरा रहे हैं जिससे मेरा दर्द शांत हुआ।

टाँके निकाल देने के बाद मैं गणेशपुरी गया। बाबाजी ने प्रेम से पूछताछ की। लंगोटीवाले के बारे में भी उन्होंने मुझ से पूछा और एक पुस्तक[1] पढ़ने के लिये दे दी जिसमें केदार नाम के एक बालक के कुछ ऐसे ही सच्चे अनुभव लिखे हुए थे।

ध्यान के समय मैं किसी अन्य दुनिया में चला जाता हूँ। उस समय मैं एक दिव्य सुख का अनुभव करता हूँ। मैं मानता हूँ कि यह सुख, यह शांति, यह प्रसाद मुझे अपने सद्गुरु द्वारा प्राप्त हुई एक अपूर्व भेंट है। उन्होंने ही मुझे एक बड़े संकट से बचाया था। सब उन्हीं की कृपा है।

सद्गुरुसारिखा असता पाठीराखा
इतरांचा लेखा कोण करी !

सद्गुरु जब तारणहार हैं, दूसरों की कौन फिकिर करे !

---

१. महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज लिखित 'साधुदर्शन व सत्प्रसंग'

२

कुछ चुने हुए अभंग

ज्ञानेश्वर आदि संतपुरुषों के जो अभंग इस ग्रन्थ के विषय का प्रतिपादन करते हैं, उनमें से कुछ यहाँ उद्‌धृत किये जा रहे हैं। कुछ अभंग ग्रन्थ में यथाप्रसंग आ गये हैं।

आकाशाचा शेंडा कमळ निराळें। त्यासी चार दळें शोभताती ॥ १ ॥
औट हात एक अंगुष्ठ दुसरें। पर्वार्ध मसुरें प्रमाण हें ॥ २ ॥
रक्त श्वेत शाम निळवर्ण आहे। पीत केशर हे माजीं तेथें ॥ ३ ॥
तयाचा मकरंद स्वरूप तें शुद्ध। ब्रह्मादिका बोध हाची झाला ॥ ४ ॥
ज्ञानदेव म्हणे निवृत्ती प्रसादें। निजरूप गोविंदें जनीं पाहतां ॥ ५ ॥

ब्रह्मांडाचे भुवनीं कमळ तें सुंदर। पाकोळ्या साचार चार तेथें ॥ १ ॥
औट हात स्थूळ अंगुष्ठ सूक्ष्म। पर्वार्ध कारण जाण रया ॥ २ ॥
महाकारण मसुरामात्र सदोदित। ब्रह्मरंध्र साद्यंत वसतसे ॥ ३ ॥
चहूं शून्यवर्ण देह चार पहा। कृष्ण नीळ शोभा विकासली ॥ ४ ॥
ज्ञानदेव म्हणे आतां फार म्हणों काय। सहस्रदळीं निश्चय आत्मा असे ॥ ५ ॥

सहस्रदळ ब्रह्मरंध्र ज्याचें घर। सत्रावी निरंतर वसे तेथें ॥ १ ॥
रक्त शुभ्रवर्ण नीळ पीत दिसे। दृष्टि शुद्ध असे तयामध्यें ॥ २ ॥
फार किती सांगों सज्ञान तुम्ही जन। अर्थ हा समजोन मौन धरा ॥ ३ ॥
गुह्याचेंही गुह्य निवृत्तीनें दाविलें। मीच वाचा हो बोलें बोलतसें ॥ ४ ॥

रक्त श्वेत कृष्ण पीत प्रभा भिन्न। चिन्मय अंजन सुदलें डोळां ॥ १ ॥
तेणें अंजनगुणें दिव्यदृष्टि झाली। कल्पना निवाली द्वैताद्वैत ॥ २ ॥
देशकालवस्तुभेद मावळला। आत्मा निर्वाळला विश्वाकार ॥ ३ ॥
न झाला प्रपंच आहे परब्रह्म। अहं सोहं ब्रह्म आकळलें ॥ ४ ॥
तत्त्वमसि विद्या ब्रह्मानंद सांग। तेंचि झाला अंगें तुका आतां ॥ ५ ॥

डोळांची पाहा डोळां शून्याचा शेवट। नीळ बिंदू नीट लखलखीत ॥ १ ॥
विसावों आलें पातलें चैतन्य तेथें। पाहे पा निरुतें अनुभवें ॥ २ ॥
पार्वतीलागीं आदीनाथें दाविलें। ज्ञानदेवा फावलें निवृत्तिकृपा ॥ ३ ॥

शून्य शोधिलें नाहीं जेणें। काय विवरण केलें तेणें।
अज्ञानपणें फुगणें। गाढव जिणें पशूचें ॥ १ ॥
वर्णाकृति शून्याचार। हा नाहीं ज्या विचार।
न घडे न घडे साक्षात्कार। जाण सर्वथा तया नरा ॥ २ ॥
आधीं शून्याची शोधणी केली। मग सद्वस्तु प्राप्ति झाली।
अमृत वेळाची बोली। बोलतां नये ॥ ३ ॥
आधीं शून्य तें शुभ्रवर्ण। मध्यें श्वेत रचिलें जाण।
अर्धशून्य तें ताम्रवर्ण। प्रत्यक्ष जाण दिसतसे ॥ ४ ॥
महाशून्याचा वर्ण निळा। अव्यक्त तेजाचा ओतिला गोळा।
ग्रासुनी ठेला भूगोळा। योगी डोळां पाहती ॥ ५ ॥
ऐसें शून्याचें नाहीं ज्ञान। तंववरी अवघेंच अज्ञान।
जनीं अवघा जनार्दन। अज्ञान सज्ञान काय बोलूं ॥ ६ ॥
ब्रह्मज्ञानाची किल्ली। सांगितली एकेंच बोली।
निवृत्तिराजें बोलविली बोली। तेंची बोलीं बोलिलों ॥ ७ ॥

नयनांतील रूप जो हें देखे पुरुष। त्याचे चरणीं वास असे माझा ॥ १ ॥
नयनांतील ज्योती देखे गुह्यभावें। त्याचें स्वरूप भावें वंदावें गा ॥ २ ॥
ज्ञानदेव म्हणे नयनांतील शून्य। देखे तोचि धन्य भाग्यवंत ॥ ३ ॥

रक्तवर्ण स्थूळ श्वेत हे सूक्ष्म। कारण तें शाम ऐसें देखा ॥ १ ॥
निळावर्ण देह महाकारण साजिरा। ज्योतीचा मोहरा अलक्ष लक्ष्मी ॥ २ ॥
ज्ञानदेव म्हणे सर्व हें चैतन्य। मन हेंचि धन्य धन्याचेनी ॥ ३ ॥

तुर्येमध्यें माझा अखंड रहिवास। निवृत्ति म्हणे अविनाश तुर्या करी ॥ १ ॥
स्थुळदेह निमतां सूक्ष्म उरतां। कारणीं हारपतां कैसें झालें ॥ २ ॥
ज्ञानदेव म्हणे महाकारणीं नांदे। निवृत्तीनें आनंदें दाखविलें तें ॥ ३ ॥

निळावर्ण ब्रह्मरंध्र येक निकें। पहा माझे सखे भाविक हो ॥ १ ॥
उन्मनि सदैव वसे अक्षय पंथें। लाऊनियां चित्तें तया ठायीं ॥ २ ॥
ज्ञानदेव म्हणे यापरती खूण। नाहीं ऐसी आण वाहातसें ॥ ३ ॥

ऐसा योगीराज देखितां अवचट। उन्मनी लंपट रात्रंदिवस ॥ १ ॥
सत्रावीची शिव टाकुनी राहिला। पाहण्यातीत झाला सर्वां ठायीं ॥ २ ॥
असिपदी आनंद प्रियरूप जाण। ध्यानाचे कारण जेथे नाहीं ॥ ३ ॥
ज्ञानदेव म्हणे ऐसा योगीराणा। तयाचीया चरणा प्रणिपात ॥ ४ ॥

तिळा एवढें बांधूनि घर। आंत राहे विश्वंभर ॥ १ ॥
तिळा इतुके बिंदुले। तेणें त्रिभुवन कोंदाटले ॥ २ ॥
हरिहराच्यामूर्ती। बिंदुल्यांत येती जाती ॥ ३ ॥
तुका म्हणे हे बिंदुले। तेणें त्रिभुवन कोंदाटले ॥ ४ ॥

शास्त्रार्थाची वाणी निरंजनीं दिसे। औटपिठीं वसे निर्विकार ॥ १ ॥
अहं सोहं मग ॐ काराचे देठीं। अहंतेचे शेवटीं सोहं वस्तू ॥ २ ॥
सोहं वस्तू निळी अहं गेलिया। आनंद झालिया महाकारणीं ॥ ३ ॥
ज्ञानदेव म्हणे निवृत्तीची आण। या वेगळी खूण आणिक नाहीं ॥ ४ ॥

मीच माझा डोळा मीच शून्यांत निळा। माझा मी वेगळा तयामध्यें ॥ १ ॥
उफराटी दृष्टि लावितां नयनीं। ते दृष्टीची वाणी किंचित् ऐका ॥ २ ॥
उफराटी दृष्टि देखे उन्मनीवरी। तेव्हां निर्विकारी मींच मग ॥ ३ ॥
ज्ञानदेव म्हणे देहां डोळा दिठी। पाहतां सर्व सृष्टि निवृत्ती एका ॥ ४ ॥

स्वामी मुक्तानन्द परमहंस (गुरुदेव सिद्धपीठ) गणेशपुरी, के अधिष्ठाता हैं। आप सिद्धयोग के महान प्रवर्तक हैं। शक्तिपात दीक्षा द्वारा साधक की आध्यात्मिक उन्नति में सहायभूत होना उनका जीवनव्रत है।

१६ मई १९०८ ई. वैशाख पूर्णिमा के दिन दक्षिण कर्नाटक के एक समृद्ध परिवार में आपका जन्म हुआ। पन्द्रह साल की छोटी उम्र में आपने घर छोड़ दिया और अठारह साल की उम्र में संन्यास लिया। अपनी परमार्थयात्रा के दौरान आप अनेक संत-महात्माओं से मिले तथा कई मठों में रहकर वेदान्त एवं अन्य दर्शनग्रन्थों का अभ्यास करते रहे। किन्तु ईश्वर के विषय में पुस्तकों में लिखित परोक्ष ज्ञान से आप को सन्तोष प्राप्त नहीं हुआ; आप तो परम तत्त्व के साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। पुस्तकों में आपकी खोज का उत्तर नहीं था।

आखिर में सन् १९४७ में स्वामीजी गणेशपुरी में भगवान नित्यानन्द से मिले। यहाँ आप को परम समाधान मिला। शक्तिपात-दीक्षा के रूप में भगवान नित्यानन्द की कृपा स्वामीजी ने प्राप्त की। तदनन्तर नौ साल की तीव्र तपस्या और साधना से स्वामीजी ने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति की। सन् १९५६ में श्रीगुरुदेव की आज्ञानुसार आपने गणेशपुरी में निवास किया। १९६१ में भगवान नित्यानन्द के समाधि लेने के बाद आश्रम बढ़ता ही गया। १९७० में स्वामीजी की प्रथम विदेश-यात्रा हुई। तदुपरान्त १९७४ में आप दुबारा विश्वयात्रा पर निकले। अपनी ढाई वर्ष की इस यात्रा के दौरान आपने कई देशों का भ्रमण किया और जगह जगह आयोजित इंटेंसिव-ध्यानशिबिरों एवं प्रत्यक्ष मुलाकातों में हज़ारों लोगों को शक्तिपात दीक्षा दी। फलस्वरूप, कई पाश्चात्य विद्वान लोग, जो सामान्यतः गुरुओं के बारे में सतर्क रहा करते हैं, स्वामीजी के प्रति आकर्षित हुए। १८ अगस्त १९७८ से स्वामीजी तीसरी विश्वयात्रा पर हैं।

स्वामी मुक्तानन्द परमहंस के जीवन का लक्ष्य मनुष्य को उसके भीतर विद्यमान परमतत्त्व का साक्षात्कार कराना है। उनके मतानुसार इस परम तत्त्व के साक्षात्कार के लिये गुरुकृपा अथवा 'शक्तिपात' सुलभ साधन है जिसका निरूपण स्वामीजी ने इस ग्रन्थ में किया है। आप शुद्ध अध्यात्म के रूप में ही धर्म का उपदेश करते हैं, इसलिये सभी धर्मों, मतों, जाति-सम्प्रदायों के लोग आपके प्रति आकर्षित होते हैं। आपका सन्देश है : 'आपको ध्याओ, आपको पूजो, आपको वन्दो, आप में ही आपका राम आप होकर रहता है।'